आदर्श-योगी

श्री श्री योगीराज गम्भीरनाथ

श्री गोरक्षनाथ मन्दिर

गोरखपुर

70=00

आदर्श — योगी

श्री श्री योगिराज श्यामाचरण लाहिड़ी

लेखक

श्री अशोक कुमार चट्टोपाध्याय

अनुवादक

आचार्य श्री रघुनाथ शुक्ल

प्रकाशक

दिग्विजयनाथ ट्रस्ट

[illegible] [illegible]

गोरखपुर

आदर्श—योगी

श्री श्री योगिराज गम्भीरनाथचरितामृत

लेखक
श्री अक्षय कुमार वन्द्योपाध्याय

●

अनुलेखक
अध्यापक श्री रघुनाथ शुक्ल

प्रकाशक
दिग्विजयनाथ ट्रष्ट
गोरखनाथ मन्दिर
गोरखपुर

प्राप्ति स्थान :—

महन्त अवेद्यनाथ

मन्त्री, महन्त दिग्विजयनाथ ट्रष्ट

गोरक्षनाथ मन्दिर

गोरखपुर

•

सर्व स्वत्व संरक्षित

•

ट्रष्ट प्रकाशन माला

पुष्प ८

मूल्य : 40/– रूपये

मुद्रक :
दी इउरेका प्रिंटिंग वर्क्स
गीताप्रेस रोड, गोरखपुर
वर्क्स : मेडिकल रोड, गोरखपुर
☎ : 2280979, 2335310, 2282309 मोबाईल : 3104883

शुभ संस्तुति

"आदर्शयोगी" श्रीदिग्विजयनाथ ट्रस्ट, गोरखनाथ–मन्दिर, गोरखपुर के तत्वावधान में प्रकाशित होनेवाला ट्रस्ट प्रकाशन–माला का आठवां पुष्प है। श्रीनाथ सम्प्रदाय का ही नहीं, समस्त अध्यात्म जगत् को यह श्री योगिराज गम्भीरनाथ के सद्शिष्य प्रख्यात् दार्शनिक महापति अक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय महोदय की अद्भुत देन है और अपने आप में यह एक मौलिक महनीय कृति है, जिसमें भगवान् शिवगोरक्ष महायोगेश्वर गोरखनाथ की यौगिक परम्परा के प्राणवान् प्रतीक योगिराज गम्भीरनाथ के जीवन–चरितामृत और विचारों का बड़ा मार्मिक चित्रण उपलब्ध होता है। वन्द्योपाध्याय महोदय के चरणानुवर्ती प्राध्यापक श्री रघुनाथ शुक्ल की लेखनी से इनके अत्यन्त प्रांजल्य हिन्दी रूपान्तर ने ग्रन्थ की महनीयता में विशेष अभिवृद्धि की है। 'आदर्शयोगी' योगिराज गम्भीरनाथ का जीवन–दर्शन है।

'आदर्शयोगी' का प्रकाशन सम्वत् 2017 वि० से ही योगसाधकों, आध्यात्मिक चिन्तकों और विद्वानों तथा सहृदय पाठकों का प्रेरणास्रोत बनता आ रहा है। यह इस पुस्तक की गरिमा का परिचायक है। इसमें नाथ–सम्प्रदाय की योगसाधना पद्धति के सम्बन्ध में श्रीयोगिराज गम्भीरनाथ के दृष्टिकोण का सफल प्रतिपादन किया गया है, जिसके मनन और पठन–पाठन से निस्सन्देह योग–दर्शन के यथार्थवादी स्वरूप में पाठकों की स्वाभाविक सहज निष्ठा और श्रद्धा की श्रीवृद्धि स्वतः सिद्ध है। इस नवीन संस्करण के द्वारा अधिकाधिक संख्या में हमारे योगसाधक और सहृदय पाठक लाभान्वित होंगे, यह हमारा सुदृढ़ विश्वास है।

योगिराज गम्भीरनाथ के पवित्र चरितामृत के रसास्वादन और भगवान् गोरक्षनाथ की परम विभूति से जगत् आध्यात्मिक श्रेय से सम्पन्न हो, यह हमारी हार्दिक कामना है।

महन्त अवेद्यनाथ
गोरक्षपीठाधीश्वर
मंत्री
श्री दिग्विजयनाथ ट्रस्ट, गोरखनाथ–मंदिर
गोरखपुर

विषय सूची

क्र.सं.	विषय	पृ०-सं०
1.	भूमिका—महायोगी, महाज्ञानी, महाभक्त तथा	अ–ई
	महात्यागियों का अवदान	क–ट
	2. अनुलेखक का निवेदन	ठ–द
	3. श्रीश्रीयोगिराज गम्भीरनाथो जयति	ध–न
	4. श्रीश्रीगमीरनाथाष्टकम्	प–फ
	5. श्रीश्रीयोगिराज गम्भीरनाथस्तोत्रम्	ब–म
	6. श्रीश्रीगम्भीरनाथ प्रणतिः	
	7. श्रीश्रीगम्भीरनाथजी की आरती	य
	8. श्रीश्रीयोगिराज अरात्रिक्रम्	र–ल
1.	प्रथम अध्याय—शिवावतार गोरक्षनाथ	1–19
2.	द्वितीय अध्याय—गोरक्षनाथ मन्दिर में तरुण योगार्थी	20–36
3.	तृतीय अध्याय—योगदीक्षा	37–60
4.	चतुर्थ अध्याय—काशी और झूंसी में योगसाधना	61–69
5.	पंचम अध्याय—अनिकेत योगी	70–78
6.	षष्ट अध्याय—कपिलधारा में अंतरंग योगसाधना	79–95
7.	सप्तम अध्याय—महासिद्धि	96–115
8.	अष्टम अध्याय—ऐश्वर्य और माधुर्य	116–130
9.	नवम अध्याय—ब्राह्मी स्थिति का आदर्श	131–143
10.	दशम अध्याय—साधनोपरान्त सहज जीवन	144–160
11.	एकादश अध्याय—तीर्थ पर्यटन	161–171
12.	द्वादश अध्याय—गोरखपुर में मठाध्यक्ष	172–187
13.	त्रयोदश अध्याय—जीवन्मुक्त का आश्रम परिचालन	188–199
14.	चतुर्दश अध्याय—शिष्य समागम	200–219
15.	पन्चदश अध्याय—कलकत्ते में एकमास	220–243
16.	षोडश अध्याय—हरिद्वार के कुम्भ मेले में..........	244–252
17..	सप्तदश अध्याय—व्यावहारिक जीवन का अवसान	253–264
18.	अष्टादश अध्याय—भक्त वात्सल्य और जीव प्रेम स्नेह......	265–293

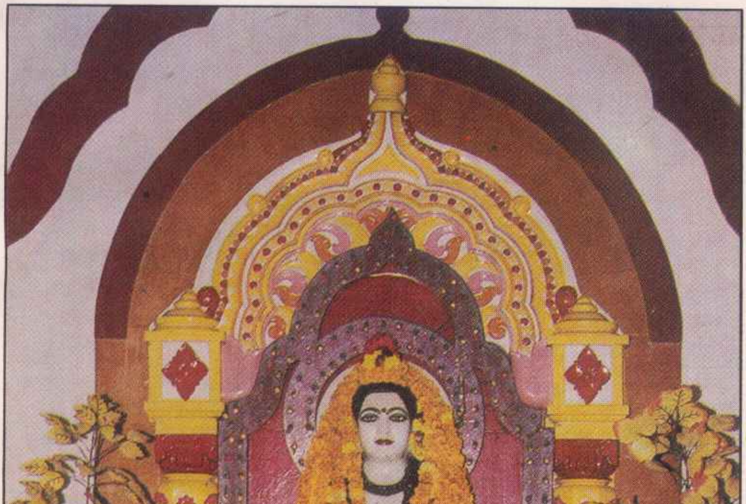

महायोगी श्री गुरु गोरक्षनाथ जी महराज

भूमिका

महन्त श्री दिग्विजयनाथ लिखित

महायोगीः महाज्ञानी, महाभक्त तथा महात्यागियों का अवदान

भारतीय महाज्ञानी महाभक्त महायोगी महापुरुषों ओर महानारियों का जीवनवृत्त ही है भारत का यथार्थ इतिहास। उन्होने ही भारत को भारत बनाया है और विश्वजगत् के अन्दर भारत को एक अनन्यसाधारण गौरवोज्ज्वल आसन पर प्रतिष्ठित किया है। वे ही हैं भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता के जनक और पोषक, भारतीय भावधारा, विचार धारा तथा कर्मधारा के चिरन्तन उद्‌गमस्थल और नियामक और भारतीय जीवन साधना के अभ्रात पथप्रदर्शक तथा जीते जागते आदर्श। इस देश के कितने ही नगर और ग्राम, नदी तट और पर्वत गुफा, वन और श्मशान उनकी तपस्या के प्रभाव से पवित्र तीर्थस्थान बन गये। उन्होंने युद्धक्षेत्र को धर्मक्षेत्र बनाया, मानव भूमि को देव भूमि बना दिया, मानवीय जीवन संग्राम के विकट क्षेत्रों को भागवती रसलीला के आनन्दधाम में परिणित कर दिया। उन्होंने अशेषवैषम्यसमाकुल, हिंसाद्वेषजर्गरित, दुखःतापसंतप्त मानव जाति के सम्मुख साम्य, ऐक्य, अहिंसा, प्रेम, शान्ति और आनन्द की उदार वाणी का प्रचार किया। उन्हीं के प्रभाव से अति प्राचीन काल से भारतीय जनता के स्वभाव में एक सुदृढ़ आध यात्मिक दृष्टिकोण गठित हुआ।

स्मरणातीत काल से आज तक कोई भी ऐसा युग न था, जबकि भारत भूमि पर अलोक सामान्य अध्यात्ममाहिममण्डित महा--मानवों का अभाव रहा हो। भगवान् का यह एक विस्मयकर विधान है, कि जिस युग में पृथ्वी पर आसुरिक शक्तियाँ बहुत प्रबल हो जाती हैं, धर्म की ग्लानि और अधर्म का अभ्युत्थान होने लगता

है, मानव–समाज के असाधारण ज्ञानवीर्य सम्पन्न व्यक्तिगण भी धर्म और मोक्ष को छोड़कर अर्थ और काम की सेवा में प्रवृत्त हो जाते हैं, और समाज जीवन के ऊपर अपना अकल्याणकारी प्रभाव डालने लगते हैं, उसी युग में ही भारत भूमि पर अधिक से अधिक संख्या में अर्थकामत्यागी धर्ममोक्षपरायण ब्रह्मभावभावित योगैश्वर्यसम्पन्न महात्माओं का आविर्भाव होता है।

विभिन्न युगों में भारतवर्ष के ऊपर अनेकों विजातीय आक्रमण हुये हैं, कितने ही राष्ट्रविप्लव हुये हैं, बहुत से प्राकृतिक, सामाजिक तथा आर्थनीतिक विपर्यय हुये हैं; भारतवर्ष के कितने ही भाग प्रायः विभिन्न राष्ट्रीयशक्तियों की अधीनता श्रृखल में आबद्ध रहे हैं, परन्तु समग्र भारतीय जनता प्राचीन काल से लेकर सभी युगों में एक ही आध्यात्मिक आदर्श द्वारा अनुप्राणित होकर फूलती–फलती रही है। इसीलिये भारतीय संस्कृति और सभ्यता में कभी आत्यन्तिक भेद और विश्रृंखला नहीं होने पाई। इसका मूल कारण है सभी युगों में महात्यागी, महाज्ञानी, महाप्रेमी महा–योगियों का आविर्भाव और उनकी शान्त शीतल तधापि अप्रतिहत आध्यात्मिक प्रभाव। उनके अचिन्य प्रभाव से ही अखण्ड भारत की सांस्कृतिक अखण्डता कभी बिनष्ट होने नहीं पाई।

साधन वैचित्र्य में लक्ष्य की एकता

प्राचीन काल से आधुनिक काल तक जितने आलोक सामान्य सन्त महात्मा भारतभूमि पर अविर्भूत होकर भारतीय आकाश, वायु जल स्थल को, तथा भारतीय जनता के मनोराज्य को अध्यात्ममहिमामण्डित किये हैं, उनमें साधन–साधना पद्धति की दृष्टि से बहुत थे ज्ञान पंथी बहुत– भक्ति पंथी या योग पंथी अथवा कर्मयोगी, उपासना की दृष्टि से बहुत थे। शिवजी के उपासक, बहुत थे महाशक्ति के और, बहुत थे, विष्णु कृष्ण या राम के उपासक, कोई कोई और भी विभिन्न नामों तथा रूपों का आलम्बन करके एक ही परम चैतन्य की

उपासना में प्रवृत्त हुय; कोई साकार प्रेमी थे कोई निराकार प्रेमी; कोई निर्गुण बह्म के ध्यान में डूबे तो कोइ सगुण भगवान् के पूजन में आनन्दमग्न हुये। उनके आध्यात्मिक साधनमार्गों में ऐसी विचित्रता प्रतीयमान होती है। उनकी दार्शनिक विचार धाराएं भी पृथक्–पृथक् देखी जाती हैं।

साधन मार्गों में यह वैचित्र्य भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति का एक विशेष गौरव है। मार्ग बहुत है, परन्तु परम लक्ष्य एकही है। साधन पद्धतियों के विचित्र रूप हैं, परन्तु चरम सिद्धि का स्वरूप एक ही है। सभी साधक अपनी अपनी साम्प्रदायिक धारा का अनुवर्तन करते हुए ऐकान्तिक निष्ठा और एकाग्रता के साथ साधन करते–करते अन्त में– अर्थात् चरम सिद्धि की अवस्था में– एकही दिव्यानुभूति की प्राप्ति करते हैं, एकही अत्रिवर्चनीय परम कल्याणमय परमानन्दमय परमासत्यमय अखण्ड चैतन्यमय सर्वतत्वातीत परमतत्व में सुप्रतिष्ठित होते हैं। साधना में साम्प्रदायिकता है, परमसिद्धि में कोई साम्प्रदायिकता नहीं है। सभी सन्त महापुरुष चरमतत्वानुभूति की अवस्था में साम्प्रदायिकता के उर्ध्व एक अभेद भूमि पर विहार करते हैं और संसार के सभी श्रेणियों के नर–नारियों के सामने अभेद का ही आदर्श दिखलाते हैं।

सत्संग के प्रभाव से मनुष्यत्व की सार्थकता

महापुरुषों की जीवन धारा का दर्शन करके और उनकी उपदेश वाणी का श्रवण करके साधारण जनता के मन में भी ऐसा सुदृढ़ संस्कार पैदा होता है कि, भोग से त्याग श्रेष्ठ है, काम से निष्कामता श्रेष्ठ है, क्रोध से प्रेम श्रेष्ठ है, विरोध से मिलन श्रेष्ठ है, हिन्सा से अहिंसा श्रेष्ठ है, ऐहिक अभ्यदय से आत्मिक कल्याण श्रेष्ठ है, जड़ पदार्थो की अपेक्षा चित्स्वरूप आत्मा श्रेष्ठ है, विश्व प्रपंच की अपेक्षा विश्वप्रपंच का मूलतत्व परमात्मा परमेश्वर श्रेष्ठ है। इसी प्रकार यह भी दिखलाई पड़ने लगता है कि, विश्वप्रपंच से सब

कुछ अनित्य है, अपनी देह भी अनित्य है, सब सम्बन्ध भी अनित्य है, एक मात्र परमात्मा ही नित्य है, परमात्मा के साथ सम्बन्ध ही नित्य सम्बन्ध हैं, परमात्मा का ध्यान चिन्तन आराधना ही मानव जीवन का मुख्य कर्म है, सांसारिक सभी वस्तुओं के प्रति आसक्ति छोड़कर आध्यात्मिक साद्व्ना, भजन में देहेन्द्रियमन बुद्धि को लगा देना ही मनुष्य जीवन को सम्पूर्ण रूप से दुःखमुक्त ओर शान्तिमय बनाने का श्रेष्ठ उपाय है।

सनातन धर्म का 'वास्तविक स्वरूप

किसी साम्प्रदायिक साधन प्रणाली अथवा दार्शनिक विचार धारा में दूसरी कोई विशेषता चाहे जैसी भी हो, परन्तु सभी मार्गों में समान रूप से श्रद्धा और वीर्य त्याग और तितिक्षा, विवेक और वेराग्य, यम और नियम, धारण और ध्यान, निष्ठा और भक्ति, स्थिरता और दृढता, प्रेम मैत्री करुणा और उपेक्षा साधना के अत्यावश्यक अंग माने गये है। गीता के त्रयोदश अध्याय में भगवान् ने तत्व ज्ञान की साधना के लिये अमानित्वाधि जितने गुण अत्यावश्यक बतलाये हैं, तथा षोडश अध्याय में अभय आदि दैवी सम्पत्तियों के जितने लक्षणों का वर्णन किया है।, वे सभी साम्प्रदायिक साधन मार्गों में सिद्वि के लिए समान रूप से आवश्यक है। ये सभी सनातन धर्म के लक्षण है। वेद, उपनिषद्, मनु सहिता, महाभारत, रामायण, स्मृति, पुराण आदि सभी शास्त्रों में इस सनातन धर्म की ही विचित्र भाषा में विचित्र प्रकार की विशद व्याख्या है। इसी का नाम है भारतीय संस्कृति, इस सर्वभारतीय सर्वमानवीय सनातन धर्म का ही प्रचलित नाम है हिन्दू धर्म। हिन्दू धर्म एक विशेष सम्प्रदायिक मतवादमूलक धर्म नहीं है। भारत के प्राचीन अथवा आधुनिक सभी सम्प्रदायिक धर्मो में अनुस्यूत, सभी सम्प्रदायों के बीच में एकता स्थापित करने वाला तथा उनकी नसों में प्राणशक्ति का संचार करने वाला, जो सनातन मानव धर्म है, अर्थातमनुष्य मात्र में जो

विकाशशील दिव्य मानवता है, उसी का नाम है हिन्दू धर्म। भारत के सभी सम्प्रदायें के लोकोत्तर महापुरुषों ने स्वयं सिद्धि प्राप्त करके भारतीय जनता के समक्ष सर्वमानवीय असाम्प्रदायिक सनातन हिन्दू धर्म के ही महान् आदर्श का सभी युगों में प्रचार किया है।

हिन्दू साधना का लक्ष्य

विश्वप्रपंच में परिदृश्यमान असंख्य प्रकार के भेद वैषम्य और संघर्ष के अन्दर पारमार्थिक दृष्टि से अभेद साम्य और एकत्व की प्राप्ति कर लेना, अनेकों विकारी अर्थात परिर्वनशील जड़ पदार्थो के भीतर एक निर्विकार चेतन सत्ता की उपलब्धि कर लेना, सब मनुष्यों तथा सभी जीवों में एक 'सत्यं ज्ञानमनन्तम' 'शान्तं' 'शिवमद्वैतम्' परमात्मा का दर्शन करना, सभी जागतिक द्वन्द्वमयी घटनाओं में एक सर्वद्वन्द्वातीत परमानन्दमय सत्य शिव सुन्दर के ही विचित्र लीला विलासों का अस्वादन करना– यही है हिन्दू साधना का एक मूल मंत्र। भेद बुद्वि से मुक्ति और अभेद ज्ञान की प्रतिष्ठा– यही है हिन्दू जीवन का आदर्श जब तक भेद बुद्वि है, तभी तक वासना कामना है तभी तक अहंकार और ममता है, तभी तक हिंसा घृणा भय और विरोध है, तभी तक संसार–बंधन और अशान्ति हैं भेदज्ञान से मुक्त होकर अभेद ज्ञान में अर्थात समदृष्टि में–समरसास्वादन में–सुप्रतिष्ठित हो जाने से ही सब प्रकार के दुःख ताप और अशान्ति से मुक्ति मिल जाती है। जागतिक धन दौलत से और राज्य सम्राज्य से तथा लौकिक ज्ञान और शक्ति के प्रसार से, परा शान्ति नहीं मिलती, दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती। प्रत्येक युग में भारत भूमि पर सर्वबन्धन मुक्त महाज्ञानी महाप्रेमी महायोगी महात्मागणों ने इस अभेद–दर्शन के महान आदर्श का ही जनता में प्रचार किया ।

उपास्य के बहुत्व में भी लक्ष्य का एकत्व

वेद पुराण तंत्र आदि शास्त्रों में बहुसंख्यक देवताओं के नाम

रूप और लीलाविलासों का वर्णन है। इन सब देवताओं की विविध। विधानों से उपासना करने का नियम भी है। हिन्दू जाति के नर–नारी मात्र शास्त्रीय विधियों का अनुवर्तन करते हुये सभी देवताओं की पूजा अर्चना करते है। परन्तु साथ–ही–साथ सभी शास्त्रों में इस परम सत्य का भी उपदेश दिया गया है कि, सब देवता नाम रूप उपाधि और लीलाविलास में चाहे जितने ही भिन्न हों, तात्विक दृष्टि से सभी देवता एक ही, है। उनमें काई भेद बुद्वि रखना उचित नहीं है। एक ही परम देवता सच्चिदानन्दघन परमात्मा विभिन्न नामें से अभिहित होता है।, वही विभिन्न उपाधियों से विभूषित होकर विभिन्न मूर्तियों में प्रकट होता है और विभिन्न प्रकार के लीलाविलास करता है। ये सभी देवता वर्हिर्दृष्टि में पृथक–पृथक प्रतीयमान होते है।, परन्तु अन्तर्दृष्टि में सभी एक अद्वय ब्रह्मस्वरूप ही प्रतिभात होते है। अन्तर में तात्विक दृष्टि रखकर ही बाहर शास्त्रीय विधानों के अनुसार पूजार्चना करना उचित हैं एसे तत्वज्ञान के साथ भक्ति साधना ही मोक्ष के अनुकूल होती है। महापुरुषगण ऐसी ही शिक्षा देते है। विविध नामों में विचित्र मूर्तियों में, एक अद्वय परमत्व की उपासना, हिन्दुओं के अध्यात्म साधना का भूषण है, दूषण नहीं। विचित्रता के भीतर एकता के, द्वैत के भीतर अद्वैत के, खण्डता के भीतर अखण्डता के, सीमा के भीतर असीमा के, जड़के भीतर चैतन्य के, सगुण सोपाधिक के भीतर निर्गुण विरूपाधिक के, दर्शन और अनुभव के लिये, तथा सब प्रकार की भेद बुद्वि के मुक्त होने के लिये, हिन्दू साधक और सिद्ध महात्माओं का यह एक महान् अविष्कार है।

एक आदर्श योगी–योगिराज श्रीगम्भीरनाथ

ईशवीय सम्बत् की उन्नीसवीं शताब्दी में, पश्चिम की इहसर्वस्व सभ्यता के विश्वव्यापी प्रभाव के युग में जितने पूर्णप्रज्ञ महायोगियों ने, भारतभूमि पर प्रकट होकर, मोक्षपरायण सनातनधर्म

के समुज्वल आदर्श तथा मानवात्मा के नित्य सत्य चिदानन्दमय स्वरुप के सम्बन्ध में जनता के मन–बुद्धि हृदय को सचेत रक्खा है, योगिराज गम्भीरनाथ उनमें ही एक महाप्रभावशाली महापुरुष थे। वे ही महायोगीश्वर, शिवावतार गोरक्षनाथ के आध्यात्मिक वंशधर, और आधुनिक युग में नाथयोगिसम्प्रदाय के मुकुटमणि थे। गोरखपुर का गोरक्षनाथ मन्दिर ही है उनका गुरुधाम, उनकी महासमाधि का पुण्यक्षेत्र तथा उनकी सिद्धावस्था की लीलाभूमि। उनका पवित्र नाम सम्पूर्ण भारत में प्रसिद्ध है। गोरक्षनाथ मन्दिर को उनके अध्यात्मिक प्रभाव से नवजीवन प्राप्त हुआ है।

योगिराज के आदर्श योगिजीवन के सम्बन्ध में मै यहा अधिक नहीं कहना चाहता। सुदीर्घकाल तक नित्यनिरन्तर "तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्यया" सार्वागिंक योग सुनिविड़ अनुशीलन के कारण उनके देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और हृदय के प्राकृतिक धर्म विल्कुल बदल गये थे। ब्रह्मज्ञान ब्रह्मानन्दरसपान में विभोर रहना उनका स्वभाव बन गया था। जिस तरह पर्वत गुफा में, उसी प्रकार कर्मकोलाहल में, वे सर्वदा ही आत्म समाहित रहते थे। अणिमादि अष्टैश्वर्य उनके करतलगत हो गये थे, परन्तु व्यावहारिक जीवन में ऐश्वर्य का परिचय वे कभी नहीं देते थे। किसी–किसी सूक्ष्मदर्शी महांत्माओं ने कहा था कि, योगिराज को सृष्टि–स्थिति–प्रलय करने का सामर्थ्य प्राप्त था, परन्तु योगिराज का योगसिद्धि जीवन सभी शक्तियों और ऐश्वर्यो के माधुर्यमण्डितरूप में प्रकट हुआ था। उपनिषदों में ब्रह्मविद्वरिष्ट जीवन्मुक्त पुरुष का जैसा लक्षणवर्णित है।, गीता में स्वयं श्रीभगवन् ने स्थिरप्रज्ञ युक्तयोगी गुणातीत भक्तोत्म ब्रह्मभूत महापुरुष के लक्षणें का जैसा वर्णन किया है।, वे सभी लक्षण मानों मूर्तिमान होकर योगिराज गम्भीरनाथ के सिद्ध जीवन में प्रकट हो गये थे। वे नित्य निरन्तर आत्मसमाहित भाव में अपने आसन पर विराजमान रहते थे, तथापि उनका आधात्मिक प्रभाव बहुत दूर देश तक फैला रहता था।

योगिराज के शिष्य दर्शनाचार्य श्रीमान् अक्षय कुमार बन्द्योपाध्याय जी ने योगिराजजी के साधन जीवन तथा सिद्ध जीवन के सम्बन्ध में सूक्ष्म विचार के साथ यह ग्रन्थ लिखकर तत्वजिज्ञासु जन समाज का बहुत उपकार किया है। इसके अध्ययन से एक आदर्श योगी के लोकविलक्षण अन्तर्जीवन और बहिर्जीवन का एक सुन्दर आभास मिलेगा। सम्यक् परिचय तो साधन के बिना प्राप्त करना सम्भव नही।

इन असाधारण स्वल्पभाषी योगिराज जी का संक्षिप्त उपदेशामृत विशद व्याख्या के साथ 'योग–रहस्य' नाम से पहले ही प्रकाशित हो चुका है। स्थानीय डी०बी० कालेज के अध्यापक भक्तिमान श्री रघुनाथ शुक्ल जी ने दोनो ग्रन्थों का बंगला से हिन्दी में अनुवाद करके हिन्दी भाषा का तथा हिन्दीभाषी धर्मजिज्ञासुओं का महान उपकार किया है। उनके प्रति मेरा आन्तरिक आशीर्वाद है।

योगिराज की छत्र छाया में मेरा जीवन

अन्त में मै अपने एक असीम सौभाग्य की बात कहूँगा। योंगिराज गम्भीरनाथ जी थे मेरे परम गुरु अर्थात मेरे गुरु महाराज के गुरु। मेरे जीवन विकास के प्रारम्भ में ही मुझे योगिराज जी के अभय श्रीचरणों में निरापद आश्रम मिला था और, उनके अहैतुक स्नेह तथा अरूणाधारा से अभिषिक्त होकर ही मेरा कैशोर जीवन पल्लवित हुआ था। मै कैसे और कहा से गोरखपुर आया था और किस प्रकार गोरक्षनाथ मन्दिर में मुझे एक-आलोकसाभाग्य महायोगी के चरणेपान्त में अभय आश्रय मिला था, इन बातों का यहाँ पर संक्षेप में वर्णन कर देना आप्रासंगिक न होगा। इस विषय में जो प्रवाद प्रचलित हो गया था अथवा जान बूझ कर फैलाया गया था, उसका यथाशक्ति शोधन कर देना भी में आवश्यक समझता हूँ।

मेरा जन्म उदयपुर के राजकुल में हुआ था। मेरे वाल्यकाल

में अल्पकाल के भीतर ही मेरे माता पिता दोनों का ही देहान्त हो गया। तबसे मेरे पितृव्य ही मेरा पालन पोषण करने लगे। राजकुल के सभी लोगों को राणावत अर्थात जागीरें मिलती है। मेरे पिता को भी प्राप्त थी। मेरे पितव्य समझते थे कि बड़ा होने पर यह राणावत का हिस्सेदार होगा। अतएव सम्पूर्ण राणावत हड़पने के उद्देश्य से वे मुझे हटाकर अपना रास्ता साफ कर लेने का उपाय सोचा करते थे वहीं पर निकट ही नाथ सम्प्रदाय के प्रसिद्ध योगी बाबा फूलनाथ जी साधना कर रहे थे। मेरे पितृत्व उनके पास आते जाते थे और अन्त में उन्ही को अपनी उद्देश्य सिद्धि का यन्त्र बनाने का निश्चय किये। एक दिन उन्होंने बाबा फूलनाथ से कहा, मैंने अपने प्रथम संतान को श्री गोरखनाथ जी के चरणो में अर्पण कर देने का व्रत किया था। सो आप कृपा करके उसकी पूर्ति करवा दें, अर्थात मेरी तरफ से बालक को ले जाकर गोरखपुर के नाथ मन्दिर में अपर्ण कर दे" उस समय उदयपुर के राजसिंहासन पर आसीन थे महाराणा फतेह सिंह और उनके पुत्र थे कुमार भूपाल सिंह। दुर्भाग्यवश राजकुमार भूपाल सिंह हाथ पैर से लुन्ज थे। अतएव अंगवैगुण्य के कारण उन्हें गद्दी पर बैठना अनुचित समझा जाता था और राजकुल के किसी बालक को चुनने की बात चल रही थी। इस प्रकार राज्यसिंहासन के लिये मेरे चुने जाने की सम्भावना भी थी।

अस्तु एक दिन मै बाबा फुलनाथ जी के हाथ में सौप दिया गया। वे मुझे लेकर उदयपुर से यात्रा करके गोरखपुर के गोरक्षनाथ मन्दिर में आकर उपस्थित हुये। उस समय मन्दिर में महन्त थे उन्ही के गुरु भाई बाबा सुन्दर नाथ। मन्दिर में आकर मै भी बाबा फूलनाथ जी के ही साथ रहने लगा और क्रमशः बाबा गम्भीर नाथ के आश्रम में रहने का सौभाग्य प्राप्त किया। योगिराज की कृपा दृष्टि से उनके प्रमुख शिष्य बाबा ब्रह्मनाथ जी ने मुझे शिष्य रूप में ग्रहण करके अपनी हार्दिक दया और स्नेह के साथ मेरे लालन

पालन का भार ग्रहण कर लिया। मेरे परम गुरू की ही प्रेरणा से मुझे अंग्रेजी पढ़ाने का प्रबन्ध किया गया और 'तदनुसार स्थानीय गोरखपुर हाई स्कूल (वर्तमान महात्मा गाँधी इण्टर कालेज) में मेरी शिक्षा होने लगी। उस समय इस बात की कल्पना भी कौन करता था कि भविष्य में किसी दिन गोरक्षनाथ प्रतिष्ठित इस सुप्रसिद्व आश्रम के महन्त के गौरवपूर्ण आसन पर बैठने का सौभाग्य मुझे प्राप्त होगा। और श्रीनाथजी की सेवा में मेरा जीवन चरितार्थ होगा।

हिन्दू धर्म की सेवा मेरा सहज स्वभाव है

मेरे जीवन के आरम्भ से ही मेरे ऊपर जो मेरे परमगुरु की कृपा की दृष्टि हुई है, उसका यहॉ पर किंचित परिचय दे देना आवश्यक है। बाल्यकाल से ही मुझे हिन्दू धर्म पर बड़ी आस्था थी। जिस समय मै आठवीं कक्षा में पढ़ता था, एक स्थानीय शिव मंदिर के उपर झगड़ा हो गया जिसमें मैने प्रमुख भाग लिया था। बात यह थी कि आधुनिक टेक्निकल स्कूल के पास की भूमि उन दिनों रेलवे कर्मचारियों के निवास बनाने के लिए अधिकृत की जा रही थी। वहीं पर एक लोहार का छोटा सा शिव मन्दिर था जो प्रार्यः सार्वजनिक सा हो गया था। जब उसका गिराना आरम्भ हुआ मुझे खबर मिली। तत्काल हम विद्यार्थीयों की एक बहुत बड़ी संख्या दौड़ पड़ी और हम लोगों ने रेलवे के चीफ इन्जिनियर श्रीममी साहेब के बंगले को जाकर घेर लिया। हम लोगों के साथ आनरेवल श्री नरसिंह प्रसाद एडवोकेट भी गये थे। ममी साहेब केवल पॉच प्रतिनिधियों से मिलने को तैयार हो गये उनसे समझौता हुआ और मन्दिर का गिरवाना रोक दिया गया। परन्तु दूसरे दिन सब स्कूलों से विद्यर्थियों को बुलवाकर परेड करवाया गया और विद्यार्थियों के साथ मै तथा स्थानीय रईस बाबू पुरुषोत्तमदास पकड़े गये और हवालात में बन्द कर दिये गये। परन्तु सरकार के ऊपर ऐसा प्रभाव डाला गया कि हम लोग शीघ्र ही छोड़ दिये गये। यह उनकी कृपा का ही

प्रभाव था।

इसी प्रकार जिस समय मैं नवीं कक्षा में पढ़ता था गोरक्षनाथ मन्दिर के अहाते में ईसाई मतके प्रचारक अपना कैम्प लगाकर प्रचार कार्य करते थे। वे लोग कई वर्षो से यह कार्य करते आ रहे थे। में इस बात को सहन न कर सका कि हिन्दू मन्दिर के प्रांगण में हिन्दू धर्म के ही विरूद्व प्रचार किया जाय। मैंने पर्याप्त विद्यार्थियो का एक दल लेकर उन लोगों पर आक्रमण किया, उनका कैम्प उखाड़ डाला, पुस्तकें आदि पोखरे में फेंक दी गई और वे लोग भाग गये। तभी से मन्दिर के हाते में यह कार्य फिर नही हुआ। इसी प्रकार आर्य समाज के प्रचारकों को भी रोका गया था। ईसाई धर्म प्रचारको का इस प्रकार भगाया जाना सरकारी हाकिमों को बहुत बुरा लगा। उस समय स्थानीय कलेक्टर, कमिश्नर, पुलिस सुपरिटेन्डेन्ट आदि सभी ईसाई मतावलम्बी थे। अतएव हम लोगों पर मुकदमा चलाने का प्रयत्न किया गया। परन्तु शहर के गणमान्य व्यक्तियों के प्रभाव से बात आगे नहीं बढ़ने पाई और हम लोग जो गिरफ्तार कर लिये गये थे, छोड़ दिये गये। इसी प्रकार विपत्तियॉ मेरे जीवन में अनेक बार आई है।, और आज तक आती रहती है परन्तु श्री बाबा जी महाराज की कृपा मेरा उद्धार करने में कभी नहीं चूकती।

गद्दी के लिए झगड़ा

सन् १९२१ ई० जब महात्मा गाँधी ने असहयोग आन्दोलन आरम्भ किया मै इण्टरमीडिएट कक्षा में पढ़ता थां आन्दोलन से प्रभावित होकर उसी वर्ष मेंने पढाई छोड़ दी। उसी वर्ष मुकदमें का निर्णय भी मेरे गुरु जी के विरूद्ध हो गया जो कि पहले से ही गद्दी के लिये मेरे गुरु महाराज और महन्त सुन्दरनाथ के बीच चल रहा था। उसके बाद ही १४४ धारा के अनुसार हम लोगों को नोटिस देकर आश्रम से बाहर निकाल दिया गया। तब गुरु जी मानसरोवर

पर और मै क्षत्रिय छात्रावास में रहने लगा।

हम लोगों ने मुकदमें की अपील की और मुकदमा हाईकोर्ट में चलने लगा। परन्तु मुकदमें की पैरवी में आर्थिक कठिनाईयों का अनुभव होने लगा और उसी का प्रबन्ध करने के लिये गुरुजी गुजरात को चले गये। वहाँ बत्तीस सराला नाम के स्थान पर इसी सम्प्रदाय का एक मठ है। गुरुजी वहाँ जाकर रहने लगे। मुकदमें के दौरान में सन् १६२४ ई० में सुन्दरनाथजी का देहान्त हो गया। रात्रि में उनका देहान्त हुआ और प्रातः काल होते ही आश्रम के एक सेवक लक्ष्मण सिंह ने मुझे खबर दी। मै आश्रम में जाकर सुन्दर नाथजी के शव को देखा, वहाँ से लौट कर तुरन्त कोतवाली में पहुँचा। वहा मैने कोतवाल को इस बात की सूचना दे दी कि बाबा श्री गम्भीरनाथजी के साथ पहले से ही यह समझौता हो गया था और इसका इकरारनामा लिखा लिया गया था कि सुन्दरनाथजी को शिष्य बनाने का अधिकार न था। इस प्रकार उनके बाद गद्दी का अधिकारी कोई शिष्य न था। एतएव झगड़ा हो जाने की पूरी सम्भावना थी। सुतरां सरकार को तत्काल उचित प्रंबन्ध करना चाहिये। कोतवाल ने तुरन्त कलेक्टर से परामर्श करके आश्रम की सम्पत्ति को अपने अधिकार में कर लिय, आश्रम में ताला लगा दिया गया, और स्थानीय रईस श्रीमान बाबू पुरुषोत्तमदास को रिसीवर नियुक्त कर दिया।

गुरु जी को मैने तार देकर बुलवा लिया। सुन्दरनाथजी से पहले से ही गोकुलनाथ जी ने एक वसीयत लिखवा लिया था। उसी के आधार पर वे अपने को सुन्दरनाथ का शिष्य व गद्दी का अधिकरी घोषित करते थे। मेरे गुरुदेव अपने को गद्दी का वास्तविक अधिकारी प्रमाणित करने के उद्देश्य से दीवानी में दावा किये और सन् १६२७ में विजयी हुये। तब गोकुलनाथ ने हाईकोर्ट में अपील की, परन्तु वहाँ से भी मेरे गुरु महाराज की जीत सन् १६३२ में हो

गई। तब मेरे गुरुदेव महन्त पद पर आसीन हुए।

इस प्रकार इन दोनों महात्माओं की छत्रछाया में मेरे जीवन का विकास हुआ। मेरे जीवन के आरम्भ से ही मेरे ऊपर जो मेरे परमगुरु की कृपा दृष्टि हुई है उसका यहाँ पर और भी कुछ परिचय दे देना अप्रासंगिक न होगा।

योगिराज की करुणा में योग विभूतियों का परिचय

एक बार, जब मेरी अवस्था लगभग ८ या ६ वर्ष की रही होगी, मुझे बड़े जोर का ज्वर हो गयां बाबाजी ने साधुओं को ज्वर देखने के लिये कहा। एक साधु ने मेरे शरीर पर हाथ रक्खा तो ज्वर का ताप बहुत बढ़ा हुआ जान पड़ा। उसने बाबाजी को ज्वर की प्रचण्डता बतलाई तो बाबाजी ने एक कूण्डी में पानी मंगवाया और उसपर केवल अपना हाथ फर कर मुझे पिला दियां इसके बाद ही मेरा भयंकर ज्वर न जाने कहॉ चला गया और में स्वस्थ हो गया।

इसी प्रकार एक अति भयंकर घटना मेरे जीवन में घटी थी जो इस प्रकार थी। उस समय मेरी अवस्था लगभग १३, १४ वर्ष रही होगी और मै छठवीं कक्षा में पढ़ता था। एक दिन एक बृद्ध मनुष्य बाबाजी के पास आया और अपने साथ एक पुराना अचकन और एक पैजामा लाया। थोड़ी देर के बाद बाबाजी ने मुझे बुलाया और उन दोनो कपड़े को पहनने के लिये कहा। मुझे अचकन और पैजामा पहनना पसन्द न था। मैंने अपना मनोभाव प्रकट किया तो बाबा जी ने कहा कि इनकी इच्छा है कि तुम इसको पहन लो। बाबाजी के ऐसा कहने पर मैने दोनो वस्त्र पहन लिया और जेब में हांथ डाला तो उसमें केश का एक लट निकला। जब मैने बालों का लट बाहर निकाला तो वह मनुष्य भयभीत हो गया और कहने लगा कि मेरे सोते समय लड़की ने बाल काट कर रख दिया होगा। जो

भी हो, उसी रात्रि में मुझे बड़े जोर का बुखार चढ़ा और दो एक दिन के बाद खूब जोर का चेचक निकल आया। बीमारी बढ़ती ही गई और अन्त में मेरी मृत्यु ही हो गयी सुनता हूँ कि जब बाबाजी को मेरी मृत्यु का समाचार दिया गया तो उन्होने मरे प्राणहीन देह को अपनी चारपाई के नीचे रखवा लिया। प्रातः काल साधुओं ने जाकर देखा तो मुझे ताकता हुआ पाया ओर इसके बाद मैं धीरे–धीरे स्वस्थ हो गया। इस बिषय में इतनी बात तो उन्हें स्पष्ट याद है कि मृत्यु के बाद कोई अमानुष मूर्तियॉ उन्हें लिये जा रही थी और वे आपस में कह रहे थे कि इनको अब नहीं ले जाना है, इनको वापस कर देना चाहिये। तब मै वापस कर दिया गया और आज तक जीवित हूँ। यह मेरा निज का अनुभव है बाबाजी ने मुझे पुनर्जीवन प्रदान किया था, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

इसी प्रकार दूसरी घटना मेरी ऑखों के सामने घटी जो इस प्रकार है। गया में योगिराज जी के एक भक्त रहते थे। वे शायद दो भाई थे। उनका नाम तो मुझे स्मरण नही है। परन्तु यह याद है कि वे दोनों छोटकू और बड़कू नाम से पुकारे जाते थे। उनका एक लड़का बहुत सख्त बीमार हो गया, और उनको जब बालक के बचने की आशा न रही तो एक भाई बाबाजी के शरण में गोरखपुर दौड़ आया। उसकी कातर प्रार्थना पर बाबाजी का कोमल हृदय विगलित हो गया और वे उसके साथ गया जी को चल पड़े। मै भी बाबाजी के साथ चला। हम लोग गयाजी पहुँचे और उस सज्जन ने हम लोगों को अपने बगीचे में ठहराया जिसमें बाबाजी पहले रहा करते थे। परन्तु दुःख की बात थी कि बाबाजी के पहुॅचने के कुछ काल पूर्व ही बालक की मृत्यु हो गई थी। बाबाजी को यह दुःखद समाचार दिया तो वे उठे और उसके घर की ओर चल पड़े। मै भी बाबाजी के पीछे–पीछे गया। वे लोग बाबाजी को घर के भीतर शव के पास ले गये। वहॉ पहुॅच कर बाबाजी ने शव के ऊपर अपना हाथ फेर दिया, ओर मैने अपनी ऑखों से देखा, तत्काल मृत्तशरीर

में प्राण संचार हुआ। इस प्रकार मेरे समक्ष उनकी कृपा से मृत्त व्यक्ति को पुनर्जीवन प्राप्त हुआ।

उनकी योगविभूतियों को समझ सकना मेरे लिये आज भी सम्भव नहीं है, परन्तु जब तक वे देह में विराजमान थे तब तक उनके स्नेह और करूणा का सम्भोंग मुझें निरन्तर मिलता रहा। सहृदय पितामह जैसे अपने शिशु पौत्र पर स्नेह करता है, और बच्चे का अनुचित हट भी मान लेता हैं, उसी प्रकार मेरे प्रति उस सर्वबन्धविनिमुक्त आत्मसमाहित निर्विकार महापुरूष का व्यवहार था। ये मेरे हृदय की बातें है। इनका विशेष विवरण लिपिबद्ध करना मेरे लिये सम्भव नहीं।

आश्रम सेवा अधिकार

सन् १६१७ ई० में जब इसी मठ में ही योगिराजजी का अन्तर्धान हुआ, उस समय मै नवयुवक ही था और स्कूल की मेरी पढ़ाई भी तब तक समाप्त न हो सकी थी। उस समय मै अपने को निःसहाय अनुभव करने लगा था और मेरे गुरु महाराज भी उसी समय एक बड़ी विपत्ति में पड़ गये थे। परन्तु योगिराजजी की कृपा और आशीर्वाद हम लोगो के ऊपर था, जिसके प्रभाव से मेरे गुरु महराज अनेक झंझटों का पार करके सन १६३२ ई० में मन्दिर के महन्त पद पर प्रतिष्ठित हुए। तीन वर्षो के बाद मेरे गुरु महाराज का भी तिरोधान हो गया। तब सन् १६३५ ई० में इस पवित्र धर्म प्रतिष्ठान की सेवा का पूर्णधिकार मेरे ही मस्तक पर आ गयां मै सर्वदा ही इस बात का अनुभव करता हूँ कि, इस मठ और मन्दिर की सेवा में मै जो कुछ कर सका हूँ, वह सब मरे परम गुरु और गुरु महाराज की कृपाशक्ति और शुभाशीष का ही अमोध परिणाम है। मेरी सभी कर्मशक्तियों तथा विचारशक्तियों का मूल स्रोत है मेरे गुरु और परम गुरु की अहैतुकी करूणा। मठ और मन्दिर की उन्नति के सम्ब्न्ध में जो कुछ हुआ है या हो रहा है। वह सब

उनकी ही प्रेरणा और शक्ति से होता है।, यह मेरा सुदृढ़ विश्वास है। इतना ही नहीं, मेरे जीवन में अनेकों बार कितनी ही दुर्लभ विपत्तियाँ आ गई थी, परन्तु उन सब विपत्तियों से उनकी कृपा के द्वारा ही, बिना क्लेश भोग के ही, अनायास मेरा परित्राण हुआ है। मै अब अपने परम गुरु और गुरुदेव दोनो के ही चरणाम्बुजों पर बार–बार प्रणत होकर इस भूमिका को समाप्त करता हूँ और आशा करता हूँ कि मेरे परम गुरु श्री योगिराज जी के अपूर्व साधन जीवन और सिद्ध–जीवन का यह पुण्य–चरितामृत श्रद्धाभक्ति के साथ अध्ययन करके योग–तत्वजिज्ञासु विचारशील सभी धार्मिक पाठक पूर्ण लाभ प्राप्त करेगें।

!!ओम् तत् सत् ओम्!!

अनुलेखक का निवेदन

यद्यपि जीवन ओर जीवनी दोनो परस्पर सम्बद्ध है, तथापि वे एक दूसरे से बहुत भिन्न होते है। जीवन भीतर की वस्तु हैं, और जीवनी बाहर की । जीवन बिम्ब है, जीवनी प्रतिबिम्बं जीवन असल है, जीवनी उसका नकल। कोई व्यक्ति विशेष स्वरूपतः जो कुछ हैं, उसकी अन्तरात्मा यथार्थतः जिस प्रकार अभिव्यक्त होती है, वही उसका जीवन है। वह विशिष्ट देश काल, और अवस्था के अन्दर पड़कर जो–जो कर्म करता है एवं अपने चारों ओर सामयिक रूप से जिस प्रकार का प्रभाव फैलता है उसी के द्वारा उसकी जीवनी ग्रथित होती है। यद्यपि जीवनी मूलतः जीवन का ही बर्हिविकाश होती है।, तथापि उसके अन्दर बहुत सी गलतियाँ भी मिल जाती है; कभी कभी तो ये ऐसा आकार धारण कर लेती है कि वे जीवन को ही ढक लेती है।, बाहरी कार्याकार्य और अवस्थापुज्जों के भीतर यथार्थ जीवन का पहचानना ही कठिन हो जाता है। सच्चे मनुष्यों का अर्थात् सार्थकनामा महापुरूषों का आभ्यन्तरीण जीवन ही मानव समाज के लिये चिरकाल तक स्थायी अमूल्य सम्पत्ति होती है, और

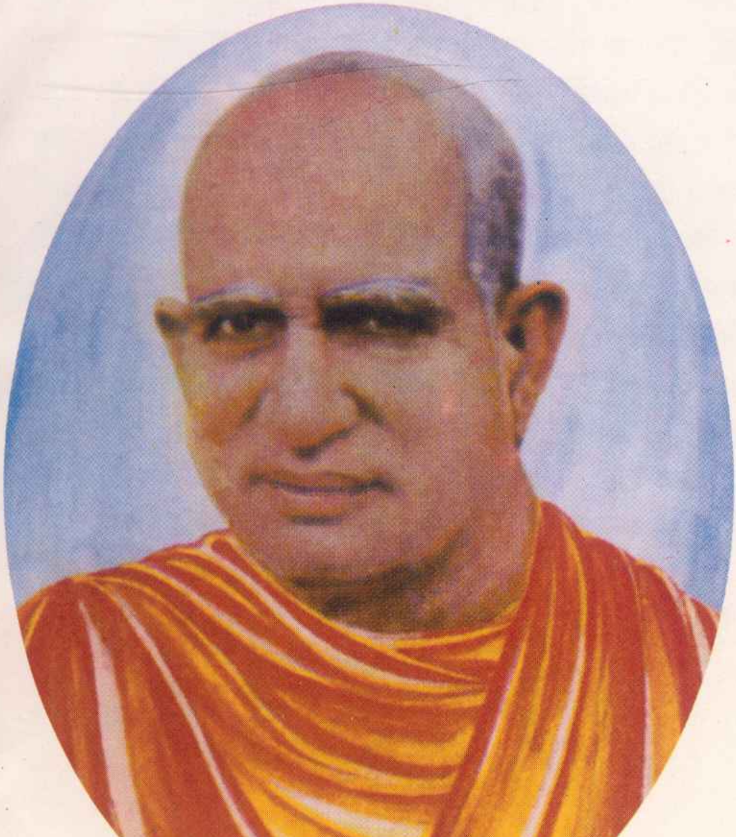

युग पुरुष महन्त दिग्विजय नाथ

उसका एक सुस्पष्ट और जीवन्त चित्र तैयार हो जाने पर भी, देश, काल और अवस्थाओं के परिवर्तन होने पर भी, वह चिरकाल तक मानव ह्रदय के उपर प्रभाव डालता ही रहता है। किन्तु उनके बड़े छोटे कार्य और उनके विभिन्न विषयों के सम्बन्ध में मतामत आदि बाहर की चीजे पूर्णतया समय के अधीन होती है। विशेष प्रकार की पारिपार्श्विक अवस्थाओं के ऊपर ही उनका मूल्य निर्भर करता है। तथापि हमारे समान बर्हिमुखीन लोग महापुरुषों की जीवनी जानने के लिये जितना लालायित रहते है उतना उनके वास्तविक जीवन को समझने के लिये कौतूहली और प्रयत्नशीन नही होते। श्री श्री बाबा गम्भीरनाथजी जब स्थूल देह में विद्यमान थे, उस समय भक्तों ने कई बार उनके समक्ष उनकी जीवनी लिखने का प्रभाव उठाया, तथा उनके पूर्वाश्रम और साधन काल की घटनाओं तथा अवस्थाओं को सुनने के लिये आग्रह प्रकट कियां परन्तु वे सर्वदा ही अन्तर्लीन दृष्टि होकर अपनी अचला स्थिति में ही विराजमान रहते थें एवं उनके श्रीमुख के दो एक शब्दों का सुन पाना भी नितान्त सौभाग्य की ही बात जान पड़ती थी। अत्यन्त आग्रह करने पर वे गम्भीर स्वर में कह देते थे, 'जीवनी से क्या होगा?'' अथवा ''प्रवचन से क्या होगा'' इस बात का तात्पर्य उस समय भक्तगण समझ न सके एवं आज भी यह नही कहा जा सकता कि यह बात हम लोगो को ह्रदयंगम हो गयी है। किन्तु वे हम लोगों को सर्वदा ही इस बात के समझाने की चेष्ट करते थे कि, जीवनी जानने की चेष्टा की अपेक्षा–अर्थात जीवन के आनुसंगिक कुछ अवान्तर बाहरी घटनाओं के अनुसन्धान और उसको लेकर कालक्षप करने की अपेक्षा – आभ्यान्तरीण जीवन को अपनी साधना की सहायता से ह्रदय द्वारा अनुभव करने का प्रयत्न कहीं अच्छा है; एवं वही कल्याण का मार्ग हैं नकली को लेकर पड़े रहने की अपेक्षा असली को ग्रहण करने का प्रयत्न करना अधिक उचित है।

किन्तु हमारे जीवन का अधिक समय ओर शक्ति नकली में ही लगी रहती है; केवल नकली ही नही, अपितु नकल के भी नकल में हम लोग प्रधानतः लगे रहते है। केवल एक विषय में नकली को त्यागं करने की चेष्टा से क्या होगा? क्या इस नकल के छोड़ देने से ही असल का ग्रहण हो जायेगा। विशेषतः जिस नकल के भीतर असल का छाप लगा रहता है।, जिस नकल का अवलम्बन करके असल के सम्बन्ध में अन्ततः किसी भी मात्रा में धारण उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है।, उस नकल का त्याग करना तो वास्तविक हानि होगी। असल के ग्रहण करने मे असमर्थ व्यक्ति यदि उसके साथ संपूलष्ट नकल का भी त्याग कर दे, तब तो असल को पकड़ सकने की संभावना ओर भी अधिक दूर चली जाने की आशंका होती है और जो लोग असल को पकड़ने में समर्थ हुये है, वे सौभाग्यवान लोग तो नकल के भीतर भी असल के ही विविध विलास का दर्शन करके आन्नद संभोग करते है।

इसके अतिरिक्त श्री श्री नाथजी के एसे अनेक शिष्य थे जिनको एक बार से अधिक उनके दर्शन का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ, एवं उसी लिये उनके जीवन को अपनी धारणा के भीतर लाने के लिये यथासाध्य प्रयत्न करने की विशेष सुविधा भी प्राप्त न हो सकी उनके शिष्यों के अतिरिक्त कितने और भी ऐसे भक्त और धार्मिक व्यक्ति थे, जो उनका नाम तथा उनके अनन्य साधारण माहात्म्य के विषय में कितनी ही बातें सुन चुके थे, परन्तु उनका संग करने अथवा उनके विषय में विशेष जानकारी प्राप्त करने की सुविधा नही पा सके थे; वे लोग उनकी जीवन कथा तथा उपदेशवाणी सुनने के लिये आग्रह प्रकट करते थे। इन्ही सब कारणों से उनके देहान्त के कुछ समय बाद से ही उनकी एक जीवनी का आवश्यकता अनेक लोगों को जान पड़ने लगी, एवं अनेक लोग उसके लिये उत्कण्ठ के साथ नाथजी के योग्यतर शिष्यों से अनुरोध करने लगे।

एसी अवस्था में अनेक गुरुभ्राता एकमत होकर हमारे वर्तमान ग्रन्थकार के ऊपर श्री श्री गुरुदेव की एक जीवनी लिखने का भार अर्पण किय। प्रथम तो वे ग्रन्थकार रूप में सामने आना ही न चाहते थे;– दूसरे एक ऐसे महापुरुष– जो ज्ञान में, प्रेम में, शक्ति में और आत्मस्थिति में अतुलनीय हो– उसके कर्म–वाहुल्यविहीन जीवन का अवलम्बन करके एक ग्रन्थ लिखने का साहस करना वे आग से खेलना समझते थे और इसी लिये इस कार्य के लिये तैयार ही न होते थे। किन्तु गुरुदेव जिससे जो कार्य करवाना चाहें उसको बाध्य होकर वह करना ही पड़ता है। प्रथम अनिच्छा प्रकट करने पर भी, समान्य गुरु भाईयों की सम्मान रक्षा के लिये, एवं मित्रों के अत्यधिक आग्रह करने के कारण वे इस कार्य में हाथ लगाने को राजी हुए। उस समय यह उनकी साधना का ही एक अंग बन गया था। तथापि बीच बीच में वे कई बार कुण्ठावश इस कार्य से विरत हो जाते थे, और मित्रों के बार बार आग्रह से प्रवृत होते थे।

ग्रन्थ के पूर्ण हो जाने के बाद भी ग्रन्थकार ने इसके मुद्रण और प्रकाशन के लिये कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया। इस विषय में उन पर जो भार था उसकी पूर्ति करके वे निवृत हो गये। उन्होंने तो श्रद्धेय गुरुभाईयों के अनुरोध की रक्षा करते हुए निज चित्त शुद्धि के निमित्त ही इस ग्रन्थ को लिखा था। उनके मन में कभी इस बात का विचार भी न आया कि इसके मुद्रण और प्रकाशन के विषय में उनका हाथ है, सामर्थ्य है, अथवा दायित्व है। मित्रों के उत्साह से ग्रन्थ प्रकाशित हो गया। हम लोग साधारणतः जीवनी शब्द से जो कुछ समझतें हैं, एवं साधारणतः जीवनी जिस प्रकार लिखी जाती है, उस रूप मे इस ग्रन्थ को ठीक–ठीक जीवनी कहे या नही, इसमें सन्देह है। ग्रन्थकार ने शास्त्र, महापुरुषों की वाणी तथा अपनी निजी अनुभूति और विचार की सहायता से महापुरुष के जीवन को ही खोजने की चेष्टा की है।, एवं बीच–बीच में पाठकों को स्मरण कराते गये है कि यह ग्रन्थ महापुरुष के जीवन को

समझाने के लिये इगिंत मात्र है। उसका सम्यक परिचय नहीं है। उन्होंने लिख है " जीवन के द्वारा ही जीवन पहचाना जाता है, वहिर्दृष्टिपरायण बुद्धि के द्वारा नही" कार्य कलाप ओर बाहरी घटना परम्परा आदि जिन उपकरणों के द्वारा जीवनी की रचना की जाती है, उन सबका बाबा गम्भीर नाथ के व्यवहारिक जीवन में स्वभावतः अभाव था। तथापि लेखक जितने उपकरणों का संग्रह कर सके थे, उसका भी पर्याप्त अंश उन्होने अवान्तर समझकर त्याग कर दिया; एवं महापुरुष के आदर्श जीवन का एक चित्र अंकित करने के लिये बाहरी घटना ओर अवस्था की जितनी सहायता की आवश्यकता होती है, उतना ही उन्होंने स्वेच्छा से और विचार पूर्वक ग्रहण किया है। उनका उद्देश्य जीवनी वर्णन करना कदापि नही है, बल्कि यथार्थ जीवन को विचारशील और सहृदय ध र्मपिपासुओं के निकट उपस्थित करना ही है।

यह ग्रन्थ जब प्रथम बार सन् १९२९ ई० में बंगला भाषा में प्रकाशित हुआ, तो इसका अध्ययन कर इसी दृष्टिकोण से अनेक संत, महापुरुष तथा विद्वानों ने एक स्वर से इसकी प्रशंसा की।

वृन्दावन के ब्रजविदेही महन्त श्रीमन् सन्तदास महाराजजी ने कहा "इसके अध्ययन से मरा बहुत उपकार हुआ। मेरी धारणा है, इसके अध्ययन से बहुतों का उपकार होगा।"

कलकत्ता हाईकोर्ट के तत्कालीन विचारपति श्रीयुक्त मन्मथनाथ मुखोपाध्याय का अभिमत था, " इसके पठन से ज्ञान, भक्ति तथा योगमार्ग के सम्बन्ध की अनेक नवीन बातों की शिक्षा मिली। लोकालोकदर्शी महापुरुष के चरित्र की आलोचना साधक से भिन्न दूसरा कौन कर सकता है? इसके अध्ययन से मैं अच्छी तरह समझ गया हूँ कि भक्त लेखक ने अपनी गुरु भक्ति के बल से ही परमत्तव का सन्धान प्राप्त किया है। इसी हेतु वे ऐसे सुन्दर रूप से, रमणीय भाषा में, अपरूप प्रणाली से योगिराज की जीवन कथा

लिपिबद्ध कर सके है।

बरिशाल के स्वनामधन्य आदर्श धर्माचार्य तथा ग्रन्थकार के अध्यापक श्रीयुत् जगदीश मुखापध्याय ने कहा था "............ पुस्तक बड़ी मीठी लगी इतने सुन्दर रूप से लिख सके हो, उसके लिये जिनकी प्रेरणा से लिखे हो उन्ही को धन्यवाद देता हूँ।......... पढ़ते समय नेत्र जलभार से आर्द्र हो गये।"

काशी विश्वविद्यालय के प्रवीण अध्यापक पण्डित प्रवर महामहोपाध्याय श्रीयुत् प्रमथनाथ तर्कभूषण महाशय ने लिखा था, " ग्रन्थ पढ़कर मुझे परम प्रीति का प्राप्ति हुई मैं निःसंकोच कह सकता हूँ कि, वर्तमान समय में इस प्रकार के आडम्बर शून्य सरल भाषा में सत्य के ऊपर प्रतिष्ठित साधु चरित का वर्णन करके लेखक महाशय ने बगींय हिन्दू समाज का वास्तविक उपकार किया है।"

कलकत्ता हाई कोर्ट के एक अन्य विचारपति श्रीयुत् द्वाराकानाथ चक्रवर्ती महाशय ने लिखा था, "इस महापुरुष के जीवन में बहुत सी घटनाओं का वर्णन न होने पर भी एक इतने बड़े धर्म जीवन का प्रत्येक स्तर अति सुन्दर रूप से प्रदर्शित हुआ है। ग्रन्थकार ने इस सिद्ध पुरुष के जीवन की धर्मोन्नति का अति सुन्दर रूप में वर्णन किया है और इस उपलक्ष में इस साधु जीवन का जो लक्ष्य था और वह जिस–जिस प्रकार सिद्ध हुआ, वह अति सुन्दर रूप से दिखाया गया है। इस जीवन की क्रमोन्नति का विशेष रूप से उपलब्धि कर सकने पर, साधना और योग क्या है, उसका लक्षण क्या है, उसको प्राप्त करने का उपाय क्या है, इन बातों की स्पष्ट जानकारी हो जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि, इस ग्रन्थ को पढकर धर्म पिपासु गृहस्थों का उपकार होगा।

ऐसे उपादैय ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद जो आज हिन्दी भाषियों के समक्ष उपस्थित किया जाता है।, वह मेरे गुरुदेव की

अहैतुकी करूण की ही करामात है। हॉ, इस बात को मै निःसंकोच कह सकता हूँ कि इस पुस्तक का अनुवाद करने मात्र से ही मुझे पर्याप्त लाभ हुआ है।, जीवन में उतारने से तो यह लक्ष्य तक पहुँचाने में समर्थ है। हिन्दी मेरी मातृ भाषा है।, बस, इससे अधिक उसमें मेरी योग्यता नहीं है। अतएव त्रुटियॉ क्षम्य है। किसी की कृपा से ही इसके अनुवाद करने की प्रेरणा मिली, कृपा के ही बल से अनुवाद हो सका, अतएव त्रुटियों की क्षमा के लिये भी आपकी कृपा की ही ओर ताकता हूँ।

विनयावनत

रघुनाथ शुक्ल

माघ शुक्ला एकादशी

सम्बत् २०१७ वि०

श्रीश्रीयोगिराज गम्भीरनाथो जयति

आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावान् एष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।

नयनरमणकान्तिः सौम्यगम्भीरमूर्तिः
अभयवरददृष्टिः प्रेमसौहार्द्रसिन्धुः।।
परमसुखदवृत्तिस्त्यागभोगाद्यलिप्तः
जगति विजितसर्गो राजते योगिराजः ।। १ ।।

स्वसुखनिभृतचित्तः सर्वदैवात्मसंस्थः
विगतविषमबुद्धिः सर्वभूतात्मभावः।।
भुवनजनहितार्थ निष्क्रियोऽपि क्रियावान्
निखिलबृजिन हन्ता योगिराड् दीनबन्धुः ।। २ ।।

भूतोत्पत्तिस्थितिलयविधौ यं क्षमं केचिदाहुः
विद्याधीशं गुणगणनिधिं चापरे यं वदन्ति।।
मायातीतं त्रिगुणरहितं नित्यसिद्धं च केचित्
सोऽयं नाथोऽप्रतिममहिमा वर्ततें नः शुभाय ।। ३ ।।

शुद्धो बुद्धः समदृशियुतः क्लेशकर्मादिमुक्तः

द्वन्द्वातीतः स्वपररहितो ब्रह्मभूतः प्रशान्तः।।
शक्तायाधारः परमकरूणो जीवकल्याणदीक्षः
लोकस्थेभ्ने विहरति मुद्रा सद्गुरुणां वरिष्ठः ।। ४ ।।

ज्ञानानन्दघनस्वरूपम मलप्रज्ञान विद्योतितम्
योगैश्वर्यशिरःसु चार्पितपदं विद्यागणैः सेवितम्।।
शान्ताद्वैतपदे समाहितपदं संशान्तसर्वेन्द्रियम्
नित्यं ब्रह्मरसप्रलीनहृदयं गम्भीरनाथं भजे ।। ५ ।।

आर्तानां शरणं त्रितापहरणं शोकाग्निनिर्वापणम्
भीतानामभयं प्रसन्नवदनं प्रेमामृतास्वादनम्।।
दीनानां वरदं प्रपन्नशभदं संसारबन्धच्छिदम्
भक्तनां स्वजनं कृपाघनतनु गम्भीरनाथं भजे ।। ६ ।।

श्रीश्री गम्भीरनाथाष्टकम्

आजानुलम्बितभुजं सितकृष्णकेशम्

दीर्घायतारूणमृदु स्मित शोभिनेत्रम्।

श्वेताम्बरावृततनुं कनकावदातम्

आरक्तकोमलपदं नृवरं प्रपद्ये ।। १ ।।

सुकेशं सुवेशं सुनेत्रं सुवक्त्रम्

सुनासं सुहासं सुपाणि सुपादम।

सुकर्ण सुवर्ण सुवाचं सुशीलम्

प्रपन्नोऽस्मि नाथं मनोहारिंरूपम् ।। २ ।।

प्रसन्नदृष्ठयाखिलतापशेषणम्

वराभयंथै घृतपाणिपल्लवम्।

स्वपादपोतेन भवाव्धितारणम्

अनाथनाथं प्रणमामि सद्गुरुम् ।। ३ ।।

जनस्य विथ्याभिमतेरचक्षुषः

चिर प्रसुप्तस्य तमस्यानाश्रये।

प्रवोधनार्थ स्वकृपाविभासितम्

समाश्रयेऽहं गुरुदेवभास्करम् ।। ४ ।।

स्वसुखनिभृतचित्त। तन्निरस्तान्यभावम्

त्वमहिमपरिपूर्ण सर्वकर्मप्रमुक्तम्।

दलितसकलभेदं निर्विकारं प्रशान्तम्

त्यजनभजनहीनं योगिराजं प्रपद्ये ।। ५ ।।

सृष्टिस्थेमप्रलयकरणे त्वां क्षं केचिदाहुः

साक्षाद्विश्वेश्वर इति तथा केचिदन्ये महान्तः।

मायातीतस्त्रिगुणरहितो युक्तयोगीति केचित्

जानेऽहं श्यामशरणगति किञ्चिनान्यन्न जाने।। ६।।

ऐश्वर्य ते महिमजलधेः संघृतानन्तशक्तेः

विज्ञातुं कः कथमिह विभो शक्यते जीवबुद्धया।

ये तु प्रेम्णा प्रणतिपरमा स्त्वत्पदं संश्रयन्ते

तैर्दृष्टस्तेऽप्रतिममहिमा त्वत्कृपालोकदीप्तया ।।७।।

शान्तं दान्तं समदृशियुत। मौनवन्तं निरीहम्

स्वात्मक्रीडं निजसुखभुजं सौम्यगम्भीरमूर्तिम्।

शक्त्याधारं परमकरूणं जीवकल्याणदीक्षम्

बन्दे देवं भवभयहरं सदगुरूणां वरिष्ठम्।।८।।

।।इति श्रीश्रीगुरुगम्भीरनाथाष्टकम्।।

श्रीश्री योगिराज गम्भीरनाथ स्तोत्रम्

ॐ ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिम्

द्वन्द्वदातीत। गगनसदृशं तत्वमस्यादिलक्ष्यम्।

एकं नित्य विमलमचलं सर्वदा साक्षिभूतम्

भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ।।१।।

आनन्दमानन्दकर प्रसन्नम् ज्ञानस्वरूपं निजबोधयुक्तम्।

योगीन्द्रमीड्यं भवरोगवैद्यम् श्रीमद्गुरु नित्यमहं भजामि।।२।।

प्रशान्तं निरहंभाव निर्मानं मुक्तमंत्सरम्।

प्रसन्नवदनं सौम्यं योगिराजं नमाम्यहम् ।।३।।

हर्षामर्षभयाद्वेगकामलेशविवर्जितम्।

आत्मनात्मनि संतृप्तं योगिराजं नमाम्यहम् ।।४।।

उदासीनवदासीनं सदात्मदृष्टिसंयुतम्।

ईप्सयानीप्सया हीनं योगिराजं नमाम्यहम् ।।५।।

समदुःखसुखं स्वस्थं समलोष्ठाश्माकाञ्चनम्।

समनिन्दास्तुति धीरं योगिराजं नमाम्यहम् ।।६।।

जरां व्याधिं विनाशं च सम्पदञ्चपदं तथा।

रम्यं मत्वैव भुञ्जानं योगिराजं नमाम्यहम् ।।७।।

यस्मान्नोदिजते लोको लोकान्नोदिजते च यः।

रजस्तमोविक्तं त। योगिराजं नमाम्यहम् ।।८।।

सर्वेच्छाः सकलाश्रिनताः सर्वेहाः सकलाः क्रियाः।
चित्तान्निर्वासिता येन योगिराजं नमाम्यहम् ॥६॥

संसाराडम्बराः सर्वे यस्यान्तर्वर्तिदृष्टिषु।
स्वप्नवत् भासमानास्त। योगिराजं नमाम्यहम् ॥१०॥

सर्वत्र विगतस्नेहं सर्वत्र समदर्शनम्।
सर्वत्र प्रेमवन्तञ्च योगिराजं नमाम्यहम् ॥११॥

निःशेषित जगत्कार्य परिपूर्णमनोरथम्।
लोकहिताय सक्रिय योगिराजं नमाम्यहम् ॥१२॥

अन्तर्गुढ़महैश्वर्य विरहन्तमनीशवत्।
सुसंवृतमहाशक्ति योगिराजं नमाम्यहम् ॥१३॥

विश्वमात्मनि पश्यन्तं सर्वज्ञानसमन्वितम्।
प्राकृतवञ्चरन्तं तं योगिराजं नमाम्यहम् ॥१४॥

भवव्याधिचिकित्सार्थ दीनानामनुकम्पया।
स्वीकृताऽऽचार्यना येन योगिराजं नमाम्यहम् ॥१५॥

आकृष्य सादर क्रोडे आपुराणि मनांसि वै।
ज्ञानामृतप्रदातारं योगिराजं नमाम्यहम् ॥१६॥

सचित्तवेऽपि निश्चित्तं सक्रियत्वेऽपि निष्क्रियम्।
देहस्थत्वेऽपि ब्रह्मस्थं योगिराजं नमाम्यहम् ॥१७॥

लव्ध्वापि ब्रह्मनिर्वाणं भक्तचित्तं प्रकाशितम्।

सर्वगं सच्चिदानन्दं योगिराजं नमाम्यहम् ।।१८।।

यावतीर्वासनास्तयक्त्वा दीनकल्याणवासना।

पोषिता हृदि गम्भीरे गम्भीरात्मन्नमोऽस्तु ते ।।१६।।

अनाथा बहबो नाथ नाथवन्तस्त्वया विभो।

अनाथनाथ मन्नाथ नाथयोगिन् नमोऽस्तु ते।।२०।।

कायेन मनसा वाचा नमस्कारं विना प्रभो।

साधन नैव जानामि भूयो भूयो नमोऽस्तुते ।।२१।।

नमः पुस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्ब।

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ।।२२।।

त्वन्निवेदितसर्वस्वः त्वद्धयानसूधयाल्पुतः।

कदानन्दमयो भूत्वा त्वयि स्थास्ताम्यहर्निशम् ।।२३।।

।।इति श्रीश्रीयोगिराजस्तोत्रं समाप्तम्।।

।।ॐ तत्सत्।।

श्रीश्रीगम्भीरनाथजी की आरती

आरती श्री गम्भीरनाथ की।
जय सद्गुरू गम्भीरनाथ की।
जय शिव गुरु गोरक्षनाथ की।। १।।
शोभित शीश सितासित कुन्तल।
श्रवण युगल झलकत युग कुण्डल।
करुण कोमल नयन कमल दल।
मुख पर गुम्फ विलास की।। २।।
श्वेताम्बर आवृत तनु सुन्दर।
नाथ योगि कुल कमल दिवाकर।
शरणागत सुरधेनु मनोहर।
सदा समाधि निवास की।। ३।।
लम्बित शुभ आजानु युगल भुज।
शमन सकल संसार प्रबल रुज।
शीतल अरुण युगल चरणाम्बुज।
जय त्रयताप विनाश की।। ४।।
अभय वरद करकमल मनोहर।
करुणामय प्रभु प्रकट महेश्वर।
जय सद्गुरु जय कृपा सुधाकर।
जय नाथयोगि सिरताज की।। ५।।
आरत शरण अनाथ बन्धु जय।
ज्ञान प्रेममय शक्ति सिन्धु नय।
बरसत करुणाविन्दु जयति जय।
भव जल तरन जहाज की।। ६।।

श्रीश्रीयोगिराज अरात्रिकम्

जय आरति आरत पाल की।

ॐ जय शिव सुन्दर श्री नाथ शंकर।

त्रिपुर सुन्दरी युक्त कलेश्वर।

जय प्रभु परम रसाल की।। १ ।।

जय आदिनाथ मत्स्येन्द्रनाथ जय।

जय गोरक्षनाथ गोपालनाथ जय।

जय गम्भीरनाथ कृपाल की।। २ ।।

सद्‌गुरु सन्त शिरोमणि जय जय।

द्वन्द्व विवर्जित त्रिगुण रहित जय।

जय संकट भय करवाल की।। ३ ।।

जय योगीश्वर ज्ञानरूप जय।

भावातीत जय परम सुखद जय।

जय वत्सल दीनदयाल की।। ४ ।।

ब्रह्म रूप जय आनन्द धन जय।

जय भवरोग वैद्य की जय जय।

जय गहन अविद्याकाल की।। ५ ।।

जय साक्षिभूथ गम्भीर मूर्ति जय।

द्रह्मभूत सौन्दर्य मूर्ति जय।

जय योगीश्वर महिपाल की।। ६ ।।

जय गति हीन अनाथन के गति।

कृपा सिन्धु तू मैं पामर अति।

जय शरणागत प्रति पाल की।। ७ ।।

नातो आश्रित वत्सल ही सों।

करुणा कण लवलेश भरोसों।

जय मानस मधुर मराल की।। ८ ।।

महन्त अवेद्यनाथ

श्रीश्रीयोगिराज गम्भीरनाथ चरित

प्रथम अध्याय

शिवावतार गोरक्षनाथ

भारतवर्ष में विभिन्न युगों में जितने अलौकिक शक्ति सम्पन्न महापुरुष आविर्भूत होकर अपनी साधना और माधुर्य के प्रभाव से सनातनी भारतीय साधना की धारा को आभ्यन्तरीण मलिनता और विजातीय आक्रमण से धौत करके क्रमशः अधिकतर निर्मल, गम्भीर, प्रशस्त, शक्ति सम्पन्न तथा माधुर्य–मण्डित कर गए हैं, उन्हीं में से एक हैं– योगिगुरु गोरक्षनाथ। हिमालय के दुर्गम पार्वत्व प्रदेशों से आरम्भ करके सुदूर सेतुबन्ध रामेश्वर पर्यन्त, एवं बगं देश के पूर्वीय प्रान्तों से आरम्भ करके अफगानिस्तान पर्यन्त, सम्पूर्ण भारतवर्ष में तथा भारतवर्ष के बाहर अनेकों स्थानों में गोरखनाथ के अलौकिक प्रभाव का नाना प्रकार का परिचय मिलता है। विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न श्रेणियों के लोगों के मध्य उनके सम्बन्ध में इतने प्रकार की किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं कि, उनकी इयत्ता नहीं की जा सकती।* गोरक्षनाथ के स्वरचित ग्रन्थ समूह तथा उनके सम्प्रदाय के साहित्य के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों के विभिन्न भाषाओं में रचित नाना प्रकार के ग्रन्थों में भी अनेक प्रकार से उनके द्वारा आचरित और प्रचारित धर्म की बातें एवं उनके अलौकिक योगैश्वर्य और जीव प्रेम के सम्बन्ध में अद्‌भुत

---

*उत्तरीय भारत में गूंगा की कहानी बहुत ही लोकप्रिय है और विभिन्न आख्यानकों के रूप में प्रचलित हैं। इसमें गोरखनाथ केवल एक अद्‌भुत कर्मा सन्त ही नहीं हैं कि जिनके आशीर्वाद से कहानी के नायक का जन्म हुआ था बल्कि उसके हर संकट के समय वे प्रकट होकर उसकी रक्षा करते हैं। इस कहानी में इस बात का भी पता मिलता है कि उनके आदेश से विधाता को अपना विधान भी पलट देना पड़ता है। यही बात और भी प्रधान लोक कथाओं में दिखाया गया है, जैसे पूरन भगत और राजा रसातू की कथायें भी उन्ही के प्रभाव का प्रदर्शन करती हैं। साधारण व्यावहारिक धर्म में उन्हें शिव के प्रतिनिधि स्वरूप अथवा शिव का ही एक विशेष रूप माना जाता है।

अद्भुत कहानियें का वर्णन है। वे जिस सम्प्रदाय को प्रतिष्ठित कर गये हैं, उसका प्रसार और पहुँच आज भी साधारण नहीं है। यह सब होने पर भी उनके सम्बन्ध में ऐतिहासिक सत्य बहुत सामान्य ही निश्चित रूप से अवधारित हुआ है–

आविर्भाव

गोरक्षनाथजी कब, कहाँ और किस, वंश में जन्म ग्रहण किये थे, इस बात का आविष्कार करने के लिए आधुनिक ऐतिहासिकगण नाना प्रकार के गवेषणाओं के गहनवन में प्रवेश करके भी आज तक कोई अकाट्य प्रमाण लेकर बाहर नहीं निकल सके हैं। नाथ सम्प्रदाय के साधुगणों में एक प्रवाद प्रचलित है कि, वे त्रेतायुग से ही विद्यमान हैं। त्रेतायुग में श्रीरामचन्द्र उनसे योग–सम्बन्धी उपदेश ग्रहण किये थे। वे व्यास, हनुमान आदि के समान अमर हैं, एवं आज भी सूक्ष्म शरीर में लोक कल्याण के लिये नाना स्थानों में विचरण करते रहते हैं। एक दूसरे प्रवाद के अनुसार वे– सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि इन चारों ही युगों में वर्तमान रहते हैं। एक–एक विशेष स्थान पर उनका विशेष आविर्भाव होता है। (स्थानीय मान्यता के अनुसार गोरखनाथजी परमात्मा के ही अवतार हैं। वे सत्ययुग में पंजाब में थे, त्रेता में गोरखपुर में, द्वापर में हुमुर्ज में तथा कलियुग में काठियाबाड़ के गोरखमण्डी स्थान में थे)। सम्प्रदाय के बहिर्भूत विचारशील लोग इन प्रवादों को ऐतिहासिक सत्य मानने में अवश्य ही संकुचित होंगे।

कबीरदास के एक शिष्य द्वारा लिखित "गोरखनाथ की गोष्ठी" नामक हिन्दी ग्रन्थ में गोरखनाथजी के साथ कबीरदासजी की बात–चीत देखकर, एवं कबीर कृत "बीजक" नामक पुस्तक के अनेक स्थानों में गोरखनाथ का प्रसंग देखकर कोई कोई विद्वान् उनका जीवनकाल चतुर्दश या पंचदश शताब्दि बतलाते हैं। किन्तु यह प्रमाण भी अकाट्य नहीं है। एक प्राचीन प्रभावशाली धर्म प्रवर्तक

महापुरुष के साथ कई शताब्दियों के बाद होने वाले एक नवीन ध
ार्म प्रचारक महापुरुष का अलौकिक अथवा काल्पनिक वार्तालाप ध
ार्म ग्रन्थों में कम नहीं है। विशेषतः कबीर के एक दोहे में ऐसी भी बात आती है कि व्यास, गोरक्ष आदि महात्मागण कब, कहाँ और किस प्रकार रहते हैं, यह बात कोई भी नहीं कह सकता। इससे यही समझ में आता है कि कबीर भी उनको एक बहुत काल से प्रसिद्ध योगैश्वर्य सम्पन्न महापुरुष रूप में जानते थे, तथा इस बात का विश्वास करते थे कि दूसरों के द्वारा अलक्षित रूप में वे विचरण करते थे। सम्भव है, वे इसी प्रकार अलौकिक रूप में उनका दर्शन भी प्राप्त कियें हों।

पश्चिम भारत में एक प्रवाद प्रचलित है कि, सिद्ध योगी धर्मनाथ ने चौदहवीं शताब्दि में कच्छ प्रदेश में योग धर्म का प्रचार किया था और वे गोरखनाथजी के शिष्य अथवा गुरु भाई थे। इसके अनुसार वे चौदहवीं शताब्दि के व्यक्ति जान पड़ते हैं।

बहुत काल से भारतवर्ष में गोरखनाथ जी को देवता माना जाता है और कथाओं में उन्हें सर्वशक्तिमान दिखाया जाता है। वे भाग्य के विधाता ब्रह्माजी को भी बाध्य करके किसी व्यक्ति का भाग्य परिवर्तन करा सकते हैं। कभी–कभी-तो उन्हें शिव से भी बड़ा दिखाया गया है।

Encyclopaedia of Religion & Ethics,

महाराष्ट्रीय महापुरुष ज्ञानेश्वर महाराज की श्रीमद्भगवद्गीता की टीका से पता लगता है कि, उनके गुरु श्रीमन्निवृत्तिनाथजी श्रीमद्गैनीनाथ के शिष्य थे, एवं गैनीनाथजी योगिगुरु गोरक्षनाथ से उपदेश प्राप्त किये थे। ज्ञानेश्वर महाराज तेरहवीं शताब्दि के अन्तिम भाग में जीवित थे। महाराष्ट्र में वे अपने युग के सर्व प्रधान धर्म संस्कार माने जाते हैं। इससे अनुमान होता है कि गोरखनाथजी बारहवीं शताब्दि में विद्यमान थे।

बंगीय साहित्य के आचार्य श्रीयुत् दिनेशचन्द्र सेन महाशय

ने 'मयनामती के गीत', 'गोरक्ष विजय', 'धर्ममंगल' आदि प्राचीन बंगसाहित्यिक ग्रन्थों की आलोचना करके यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि गोरक्षनाथजी का जीवन काल एकादश शताब्दि है। स्वनामधन्या रानी मयनामती गोरक्षनाथ की शिष्या थीं। वे मेहेरकुल के (त्रिपुरा के) राजा तिलक चन्द्र की कन्या थी। उनके पति का नाम था माणिक चन्द्र। माणिक चन्द्र को श्वशुर के राज्य त्रिपुरा का तथा पैतृक राज्य विक्रमपुर का आधिपय प्राप्त हुआ था। दिनेश बाबू का विश्वास है कि इस बात का पर्याप्त प्रमाण मिलता है कि माणिक चन्द्र का राज्य काल ग्यारहवीं शताब्दि है। इस सम्बन्ध में मतभेद तो अवश्य है। प्रसिद्ध राजा गोविन्द चन्द्र उनके पुत्र थे। वे गोविन्द चन्द्र या गोपीचन्द्र नाम से भी प्रसिद्ध हुए थे। गोविन्द चन्द्र की गाथा भारत विख्यात है। उसमें देखा जाता है कि गोविन्द चन्द्र की माता मैनावती की कैशोर अवस्था में योगी गुरु गोरक्षनाथ तिलक चन्द्र के राजभवन में पदार्पण किये थे, एवं कृपापरवश होकर बालिका मंयनावती को दीक्षा दिये थे तथा महाज्ञान का उपदेश दिये थे। मयनावती तो उनका गुरुदत्त नाम था और पितृदत्त नाम था 'शिशुमती'। मयनावती ने ही बाद में गोविन्द चद्र को अठारह बरस की अवस्था में गोरक्षनाथ के एक शिष्य हाड़ीसिद्ध से दीक्षा दिलवा कर १२ वर्ष तक सन्यास धारण करने के लिये बाध्य किया। इस बात से अनुमान होता है कि, गोरक्षनाथ दशम् और एकादश शताब्दि में जीवित थे।

नेपाल के इतिहास की आलोचना करके प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान 'सिल्भान् लेवि' इस सिद्धान्त पर पहुँचा कि वे राजा नरेन्द्रेव के सम–सामयिक थे अर्थात् सप्तम शताब्दि में वर्तमान थे किन्तु नेपाल में प्रचलित एक दूसरे प्रसिद्ध प्रवाद के अनुसार गोरखनाथजी ने चतुर्थ शताब्दि के अन्तिम भाग में नेपाल के बौद्ध राजा महीन्द्रदेव को पदच्युत करके अपने स्नेहास्पद सेवक बसन्तदेव को सिंहासन पर अभिषिक्त किया था।

आचार्य शंकर की जीवनी का अध्ययन करने से प्रकट होता है कि गोरक्षनाथजी उनसे पहले विद्यमान थे।

राजा भर्तृहरि गोरक्षनाथजी के शिष्य थे, एवं उन्होंने नाथ सम्प्रदाय की एक नवीन शाखा भी चलाई थी। वे, एक प्रवाद के अनुसार, राजा विक्रमादित्य के भाई थे। विक्रमादित्य से विक्रम सम्बत् आरम्भ होता है। इसके अनुसार गोरक्षनाथ को ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दि का व्यक्ति मानना पड़ेगा। बहुत से विद्वान् भर्तृहरि को ईसवी सम्बत् की सातवीं शताब्दि का मानते हैं, तद्नुसार गोरक्षनाथ को सप्तम, पञ्चम या चतुर्थ शताब्दि का व्यक्ति भी माना जा सकता है। इस प्रकार गोरक्षनाथ के जीवनकाल के सम्बन्ध में अनेकों मत प्रचलित हैं। विस्तारमय से उन सब की आलोचना नहीं की गई। कोई–कोई पाश्चात्य विद्वान् तो इन मत भेदों के कारण इस बात पर भी संशय किये हैं कि वस्तुतः गोरखनाथ नाम का कोई व्यक्ति था अथवा स्वयं शिवजी को ही भक्तों ने गोरक्षनाथ के रूप में वर्णन किया है। सतरां गोरक्षनाथजी के समय के सम्बन्ध में आज तक कोई ऐतिहासिक सिद्धान्त स्थिर नहीं किया जा सकता।

जन्म स्थान

आविर्भावकाल के समान ही उनका जन्म स्थान भी अनिश्चित है। श्रीयुत दिनेशचन्द्र सेन महाशय का अनुमान है कि, वे पंजाब प्रान्त में जालन्धर नामक स्थान में जन्म ग्रहण किये थे। 'योगि सम्प्रदायविष्कृति' नामक महाराष्ट्रीय ग्रन्थ के अनुसार गोदावरी प्रदेश के अन्तर्गत चन्द्रगिरि नामक नगरी उनकी जन्मभूमि थी। उनके पिता वशिष्टगोत्रज सूरज नामक ब्राह्मण थे, एवं माता का नाम था सरस्वती देवी। उनकी माता मत्स्येन्द्रनाथ की कृपापात्री थीं, एवं मत्स्येन्द्रनाथ की कृपा से ही उन्हें यह पुत्ररत्न प्राप्त हुआ था। यौवन के प्रारम्भ में ही वह युवक मत्स्येन्द्रनाथ से योगदीक्षा और यागिवंश लेकर उन्हीं का अनुगामी बना।

दिनेश बाबू का कहना है कि, गोरक्षनाथ मीननाथ के शिष्य थे और उनकी धारणा है कि मीननाथ का निवास बाखरगञ्ज में था। 'हठ योग प्रदीपिका' में नाथ–सम्प्रदाय के सिद्ध योगियों की जो तालिका है, उसमें मीननाथ के बाद ही गोरक्षनाथ का नाम देखा जाता है। किन्तु गोरक्षनाथ और कबीर के वार्तालाप वाले प्रबन्ध में उन्होंने,–

"आदिनाथ के नाती, मच्छेन्द्रनाथ के पूत।

मैं योगी गोरख अवधूत।।"

कहकर अपना परिचय दिया है। गृहत्यागी साधुओं को परिचय देने की साधारण रीति के द्वारा यही अनुमान किया जाता है कि, यहॉ 'नाती' और 'पूत' इन दोनों शब्दों का प्रयोग आध्यात्मिक सम्बन्ध में ही किया गया है। इससे यही मालूम होता है कि वे मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य थे। जनसाधारण में भी वे महासिद्ध योगिराज मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य रूप में ही प्रसिद्ध है। पूर्वोक्त तालिका में मत्स्येन्द्रनाथ के बाद पॉचवें स्थान में गोरक्षनाथ का नाम आता है। किन्तु इससे यह बात प्रमाणित नहीं होती कि वे मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य न थे।

नामकरण

गोरक्षनाथ के जन्म के सम्बन्ध मे एक गल्प प्रचलित हैं एवं महाराष्ट्रीय भाषा के 'नवनाथ–भक्ति सार– नामक ग्रन्थ में उसका उल्लेख भी है। मत्स्येन्द्रनाथ जी एक दिन भिक्षा के लिये एक स्त्री के निकट पहुँचे । स्त्री ने उन्हें भिक्षा प्रदान किया और उन्हें एक महातेजस्वी साधु समझ कर पुत्रवर की प्रार्थना कीं मत्स्येन्द्रनाथ जी कृपापरवश होकर उसे थोड़ा सा विभूति–प्रसाद दिये और कहे कि, इस विभुति का सेवन करने से तुम्हें यथासमय एक पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी। उस महापुरुष के चले जाने पर दूसरी स्त्रियां उसका

परिहास करने लगी। इससे घबड़ा कर उस स्त्री ने विभूति प्रसाद न खाकर गोरक्षा (अर्थात गोबर आदि कूड़ा डालने का स्थान) में फेक दिया। बारह बरस के बाद मत्स्येन्द्रनाथ फिर लौटे और उसी स्त्री के द्वार पर भिक्षा के लिये गये जब स्त्री भिक्षा देने निकली तो उनहोंने पूछा,'' तुम्हारा पुत्र कहां है?'' जब उन्होंने यह सुना कि स्त्री ने विभूति नहीं खाई बल्कि फेंक दी, तो वे बोले, 'मेरी उस सिद्ध विभूति से निश्चय ही एक आलोक समान्य पुरुष उत्पन्न हुआ है, जहाँ तूने विभूति फेंका था, वहाँ चल तो वहाँ पहुँच कर मत्स्येन्द्रनाथ जी ने ज्योंहि पुकारा त्योंहि एक बारह बरस का बालक उसी गोरक्षा में से निकल कर मत्स्येन्द्रनाथ जी के सामने आकर खड़ा हुआ। इस गोरक्षा में से निकलने के कारण ही उनका नाम पड़ा गोरक्षनाथ। उसी समय वे मत्स्येन्द्रनाथ के साथ चल दिये। यह गल्प, सम्भव है, अतिरंजित हो, परन्तु इससे इस बात का अनुमान होता है कि गोरक्षनाथ की माता ने उन्हें मत्स्येन्द्रनाथ की कृपा से ही प्राप्त किया था, तथा वाल्यावस्था में ही वे मत्स्येन्द्रनाथ का शिष्य बनकर सन्यास ग्रहण कर लिये थे।

उनके नाम के सम्बन्ध में कोई–काई कहते है कि, बाल्यकाल से ही उनका गो–सेवा में अधिक प्रेम था, इसीलिये गोरक्षनाथ उनका नाम पड़ गया। किन्हीं किन्ही मनीषी व्यक्तियों का ऐसा भी अनुमान है कि समग्र हिन्दू समाज मे गो–सेवा और गो–रक्षा जो हिन्दू धर्म का एक अविसंवादित प्रधान अंग बन गया है– उसका विशेष कारण योगिगुरु गोरक्षनाथ का प्रभाव ही है।

गोरक्षनाथ से सम्बद्ध स्थान और जातियॉ

नेपाल अञ्चल में गोरखा नाम की एक जाति है। वे अपने साहस ओर वीर्य के लिये सर्व प्रसिद्ध है। वे लोग कहते हैं कि गोरक्षनाथजी ने नेपाल में रहकर बारह बरस तक कठोर तपस्या किया था। उनके तपस्या का स्थान उनके नाम के ही अनुसार

गोर्खा कहलाने लगा, एवं उस स्थान के तथा उसके निकटवर्ती अन्य स्थानों के निवासी गण भी उनके प्रति भक्ति श्रद्धा के निदर्शन स्वरूप उन्हीं के नाम के अनुसार अपने को गोर्खा कहने लगे। उसी से गोर्खा जाति की उत्पत्ति हुई। * नाथ सम्प्रदाय के साधुगण गोरखपुर को ही गोरक्षनाथ का आदि साधन क्षेत्र बतलाते है। और कहते हैं कि, आजकल गोरक्षनाथ के जिस आसन पर नित्य पूजा अर्चना होती है, वह उनकी तपस्या के समय से ही उसी स्थान पर प्रतिष्ठित है। यह कहना तो अनावश्यक ही है कि गोरखपुर शहर को इस नाम की प्राप्ति उन्हीं के नाम से हुई है। दूसरे प्रवाद के अनुसार उनकी प्रथम तपस्या का स्थान था बदरिकाश्रम। मत्स्येन्द्रनाथ नवीन संन्यासी गोरक्षनाथ को साथ लेकर बदरिकाश्रम चले गये और वहीं उनको बारह बरस तक कठोर तपस्या करने के लिये बैठा दिये। सिद्धि प्राप्त कर लेने के बाद धर्म प्रचारार्थ वे विभिन्न स्थानों मे भेजे गये।

भारतवर्ष के सभी प्रदेशों में उनके नाम के अनुसार अनेक स्थानों का और अनेक मन्दिरों का नामकरण हुआ है। भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय में लिखा है कि, पश्चिमोत्तर प्रदेश में उनके नाम पर अनेक स्थानों का नाम सुना जाता है। पेशावर में 'गोरक्ष क्षेत्र' नाम का एक स्थान है; अबुल फजल ने अपने ग्रन्थ में इसका उल्लेख किया है। द्वारका के निकट एक दूसरा 'गोरक्ष क्षेत्र' है, ओर हरिद्वार में इनका एक अति श्रद्धेय सुरंग विद्यमान है; ये दोनों ही इस सम्प्रदाय के विशेष तीर्थ स्थान है।-नेपाल के पशुपति नाथ आदि मन्दिर भी इसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध है।–

---

* ऐतिहासिकों का कथन है कि, गोर्खागण वर्तमान नेपल प्रदेश के आदिम निवासी नहीं है, वे लोग निम्नस्थ समतल भूमि में नेपाल में जाकर वहाँ के राजा को पराजित करके राज्य पर अधिकार कर लिये थे एवं वे लोग ही क्रमशः नेपाल में सबसे अधिक पराक्रमी जाति बन गये। सम्भवतः गोरक्षनाथ का शिष्य ग्रहण करके ही वे लोग शौर्यवीर्य सम्पन्न होकर, एवं गोरक्षनाथ के तेज से तेजीयान् होकर ही नेपाल के बौद्ध राजा को परास्त करके वहाँ हिन्दू धर्म का विजय पताका फहराये थे। और भी किंवदन्तियाँ इसी मत का पोषक है। वर्तमान में भी गोरक्षनाथ द्वारा प्रवर्तित धर्म नेपाल में सबसे प्रबल धर्म है।

कलकत्ता के इस तरफ दमदम के निकट 'गोरखबासली' (गोरक्ष–वशीं) नाम का स्थान है। वहाँ तीन मनुष्यों की मूर्तियाँ और शिव, काली, हनुमान आदि अनेकों देवताओं की मूर्तिया विद्यमान है। प्रथमोक्त तीन मानव– मूर्तिया दत्तात्रेय, गोरक्षनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ की बतलाई जाती है। गोरखपुर इन सबका प्रधान स्थान है।'' इनके अतिरिक्त पंजाब प्रदेश में झेलम जिला में गोरखटिला, गिरनार में गोरखमढ़ी, गोवा के निकट गोरखकाजुली, मेवाड़ का एकलिंग शिव का मन्दिर, त्रिवेणी के निकट महानाद नामक ग्राम में जटेश्वर शिव का मन्दिर, नेपाल के उत्तर में चन्द्र नाथ, आदि असंख्य स्थान और मन्दिर गोरक्षनाथ के द्वारा अथवा उनके नाम पर प्रतिष्ठित हुये है। इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि कालीघाट की काली की प्रतिष्ठा भी उन्ही के द्वारा हुई है। अनुमान होता है कि, चटग्राम के चन्द्रनाथ, विरूपाक्षनाथ और स्वयम्भूनाथ एवं महेशखालि द्वीप के आदिनाथ आदि भी उन्हीं के द्वारा अथवा उनके सम्प्रदाय द्वारा प्रतिष्ठित हुए है। नाथ सम्प्रदाय के आदि गुरु का नाम भी आदिनाथ था। नाथ योगिगण उनको शिव से अभिन्न मानते है।

प्रस्ताव विस्तार

सुतरां यह बात प्रकट होती है कि गोरक्षनाथ का जन्म–स्थान कहीं भी रहा हो उनका कर्मक्षेत्र सम्पूर्ण भारतवर्ष था। न केवल भारतवर्ष ही, अपितु तिब्बत, अफगानिस्तान, बिलोचिस्तान, पिनाङ आदि अनेकों स्थानों में उनके प्रभाव का परिचय प्राप्त होता हैं इस समय भी इन सब स्थानों में गोरक्षनाथ प्रवर्तित योगि सम्प्रदाय के अनेकों आश्रम प्रतिष्ठित है।, गोरक्षनाथ का नियमित सेवा–पूजा प्रचलित है।, एवं असंख्य साधु और गृहस्थ उनकी पताका के नीचे आश्रय लेकर आध्यात्मिक कल्याण के साधन में निरत है। बुद्ध के बाद एकमात्र शंकराचार्य को छोड़कर समग्र भारतवर्ष में किसी दूसरे महापुरुष के प्रभाव का इतना विस्तार नहीं हुआ, यह बात

निःसन्देह कही जा सकती है। महापुरुष शंकराचार्य के समान वे भी शिव के अवतार माने गये है। दोनो ही महापुरुष बौद्धधर्म के पतन के समय एवं ब्राह्मण्य धर्म के पुनरूत्थान के पूर्व भारतीय सनातन धर्म के सुसंस्कृत तत्वों और भावों का प्रचार करने के लिये तथा हिन्दू समाज को उदार सार्वजनीन नैतिक और आध्यात्मिक भित्ति के ऊपर पुनः प्रतिष्ठित करने के लिये अवतीर्ण हुए थे। दोनों के द्वारा प्रचारित धर्मो पर बौद्ध धर्म का प्रभाव विद्यमान है, दोनो ने ही बौद्ध धर्म के नास्तिक भाव के विरुद्ध संग्राम करके आस्तिकता की विजय पताका फहरायें दोनो ने ही सनातन हिन्दूधर्म के आस्तिक भाव और आचार के साथ बुद्ध प्रचारित उदार नीति का सामञ्जस्य करके भारतीय बौद्ध समाज को हिन्दू समाज में अन्तर्भुक्त कर लेने में एवं हिन्दू समाज को एक नवीन रूप में गठन करने में असाधारण कौशल दिखलाया।

प्रचार प्रद्धति

किन्तु शंकर और गोरक्षनाथ की प्रचार पद्धति बहुत अंशो में भिन्न थी। ज्ञानी गुरु शंकर प्रधानतः वेदान्त प्रचारक थे। उन्होंने उपनिषद, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता के भाष्य की रचना करके उसी के भीतर से अपने मत का प्रचार किया, विभिन्न सम्प्रदायों के प्रधान–प्रधान आचार्यो को दार्शनिक विचार में परास्त करके तथा उन्हे अपने शिष्यों में शामिल करके उन लोगो को अपने वेदान्त मत का प्रचार करने के लिये नियुक्त किया, एवं भारत के प्रधान–प्रधान तीर्थ स्थानों में अपने सम्प्रदाय का मठ स्थापित करके उन्हें धार्मिक शिक्षा प्रदान करने के केन्द्र बना दिया। उनके प्रचार में अद्भूत मेध ा, बुद्धि, पाण्डित्य और संगठन शक्ति का परिचय प्राप्त होता है। उनके धर्ममत का प्रभाव पहले बुद्धिमान पण्डित वर्ग के ऊपर पड़ा और उन लोगो में ही प्रतिष्ठित हुआ और उनसे क्रमशः समाज के निम्न स्तर के लोगो के अन्तःकरण को भी प्रभावित किया।

किन्तु योगिगुरु गोरक्षनाथ के लोक संग्रह की प्रणाली स्वतन्त्र है। उनकी प्रणाली के साथ प्राचीन युग के बुद्ध और बौद्धाचार्यो की एवं परवर्ती युग के चैतन्य, कबीर, नानक आदि गुरुओं की शिक्षा प्रणाली की समानता ही अधिक है। उन्होंने संस्कृत भाषा में कई उत्कृष्ट पुस्तकें अवश्य लिखीं, किन्तु उनमें कई ऐसी ही मिलती है जिनमें प्रधानतः योग का ही उपदेश है। गोरक्षसंहिता, गोरक्षकल्प, गोरक्षशतक, गोरक्षसहस्र, योगचिन्तामणि, योग–महिमा, योग सिद्धान्त पद्धति, विवेक मार्तण्ड, चतुरशीति आसन आदि ग्रन्थ उनके ही रचित माने जाते है। इनमें से अधिकतर प्रधानतः योग सम्बन्धी ग्रन्थ हैं। गोरक्षपिष्ठिका में रसायन की अलोचना है। ये सब पुस्तकें जन साधारण के लिये नहीं है; और इनका बहुत प्रचार भी नहीं हुआ। वर्तमान युग में भी ये पुस्तकें शिक्षित समाज की दृष्टि को आकृष्ट न कर सकी। यदि कोई साधारण मनुष्य बिना किसी योगसिद्ध गुरु से शिक्षा लिये केवल पुस्तक पढ़कर हठयोग का अभ्यास करने की चेष्टा करता है तो उससे सुफल की अपेक्षा कुफल होने की अधिक सम्भावना है। गोरक्षनाथ यदि केवल हठयोग के ही गुरु होते तो समाज के सभी स्तरों के लोगों पर उनका इतना प्रभाव न पड़ता। इसी प्रकार यदि भगवान् बुद्ध केवल निर्वाणप्रद अन्तरंग साधन के ही उपदेष्टा होते, तो जगत की एक तिहाई जनता आज उनके चलाये हुए संघ का आश्रय लेकर कल्याण की प्राप्ति न कर सकी होती। महाप्रभु चैतन्यदेव यदि केवल अन्तरंग रस साधना का ही उपदेश किये होते, तो जन साधारण उनको अपना प्रभु मानकर उन्हें अपने हवन मन्दिर में बैठाल कर कृतार्थ न हो पाता। बेदान्ताचार्य शंकर भी यदि केवल अन्तरंग आत्मज्ञान साधना के ही आचार्य होते तो वे हिन्दू समाज का संगठन करने में सफल न हो पाते। यह बात अवश्य ही स्वीकार करनी पड़ेगी कि, जो महापुरुष दार्शनिक युक्तियों की सुदृढ भित्ति के ऊपर जितने ही उच्च् आदर्श की प्रतिष्ठा कर

सकता है, एवं उस आदर्श की सहायता से मनुष्य के व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय और जातीय जीवन की जटिल समस्याओं की जितनी ही सरल मीमांसा के उपायों की शिक्षा दे सकता है, उस महापुरुष की शिक्षा उतना ही स्थायी होगी और भविष्य युगों के विचारशील मनुष्यों की बुद्धि को उतना ही अधिक आकृष्ट कर सकेगी। किन्तु कोई भी महापुरुष यदि अपनी दार्शनिकता के अत्युच्च शिखर पर आरूढ़ होकर साधारण लोगों के पहुँच के, बाहर ही सर्वदा स्थित रहे, तो साधारण लोग उन्हें अपना आश्रयदाता समझ कर उन्हें अपने हृदय में स्थान नहीं दे सकते; उनका प्रभाव भी उनके जीवनकाल में अधिक दूर तक तथा अधिक निम्नकोटि के लोगों तक नहीं फैल पाता। इसलिये जीवदुःखकातर परमंकारूणीक बुद्ध, चैतन्य, नानक, कबीर आदि विभिन्न युगों के धर्म प्रचारक महात्माओं के समान योगिराज गोरक्षनाथ ने भी योगधर्म' का सरल संस्करण करके उसका विभिन्न प्रदेशों की बोलचाल की भाषा में भारत के कोने–कोने में प्रचार किया। वे स्वयं सर्वत्र घूम–घूम कर अपने जीवन को ही आदर्श के रूप में सबके सम्मुख उपस्थित करते थे। राजा, प्रजा, धनी, निर्धन, पण्डित, मूर्ख, सदाचारी, कदाचारी, पुरुष, नारी, ब्राह्मण, चण्डाल, समाजनेता, समाज बहिष्कृत सबके निकट जाकर, सबके साथ समानभाव से मिलकर, वे अपने जीवन का आदर्श दिखलाते थे, एवं पवित्र उदारनीति और धर्म की शिक्षा देते थे। कभी–कभी वे भोगासक्त बहिर्मुख मनुष्यों को योग और ज्ञान की ओर आकृष्ट करने के लिये विस्मयकारी योगैश्वर्य प्रकट करके आध्यात्मिक शक्ति के माहात्म्य का प्रचार करते थें सभी श्रेणी के लोग उनको अपना समझ कर गुरु और रक्षक के रूप में श्रद्धा और आदर करते थे। उनके प्रभाव से राजमहिषी मयनामती एवं डोम का कर्म करनेवाला 'हाड़िसिद्ध' आपस में एक दूसरे को गुरुभाई और गुरुभग्नी कह कर श्रद्धा करते थे और प्रेम करते थे, एवं गोविन्द चन्द्र के समान राजपुत्र भी महाज्ञानी हाड़ी का

(डोम का) शिष्य बन जाता था। इस प्रकार जो महापुरुष ब्राह्मण से चाण्डाल तक मानवमात्र को अपना प्रेम वितरण करते है, वे अपने जीवन काल में ही समाज की विभिन्न श्रेणियों की संकीर्णता, हिंसा, विद्वेश आदि दोषों को प्रर्याप्त मात्रा में दूर करके समाज को उन्नत स्तर पर उठा जाते है, इसमें विन्दुमात्र भी संदेह नहीं है। किन्तु उसके तिरोभाव के बाद उनके चलाये हुए मत में साधारण अशिक्षित लोगों के नाना प्रकार के संस्कार मिल जाते है और उस मत को ऐसा विकृत कर देते है कि, कूड़े के भीतर से असली वस्तु को खोज निकालना भी कठिन हो जाता है। इस कोटि के आचार्यो की प्रसिद्धि सहज ही देवता या अवतार के रूप में होती है। उनके जीवन की घटनाएँ, अनेको मुखों से नाना प्रकार के रंगों में अतिरंजित होकर, ऐसे आकार में प्रचारित होती है कि ऐतिहासिक तथ्य को खोकर अधिकॉश में किंवदन्ती रूप में ही पर्यवसित होती है, एवं भविष्य के सत्यान्वेषीगण इस बात को समझाने में स्वभावतः ही असमर्थ हो जाते है कि उसमें बस्तुतः कोई सत्य है भी । उनके धर्म की विकृति भी अपेक्षाकृत अल्पकाल में ही होने लगती है, एवं उनके सम्प्रदाय के अशिक्षित लोगों के बीच धर्म के नाम पर नाना प्रकार के व्यभिचार भी सहज ही प्रवेश कर जाते है। इस कारण भी, जान पड़ता है, गोरक्षनाथ के जीवन की घटनाओं का अविष्कार करना इतना कठिन है। इसी कारण उनके सम्प्रदाय के अशिक्षित लोगों में योगधर्म की इतनी विकृति हो गई है।

बुद्ध, चैतन्य, कबीर आदि महात्माओं द्वारा प्रचारित धर्मो में भी इसी प्रकार की विकृति यथेष्ठ मात्रा में हुई है। इनमें से प्रत्येक की अवतार रूप में पूजा हुई थी और होती है। और प्रत्येक के जीवन के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार की अद्‌भुत कहानियों की रचना तथा प्रचार हुआ है। किन्तु बुद्ध के परवर्ती बौद्धाचार्यगण एवं चैतन्य के समकालीन तथा परवर्ती वैष्णावाचार्यगण संस्कृत भाषा में और उस काल की प्रचलित देशभाषा में युक्ति–संगत हृदयग्राही दार्शनिक

तथा साध्यसाधनरहस्यसमन्वित मूल्यवान ग्रन्थों की रचना करके उनके विशुद्ध धर्ममतों को चिरस्थायी बना गये है। कबीर के थोड़े से कविता गान और दोहा ही प्रचलित है और उनके सम्बन्ध में भी यह नहीं कहा जा सकता कि वे सब अविमिश्रित रूप में उन्हीं की रचना है। गोरक्षनाथ के सम्प्रदाय में हठयोग सम्बन्धी ग्रन्थों के अतिरिक्त विकराल स्थायी सर्वजनचित्ताकर्षक और दार्शनिक युक्तिपूर्ण की ग्रंथों की संख्या अपेक्षाकृत कम ही जान पड़ती है सम्भवतः तत्व सम्बन्ध में उन्होंने उप–निषद् का अद्वैतवाद ही ग्रहण किया था। उनके योग सम्बन्धी ग्रन्थों में भी अद्वैत सिद्धान्त ही ग्रहण किया गया है। उनके सम्प्रदाय के परवर्ती महापुरुष गण भी तत्वोपदेश देने के समय अद्वैत तत्व का ही उपदेश देते रहे है। शायद इसी कारण दार्शनिक ग्रन्थ न लिखकर उन्होंने साधन पद्धति के सम्बन्ध ा में विस्तृत उपदेश पूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। अपने सम्प्रदाय को साम्प्रदायिकता से मुक्त रखने के उद्देश्य से उन्होंने अपने मत को द्वैताद्वैत विलक्षण कहकर वर्णन किया। हठयोग साधारण लोगों के समझ में भी नहीं आता और चित्ताकर्षक भी नहीं होता। विशेषतः अध्यात्मज्ञान–निष्ठ मुमुक्षु के अतिरिक्त अन्य लोग हठयोग का अभ्यास करके उस शक्ति का जिस प्रकार अपव्यवहार करते है, वह देखकर हठयोगी के प्रति बहुत लोगों की भ्रान्त धारणा बन जाती है। इसी कारण वर्तमान शिक्षित समाज में बुद्ध, शंकर, चैतन्य आदि के धर्ममतों के समान उनके धर्म मत का उतना आदर नहीं देखा जाता।

किन्तु बौद्ध गाथा, एवं कबीर, तुलसीदास, दादू आदि के साहित्य के समान गोरक्षनाथ की कीर्ति और धर्ममत का विज्ञापक एक गाथा साहित्य का भारत के सब भागों में प्रचार हुआ है। अनेकों प्रादेशिक भाषाओं में यह गाथायें प्रचलित देखी जाती है। उड़िया भाषा में लिखित गोविन्दचन्द्र के गीत उड़िया प्रान्त में मिलते है। बिहार, उत्तर प्रदेश और पंजाब आदि प्रदेशों में हिन्दी भाषा में रचित

'गोपीचन्द्र की पोथी' का प्रचलन है। गुजरात और महाराष्ट्र देश में गोविन्दचन्द्र के प्रसंग को लेकर अनेक प्रकार के नाटकों की रचना हुई है और आज भी होती है। यह कहने की आवश्यकता नही कि इन सबकी उत्पत्ति उसी गाथा साहित्य से ही हुई है। ये गाथाये भारत की जातीय साधना की अमूल्य सम्पत्ति है। किन्तु वर्तमान शिक्षित समाज उसके अधिकॉश से अपरिचित है। बंगला भाषा गोरक्ष भक्तों का कितना ऋणी है, इसको तो चैतन्य देव के पूर्ववर्ती बंगला साहित्य की आलोचना पर ही समझा जा सकता है। प्राचीन हिन्दी साहित्य के ऊपर भी गोरक्षनाथ के सम्प्रदाय का आसाधारण प्रभाव पड़ा है। दक्षिण भारत में भी प्राचीन साहित्य के उपर गोरक्षनाथ के जीवन और उपदेश का प्रभाव पड़ा है।

अन्तरंग और बहिरंग साधना

विभिन्न युगधर्मप्रवर्तकों के समान गोरक्षनाथजी ने भी अपने धर्मोपदेश को दो भागों मे विभक्त किया था; एक अन्तरंग और दूसरा बहिरंग। भगवान् बुद्ध जिस प्रकार संसार त्यागी वैराग्यवान् विशुद्ध चित्त भिक्षुओं को साक्षात् निर्वाणपद अन्तरंग समाधिकौशल की शिक्षा देते थे, एवं संसार त्याग में असमर्थ अविशुद्धचित साधारण गृहस्थों को अहिंसा, सत्य, पवित्रता, मैत्री, दान, पारलौकिक क्रिया आदि उदार सर्वजन ग्राह्म धर्म नीति का प्रचार करते थे, वेदान्ताचार्य शंकर जिस प्रकार सदसद्विवेकवान्, ऐहिक और पारलौकिक विषय भोगों के प्रति वैराग्यवान्, शमदमादिसम्पन्न मुमुक्षु के लिये 'ही सर्वोपाधिविनिर्मुक्त निर्गुण ब्रह्मस्वरूप का एवं तत्वमसि' 'अहम ब्रह्मास्मि' 'मर्व खल्विदं ब्रह्म' आदि महावाक्यों का श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूप अन्तरंग ज्ञानयोग' का तथा सर्वकर्मसंन्यास का उपदेश देते थे, एवं सर्वसाधारण के लिये निज निज अधि ाकारानुरूप शस्त्रविहित ऐहिक और पारलौकिक शुभ कर्म देवपूजा, भगवद्क्ति आदि का उपदेश प्रचार करते थे; प्रेमावतार चैतन्य जिस

प्रकार विजितेन्द्रिय, रागद्वेष विहीन, वैराग्य में सुप्रतिष्ठित, तत्वज्ञानी, अनन्यचित्त, अंतरंग भक्तों के साथ ही उच्चाँग प्रेमरससाधना की आलोचना करते थे, एवं अन्य लोगों को भक्तियुक्त चित्त से अपने अपने धर्मो का अनुष्ठान करते हुऐ नाम संकीर्तन और नाम जप करने का उपदेश करते थे; उसी प्रकार योगी गुरु गोरक्षनाथ भी संसार विरागी धर्ममयजीवन, विशुद्ध चरित्र, मुक्ति पिपासुओं को ही हठयोग और राजयोग के अन्तरंग रहस्यों की और महाज्ञान की शिक्षा देते थे एवं उच्च–नीच सभी श्रेणी के गृहस्थों को उनके अधिकारानुसार उनकी ही भाषा में मानव के उद्देश्य की और तत्वज्ञान की व्याख्या करते थे, योग का बहिरंग प्रचार करते थे। शिव चरित्र और शैव धर्म का माहात्म्य कीर्तन करते थे, उदार और सार्वजनीन धर्म और नीति का उपदेश करते थे। उन्होंने भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रदेशों में विभिन्न स्थानों में शिव मन्दिर और योगियों का अस्ताना स्थापित करके जिस प्रकार संसार त्यागी योगियों के योग साधना की सुविधा कर दिया था उसी प्रकार जन साधारण में धर्म शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था भी किया था।

यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि यह निश्चय पूर्वक कोई नहीं कह सकता कि योगिवर गोरक्षनाथजी ने किस समय धर्म प्रचार करना आरम्भ किया था। किन्तु यह बात तो पूर्ण निश्चय के साथ कही जा सकती है कि हजार वर्षो से भी अधिक काल से समग्र भारतवर्ष में उच्च–नीच सभी श्रेणी के मनुष्यों में उनके जीवन और शिक्षा का प्रभाव अक्षुण्ण बना है। उनके सम्प्रदाय का विस्तार और प्रभाव आज भी समग्र भारत में परिदृश्यमान है। आज भी उनके सम्प्रदाय में योगैश्वर्य सम्पन्न तत्वज्ञानी महापुरुषों का आविर्भाव देखा जाता है। उनके विशिष्ट धर्ममत का प्रचार साधारण लोक समाज में विशेष रूप से हुआ हो अथवा न हुआ हो, आज भी सम्प्रदाय के मठों की सुव्यवस्था के फलस्वरूप एवं उन सब महापुरुषों के चरित्र के आकर्षण से और शक्ति प्रभाव से असंख्य

योगी आदित्यनाथ

शान्तिकामी संसार विरागी लोग उसमें आश्रय प्राप्त करते है। यह बात असंगत नहीं है कि, वास्तव में गोरक्षनाथ अमर है, आज भी उनका जीवन प्रभाव भारतवर्ष के धर्म साधन क्षेत्र में सर्वत्र अनुभूत होता है। उनकी जीवन धारा क्रिया कलाप के सम्बन्ध में विस्तृत आलोचना इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य नहीं है। साहित्याचार्य श्रीयुत दिनेश चन्द्र सेन महाशय के 'बंग भाषा और साहित्य' नामक ग्रन्थ से गोरक्षनाथ के उज्ज्वल चरित्र तथा बंग देश के साथ उनके सम्बन्ध के विषय में केवल कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ।

"गोरक्ष विजय के समान ऐसा अपूर्व ग्रन्थ जो बंग साहित्य के आदि युग में रचा गया, वह हमारे गौरव की बात है। गोरक्ष योगी का चरित्र शरद् सेफालिका या यूथिका के समान शुभ्र है, उनका चरित्र माहात्म्य बंग साहित्य के आदि युग का एक प्रधान दिक् निर्देशक स्तम्भ है। यह बौद्व युग के चरित्रबल, उच्च नीति, गुरु भक्ति आदि महत् गुण राशियों को उज्जवल करके दिखाता है। विशाल पर्वत माला जिस प्रकार देश के उत्तर सीमा का चिन्ह है। उसी प्रकार 'गोरक्ष विजय' बंग देश के साहित्य का युग निर्देशक चिन्ह है। इस चिन्ह के बाद विभिन्न य़ुगों और विभिन्न राज्यों का इलाका है; तब ब्राह्मणो ने आकर संस्कृत साहित्य का मन्थन किया, ग्राम्य भाषा का निरादर करके संस्कृत शब्दों द्वारा बंग भाषा को सजाया एवं कठोर ज्ञान मार्ग और चरित्रबल के मार्ग को छोड़कर कोमल भक्ति और प्रेम कुसुमाकीर्ण पथ पर लोक चरित्र को हठात् खींच लाये। इस अपूर्व पुस्तक की ग्राम्य भाषा और रूचि यदि पाठक को भ्रान्त और भग्नोत्साह करती है तो वह साहित्य के एक महार्ध आकार के परिचय से वंचित रह जाता है गोरक्ष तो भगवती के सभी प्रलोभनों को एक एक करके जीत कर यहूदी श्रेष्ठ जेहोवा के समान अंकुण्ठित भाव से स्थैर्यपरायण बना रहा। नारी के ललाम सौन्दर्य और प्रेम निवेदन की नई–नई कसौटियों पर उनका चरित्र कई बार कसा गया, किन्तु प्रति बार ही वह खरा

सोना ही निकला। पार्वती ने स्पर्धा के साथ शिव से कहा कि, उनकी माया के सामने योगी की साधना क्या चीज है। कितने ही योगी रूप के जाल में पड़ कर फँस गये, स्वयं मीननाथ मीन ही के समान जाल में आबद्ध हो गये, किन्तु गोरक्षनाथ के निकट पार्वती का उच्च शिर नीचे झुक गया।

गोरक्षनाथ ने किस प्रकार नर्तकी का वेश धारण करके कदली पत्तन में अपने गुरु का उद्धार किया था, मृदंग की ध्वनि से किस प्रकार गुरु के हृदय में उद्‌बोधन हुआ था, मृदंग से 'काया साधो' उपदेश के बारंवार ध्वनित होने से किस प्रकार कदलीपत्तन का राज प्रासाद कॉप उठा था, इत्यादि बातें पाठक स्वंय पढ़कर कृतार्थ हों। जिस चरित्रबल एवं निस्वार्थ और अहैतुकी भक्ति के ऊपर इस ग्रन्थ की भित्ती, प्रतिष्ठापित है, वह बंग साहित्य की दूसरी पुस्तक में नहीं है। जिस प्रकार आलोकस्तम्भ बौद्धयुग का निदर्शन है, उसी प्रकार यह पुस्तक नाथ–धर्म के गौरव का निदर्शन है। इस नाथ–धर्म में बौद्ध और शैव धर्मो के श्रेष्ठ उपकरणों का मिश्रण हुआ है। आश्र्चय का विषय तो यह है कि ग्रामीण मुसलमान और अशिक्षित व्यक्तिगण भी इस दुरूह योगमार्ग के विषयें का अनुशीलन करते थे।

"गोरक्ष विजय से इस बात का आभास मिलता है कि, इसी योगी ने ही कालीघाट के मन्दिर की प्रतिष्ठा की थी। विश्वकोष में बहुत पूर्व का लेख है कि, लौकिक प्रवाद के अनुसार गोरक्षनाथ ने ही कालीघाट की काली की प्रतिष्ठा की थी। जब यह बात लिखी गई थी उस समय 'गोरख विजय' के अस्तित्व का किसी को ज्ञान भी न था। सुतरां यह पुस्तक प्राचीन प्रवाद को दृढ़ करती है। समस्त भारतवर्ष में गोरक्षनाथ का शिष्य सम्प्रदायं वर्तमान है। इस नाथ सम्प्रदाय की चेष्टा से ही गोरक्षनाथ की कीर्ति के विज्ञापक साहित्य का भारतवर्ष में सर्वत्र प्रचार हुआ। मयनामती के गीत इस

साहित्य के ही अन्तर्गत है। धर्म मंगल की पोथियो में से भी किसी–किसी में हम मीननाथ, गोरक्षनाथ, हाड़िपा, कानफा आदि नाथ गुरुओं के सम्बन्ध में सश्रद्ध उल्लेख पाते है। सुतरां इसमें सन्देह करने का कोई कारण नही कि इन लोगों में धर्म मत के विषय में किसी प्रकार की एकता थी।

"ये सारी गाथायें ब्राह्मण धर्म के पुनरूत्थान से पूर्व काल की है। साधारण जन समाज में तब भी रामायण महाभारत आदि का पठन–पाठन इस देश में आरम्भ न हुआ था।"

द्वितीय अध्याय

गोरक्षनाथ मन्दिर में तरुण योगार्थी

योगी गुरु गोरक्षनाथ द्वारा प्रवर्तित नाथयोगिसम्प्रदाय का आसाधारण आध्यात्मिक प्रभाव भारतवर्ष के सभी प्रान्तों में फैल गया है। भारत क बाहर तिब्बत अफगानिस्तान आदि देशों में भी इस सम्प्रदाय के प्रभाव का प्रमाण मिलता है। प्रायः सभी प्रदेशों में गोरक्षनाथ के नाम से मठ, मन्दिर, आश्रम और योग गुफा आदि देखे जाते है। नाथ योगी साधुगण सर्वत्र ही निष्किञ्चन रूप में विचरण करते रहते है। गोरक्षनाथ के अनुवर्ती महात्माओ ने वन–जंगलों में, पहाड़ पर्वतों पर शहरो बन्दरगाहों में श्मशान क्षेत्र और तीर्थ क्षेत्रों में असंख्य शिवलिंगो की तथा काली मूर्तियों की स्थापना की। त्याग–वैराग्य और योग–तपस्या में दीक्षित नाथ योगियों ने सम्पूर्ण देश में, सभी श्रेणी के नर–नारियों के बीच योगीश्वर, ज्ञानीश्वर तथा त्यागीश्वर महादेव की, एवं उनकी –अघटनघटनपटीयसी' सृष्टिस्थितिप्रलयविधयनी और ज्ञानप्रेमप्रदायिनी महाशक्ति की उपासना का प्रचार किया।उन् लोगो ने योग और ज्ञान के गम्भीर तत्वों को सरल और सरस करके एवं भक्ति प्रेम से अभिसिञ्चत करके सर्वसाधारण के मध्य आध्यात्मिक–शिक्षा का विस्तार किया।

गोरखनाथ मन्दिर

भारतवर्ष के विभिन्न स्थानों में नाथयोगि सम्प्रदाय के जो मठ मन्दिरादि प्रतिष्ठित है।, उनमें से उत्तर प्रदेश गोरखपुर नगर के निकट गोरक्षनाथ मन्दिर का एक विशेष इतिहास और मर्यादा है। ऐसी किबदन्ती है कि, योगीगुरु गोरक्षनाथजो बहुत काल तक इस जंगलाकीर्ण निर्जन स्थान में योग तपस्या में निमग्न रहे। परन्तु यह कहना सम्भव नहीं कि उन्होंने किस युग में और कितने

कालतक यहॉ साधना की थी। उस समय इस स्थान के निकट किसी प्रकार की बस्तीं के होने में भी संदेह है नगर की तो बात ही क्या है? गोरक्षनाथजी की तपोभूमि को ही केन्द्र बनाकर यहॉ एक बस्ती बन गई और वही क्रमशः एक नगर के रूप में परिणित हो गई। उन्हीं के नाम के अनुसार इस नगर तथा अंचल का भी नाकरण हुआ। लोगों का विश्वास है कि यह मठ और मन्दिर गोरक्षनाथजी के तपस्याकाल से ही विद्यमान है। देश काल ओर अवस्था के परिवर्तन के साथ साथ मठ का बाहरी स्वरूप अवश्य ही बहुत बदल गया है। निष्किचन योगी के मठ में कितने ऐश्वर्यो का योग हो गया है। सम्पूर्ण वर्ष साधुगण और तीर्थ यात्रियो के समागम से तथा शहर और गावों के निकट होने के कारण अब यह स्थान निर्जन तपोभूमि न रहा, परन्तु आश्रम की साधन धारा गुरुशिष्य परम्परा–क्रम से गोरक्षनाथजी के समय से ही अटूट चली आ रही है। इसके गौरव का सभी लोग मानते है।

उपासना की सार्वजनीनता

इस मन्दिर में लक्ष्य करने की बात यह है कि, इसमें काई देव विग्रह प्रतिष्ठित नहीं है– अर्थात शिव शक्ति या गोरक्षनाथ की कोई मूर्ति नहीं है। मन्दिर में आसन वेदी है। उसी के ऊपर परमदेवता के उद्देश्य से नियमित रूप से विधि पूर्वक दैनन्दिनी पूजार्चना होती है। वेदी के सम्मुख उपस्थित होकर कोई भी साधक अपने अभीष्ट किसी भी मूर्ति का स्मरण या कल्पना करके भक्ति श्रद्धा का निवेदन कर सकता है, अथवा निराकार निरंजन ब्रह्म के ध्यान में निमग्न हो सकता है। यह वेदी मानो सर्वाधार, सर्वाधिष्ठान, अर्थात सर्वविशेषवर्जित, सर्वविशेषाश्रय परमपद परमधाम है। यहॉ पर निज भाववेश के अनुसार कोई भी साधक किसी भी भाव की लीला का दर्शन और आस्वादन कर सकता है, अथवा सब विशेषों की, सब खण्ड सत्ताओं की, सब भेद वैषम्यों की

जो चरम ऐक्यभूमि है।, उस अखण्ड अनन्त निर्विशेष सच्चिदानन्दस्वरूप के निविड़ ध्यान में समाहित भी हो सकता है। गोरक्षनाथजी के दार्शनिक मत का प्रचार 'द्वैताद्वैत विवर्जित' कहकर ही हुआ। उनके यथार्थ अनुवर्तीगण सब देव–देवियों की उपासना में विश्वास करते है।, फिर भी परमतत्व को समस्त द्वैताद्वैत विषयक मत मतान्तरों से उर्ध्व जान कर सभी प्रकार के साम्प्रादायिक बाद–विवादों में विरत रहते है। योगि सम्प्रदाय के इस कन्द्रीय मन्दिर में किसी विशेष विग्रह का न रहना ही मानों इसके सिद्धान्त और उपासना का सार्वजनीनता ही सूचित करता हैं शैव, शाक्त, वैष्णव, रामायत, गृहस्थ और संन्यासी, साकारोपासक, निराकार साधक, सगुणवादी सभी लोग इसको अपना मान सकते हैं एवं इसमें अपने संस्कारानुसार आराधना कर सकते है।

नाथ–तत्व

'गोरक्षनाथ सिद्धान्त संग्रह' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में नाथ तत्व का इस प्रकार निरूपण किया गया है।–

निर्गुण वामभागे च सव्यभागेऽद्भुता निजा।
मध्यभागे स्वयं पूर्णस्तस्मै नाथाय ते नमः।।
मुक्ताः स्तुवन्ति पादाग्रे नखाग्रे जीवजातयः।
मुक्तामुक्तगतेर्मुक्तः सर्वत्र रमते स्थिरः।।
वामभागे स्थितः शम्भुः सव्ये विष्णुस्तथैव च।
मध्ये नाथः परं ज्योतिस्तज्ज्योर्मत्तमोहरम्।।

जिसके वाम भाग में निर्गुण एवं दक्षिण भाग में स्वकीया अनिर्वचनीया महाशक्ति विराजमान है और जो निर्गुण और सगुण दोनो भावों का आलिंगन करके मध्यभाग में स्वयं पूर्ण स्वरूप में विराजमान है,

उसी नाथ को नमस्कार है। मुक्त पुरुषगण जिसके चरणों के समक्ष निरन्तर स्तुति करते रहते हैं ओर बुद्ध जीव गण जिसके नखाग्र में जन्ममृत्यु सुखदुःखदि के अधीन होकर नित्य विद्यमान रहते हैं, जो स्वयं मुक्तगति और बद्धगति से नित्य मुक्त रहकर सब देश और सब काल में अचल प्रतिष्ठ रूप से परमानन्द में विराजमान रहता है, उसी नाथ को नमस्कार है। जिसके बाम भाग मे शम्भु एवं दक्षिण भाग मे विष्णु तथा दोनों के बीच में स्वयं चिदानन्द ज्योति स्वरूप में विराजमान रहता है वही परम ज्योति मेरे अज्ञानान्धकार का नाश करे।

ये नाथ ही मन्दिर के देवता है। ये तो सब जीवों के हृदय मन्दिर के देवता है, विश्व मन्दिर के देवता है। वे नित्य निर्गुण होकर भी नित्य सगुण हैं, नित्य निष्क्रिय होकर भी नित्य सक्रिय हैं, नित्य एक होकर भी नित्य बहु हैं, नित्य सर्वातीत होकर भी नित्य सर्वव्यापी हैं, सब नामरूपों के ऊर्ध्व में रहते हुए भी सब नामों में और सब रूपों में लीला विलास करते रहते हैं। उनकी ही स्वकीया महाशक्ति उन्हींको अधिष्ठान और आश्रय बनाकर, अनन्तकाल, अनन्त देश और अनन्त भावों में अपने को अभिव्यक्त कर रही है, तथापि इस नियत क्रियाशीला महाशक्ति को अपने वक्षस्थल पर ध ारण करके ही वे नित्य स्थिर, अचल, अटल, आत्मसमाहित और आत्मानन्द में विभोर रहते हैं। यही नाथ ही योगियों और ज्ञानियों के नित्य आराध्य हैं, नित्य जीवनादर्श हैं। भक्तिपूत हृदय में इसी नाथ की ही आराधना करके, ज्ञान में इन नाथ की परमतत्व के रूप में उपलब्धि करके, योग में समग्र जीवन को नाथमय करके संसार के सब प्रकार के बन्धनों से, सब प्रकार के क्लेश और कर्म विपाकाशय से सम्यक् मुक्ति प्राप्त करना ही जीवन का लक्ष्य है। इसी आदर्श को योगीगुरु गोरक्षनाथ तथा उनके अनुवर्ती ने सब साधकों के सम्मुख उपस्थित किया है।

इस नित्य सत्य परमतत्व नाथ को लक्ष्य करके ही नाथ मन्दिर में सेवा पूजा और साधन भजन का विधान है। बाहरी उपचारों से बाहरी पूजा होती है, जो बहिरंग साधना का अंग होता है। सच्चे मुमुक्ष साधक के लिये तो देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, हृदय और बुद्धि सभी नाथ पूजा के उपकरण हैं। सभी कुछ उनकी सेवा में उत्सर्ग करना पड़ता है, सबको उन्हीं के भाव से भावित करना पड़ता है, समग्र जीवन को तन्मय कर देने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना पड़ता है। इसी उद्देश्य से भक्ति, योग और ज्ञान के सब प्रकार के साधनों की व्यवस्था है।

साधक जब दीर्घकाल की निरन्तर साधना द्वारा सम्यक् सिद्धि प्राप्त कर लेता है, तब उसे नाथत्व की प्राप्ति होती है, वह नित्य नाथ के साथ और परम ब्रह्म के साथ अभिन्नत्व की उपलब्धि करता है। यह नाथत्व की प्राप्ति ही नाथयोगियों की साधना का लक्ष्य है। जो इस चरम सिद्धि में प्रतिष्ठित हो जाता है, उसी को अवधूत कहते हैं। इसी कारण गोरक्षनाथ के सम्प्रदाय को 'नाथयोगी' 'सिद्धयोगी' और 'अवधूत' आदि नाम दिया जाता है। ये लोग शिव को ही आदिनाथ कहकर उपासना करते हैं। शिव ही योगियों के गुरु हैं, ज्ञानियों के गुरु हैं, भक्तों के गुरु हैं, प्रेमियों के गुरु हैं, सबके ही गुरु हैं–

'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।' (योगसूत्र) सिद्धयोगी शिवस्वरूपत्व प्राप्त कर लेता है। गोरक्षनाथजी ने पूर्ण रूप से शिवस्वरूपत्व में प्रतिष्ठित होकर सम्यक् नाथत्व की प्राप्ति की थी। उनके सम्प्रदाय के और भी अनेक योगियों ने योग और ज्ञान की पराकाष्ठा में पहुँचकर मानव जीवन की चरम कृतार्थता को प्राप्त किया था। इस प्रकार के अनेक महासिद्धों और महायोगियों का नाम योग ग्रन्थों में देखा जाता है। प्रत्येक मठ और मन्दिर आरम्भ में योग साधना के केन्द्ररूप में ही प्रतिष्ठित हुए थे। साधकों के

अभाव से अनेक केन्द्रों का पूर्व गौरव लुप्त हो गया। गोरखपुर के साथ संलग्न गोरक्षनाथ मठ दीर्घकाल से योग साधना के केन्द्र के रूप में अपनी ख्याति को अक्षुण्य रखे हैं। आज भी यही मठ उत्तर भारत के योगि सम्प्रदाय का प्रधान केन्द्र है।

मठ और मठाध्यक्ष

मन्दिर, मठ और आश्रम सम्प्रदाय के सम्पर्क के सभी कार्यो को सुनियन्त्रित करने के लिए एक मठाध्यक्ष मनोनीत होता है। उसी के तत्वाधान में सभी कार्य परिचालित होते हैं। उसको गुरु गोरक्षनाथ का प्रतिनिधि समझ कर साधु तथा धर्मार्थी गृहस्थगण सम्मान देते हैं और वह महन्त पदवी से अलंकृत किया जाता है। साधारण रीति के अनुसार गुरु शिष्य परम्पराक्रम से ही महन्त का निर्वाचन और नियुक्ति होती है। महन्त के नैतिक और आध्यात्मिक जीवन, शास्त्र ज्ञान, आदर्शनिष्ठा, चरित्र–बल, और व्यक्तित्व के प्रभाव के ऊपर ही प्रतिष्ठान का नैतिक और आध्यात्मिक वातावरण, सुश्रृखंला विधि–व्यवस्था, पवित्रता और सौन्दर्य एवं जन साधारण के ऊपर उसका प्रभाव प्रधानतः निर्भर रहता है। अनेक धर्म पिपासु और योगज्ञान पिपासु मुमुक्षु युवक संसार का परित्याग करके साध्यसाधन तत्व सम्बन्धी शिक्षा एवं योग साधना के अनुकूल आवेष्ठी प्राप्त करने के उद्देश्य से आश्रम में आते हैं और मठाध्यक्ष के शरणापन्न होते हैं। उनकी आध्यात्मिक पिपासा को चरितार्थ करने की सुचारु व्यवस्था करना मठाध्यक्ष का प्रधान कर्तव्य होता है। मठ प्रतिष्ठा का यही मुख्य उद्देश्य है। इस व्यवस्था के अभाव होने से ही प्रतिष्ठान की प्राणशक्ति का भी अभाव हो जाता है। महन्त की योग्यता के ऊपर यह सारी व्यवस्था निर्भर रहती है।

इन सब विषयों में गोरक्षपुर केन्द्र के गोरक्षनाथमठ की विशेष प्रसिद्धि दीर्घकाल तक अक्षुण्ण बनी रही। अनेक प्रभावशाली योगी इसके महन्त पदपर आरूढ़ हुए तथा असाधारण योग्यता के

साथ योगीगुरु गोरक्षनाथजी के आदर्श का लोक समाज में प्रचार किये। इस मठ में शिक्षा दीक्षा प्राप्त करके कितने ही योग साधक कठोर साधना द्वारा कृतार्थ ही गये। उनके त्याग वैराग्य और योग विभूतियों को देखकर एवं उनके माधुर्य मय चरित्र पर मुग्ध होकर कितने धार्मिक व्यक्ति योगमार्ग की ओर आकृष्ट हुए। मठ के योग साधकगण तीर्थ यात्रा के उपलक्ष्य से सुदूर देशों में जाकर इसकी महिमा का प्रचार किये। कोई कोई साधक तो योगसाधना के समुन्नत सोपान पर आरोहण करके सिद्ध योगिराट् हो गये। इस प्रकार कितनी शताब्दियों से गोरक्षनाथ के तपःपूत पवित्र क्षेत्र में प्रतिष्ठित यह मन्दिर और आश्रम अपनी अक्षुण्ण प्राणशक्ति के साथ योग साधना के आदर्श का प्रचार करके गौरवान्वित होता रहा। देश में इसकी ख्याति भी विस्तृत हुई।

ऊनविंश ईशवी शताब्दी का समय था। बाबा गोपालनाथ उस समय महन्त की गद्दी पर समासीन थे। एक प्रभावशाली योगी के रूप में उनकी प्रसिद्धि हो चुकी थी। आश्रम में उस समय बाहरी चकाचौध कम ही था। आधुनिकता का आडम्बर तो बिल्कुल था ही नहीं। संसार त्यागी भोग विमुख साधुगण ही आश्रम में निवास करते थे। प्रति मंगलवार को शहर के धार्मिक गृहस्थगण श्री नाथ जी के आसन के सम्मुख प्रणाम तथा पूजा करने आते थे। पर्वादि के उपलक्ष्य में देहात तथा और दूर दूरान्त से बहुत तीर्थ यात्रियों का समागम होता था। आश्रम में कोई पक्की इमारत न थी ओर न बिस्तार हुआ था नागरिक सभ्यता की ही। साधु तथा अभ्यागतों के निवास के लिये छोटी–छोटी कुटियाँ बनी थी। आगन्तुक साधुओं की सेवा के लिये यथोचित व्यवस्था थी। आश्रम के चारों तरफ आम तथा फूलों की वाटिका और स्वाभाविक वृक्ष लताओं का वन लगा था। इस प्रकार आश्रम का स्वरूप प्राचीन तपोभूमि के आदर्शनुसार ही था। बहिर्जगत के कोलाहल के साथ इसका कोई सम्पर्क न था। साधुगण अपने–अपने साधन भजन एवं मन्दिर की सेवा पूजा में ही

संलग्न रहते थे। पर्यटक साधुओं एवं तीर्थ यात्रियों के द्वारा गोरखपुर के गोरक्षनाथ मन्दिर तथा उसके यौगिक प्रभाव सम्पन्न अध्यक्ष की सुकीर्ति बहुदूरवर्ती धर्मार्थियों के कानों तक पहुँचती थी।

गोरखपुर मठ में आगमन

एक दिन इसी मन्दिर में एक नवयुवक का आविर्भाव हुआ। उनके आकार प्रकार ही कुछ इस तरह असाधारण थे कि जिससे आश्रमस्थ साधुओं की दृष्टि उनकी ओर विशेषरूप से आकृष्ट हुई। उनका समुन्नत सुगठित शरीर, प्रशस्त ललाट, विशाल वक्ष, आजानुलम्बित बाहु, उन्नत नासिका, सुकोमल रक्तवर्ण करतल ओर पदतल, सुगोल और लम्बी लम्बी अंगुलियाँ अंग प्रत्यग में ही कुछ इस प्रकार की विशेषता थी जिससे उनको एक साधारण व्यक्ति मानने में ही संकोच होता था। दोनों नेत्रों से मानो एक दिव्य ज्योति विकीर्ण हो रही हो तथापि चितवन में जैसे एक उदासी और करुणा का भाव भरा था। नवयौवन के असाधारण रूपलावण्य के साथ प्रधान योगिपुरुषोचित असाधारण गाम्भीर्य का समावेश था, एक विशिष्ट संभ्रान्त व्यक्ति के समान मर्यादा बोध और शिष्टाचार था और इस सब के साथ था एक दीन शिक्षार्थी के समान कमनीय विनय। सब साधुगण आगन्तुक नव–युवक को देखकर विमोहित हो गये। उनके शरीर पर था मूल्यवान रेशमी वस्त्र–वेषभूषा थी एक धनी सम्भ्रान्त कुल के शिक्षित तरुण के समान, मुखमण्डल पर दाढ़ी मोछ न था किन्तु रेख उठ रही थी। तथापि इन सब के भीतर कहीं भी किसी प्रकार की कृत्रिमता का चिह्न भी न था, विलासिता या दाम्भिकता का लेश भी न था।

आश्रम निवासी साधुओं ने पहले सोचा कि, कोई सम्भ्रान्त धनी सन्तान विनोदार्थ तीर्थयात्रा में निकला है, तथा दर्शन और प्रणाम करके ही चला जायगा। आगन्तुक युवक आसनस्थ अदृश्य देवता के सम्मुख भक्ति विनीत चित्त से प्रणत हुआ, साधुओं को

अभिवादन किया, किन्तु लौट जाने का कोई लक्षण नहीं प्रकट किया। उनके हाव भाव से यही बोध हुआ, कि मानों आश्रम में निवास करने के लिए ही आये थे। ऐसा प्रतीत होता था कि मानों वे किसी वस्तु का अनुसन्धान कर रहे हों, मानो किसी के लिये प्रतीक्षा कर रहे हों ! साधु उनके परिचय और उद्देश्य को जानने के लिये उत्सुकता प्रकट किये परन्तु गम्भीरात्मा युवक कुछ न बोला। उसने किसी की किसी बात का उत्तर न दिया; तथापि उनके व्यवहार में औद्धत्य का लक्षण बिन्दुमात्र भी न था। उनसे उनका किसी प्रकार का परिचय न मिल सका। उन्होंने बड़े धीरभाव से महन्त महाराज के दर्शन की प्रार्थना की।

स्वभाव और संस्कृति का परिचय

महन्त जी ने उस सम्भ्रान्त नवयुवक का आदर पूर्वक स्वागत किया। दोनों के बीच जो मृदुल वार्तालाप हुआ उसको कोई दूसरा न जान सका। महन्त महाराज से केवल इतनी बात सेवकों को मालूम हो सकी कि वह तरुण योगार्थी अपने वैराग्य के प्रावल्य से घर छोड़ कर चला आया है, उसके अन्तर में असाधारण तत्वज्ञान की पिपासा है, तथा योग साधना में दीक्षित होने के लिये उसके प्राण व्याकुल हैं। साधुओं को आश्चर्य हुआ कि ऐसे सम्भ्रान्त परिवार के इस बुद्धिमान्, बलवान् और शिक्षित युवक के चित्त में ऐसे कठोर वैराग्य तथा सुतीव्र योग पिपासा का उदय किस प्रकार हुआ ? सब प्रकार के सांसारिक अभ्युदय और सुख सम्पत्ति की आशा का परित्याग करके उसने एक अज्ञान विघ्नवाधापूर्ण मार्ग पर चलने की इच्छा ही क्यों की ? आश्रम के वृद्ध योगीगण उसको इस संकल्प का परित्याग करके फिर घर लौट जाने का उपदेश देने लगे। इस मार्ग पर कितना कायक्लेश, कितनी बाधा–विपत्ति, कितनी विकट परीक्षाओं पर परीक्षायें होती हैं ! शास्त्रों में इस मार्ग की तुलना शान पर चढ़ी हुई तलवार की धार से की गई है–

"क्षुरल्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्ग पथस्तत्कवयो वदन्ति।"

युवक ने विनय के साथ नतशिर होकर वृद्धों का उपदेश सुन लिया किन्तु उसके दृढ़ संकल्प में कोई परिवर्तन न हुआ। योग मार्ग की विभीषिकाओं को बात सुनकर उसके अन्तर में किसी प्रकार की दुर्बलता का कोई चिन्ह ही प्रकाशित हुआ न वे किसी तर्क–वितर्क में पड़े, न किसी बात का प्रतिवाद किये, विनयपूर्वक गाम्भीर्य के साथ सबकी सब बातें सभी युक्ति विचार केवल सुन लिये तथापि उसके सिद्धान्त में कोई व्यक्तिक्रम न हुआ, भाव में कोई विलक्षणता न आई। विचारशील साधुगण समझ गये कि, योगाचार्य महर्षि पतञ्जलि ने अपने योग सूत्र में "जिसको अधि तीव्र संवेग" नाम दिया है, उसको लेकर ही युवक ने गृह त्याग किया है और योग साधना में प्रवृत होने का संकल्प किया है।

योगार्थी युवक आश्रम में रह गया। धीरे–धीरे बिना किसी आडम्बर के कीमती वस्त्रों का वितरण करके दीन योगी वेश धारण किया। उनके पास कुछ धन भी था। उसमें से कुछ तो दीन दुःखियों को दान कर दिया, कुछ साधुओं की सेवा में व्यय किया, शेष गुरु के चरणों पर अर्पण कर दिया और स्वयं सम्पूर्ण रूप से निष्किञ्चन हो गये। उनको इस बात का विचार भी न हुआ कि साधु जीवन में भी कथंचित धन की आवश्यकता हो सकती है। अर्थ के प्रति ममता और आशक्ति का लेश मात्र भी उनके ह्रदय में स्थान न था। साधुओं ने देखा कि वे दान में पूर्व से ही मुक्त हस्त थे एवं साधु सेवा और दीन–दुःखियों की सेवा में उन्हें एक गम्भीर आनन्द का बोध होता था। यह भी जान पड़ता था कि सेवाकर्म में निपुणता भी उन्हें पूर्व से ही प्राप्त थी। सहसा गार्हस्थ्य जीवन को छोड़कर योगी के आश्रम में आकर भी इस नूतन परिस्थिति में हिल–मिल जाना एंव भिक्षा जीवी साधुओं के आहार का अभ्यस्त हो जाना उनके लिये कष्टकार हुआ ही इस बात का अनुमान भी उनके हाव–भाव से न

हो सकता था। साधुओं ने उनके असाधारण गाम्भीर्य के साथ सदा सुप्रसन्न भाव को देखा, सेवा नैपुण्य के साथ–साथ सर्वदा उदासीनता ओर कर्म कौशल के साथ–साथ धीरस्थिर भोलापन का भाव विशेष रूप से लक्ष्य किया।

थोड़े ही काल में यह तरुण योगार्थी अपने स्वाभावित वैशिष्टय के कारण, केवल आश्रम के साधुओं की ही नहीं, अपितु उन सब सज्जनों की श्रद्धा और कौतूहल पूर्ण दृष्टि को आकर्षित करने लगा जो प्रायः वहाँ आते जाते थे। बहुत लोग उनसे पूर्व जीवन की घटनाओं को जानने की उत्सुकता प्रकट करते थे। कितने लोग बात–बात में उनसे जिज्ञासा भी करते थे परन्तु उस गम्भीर पुरुष के मुँह से अपने जीवन के सम्बन्ध की कोई बात प्रायः कभी न सुनी गई। बात चीत तो वे प्रायः करते ही न थे, नाम, ग्राम, भी न बतलाते थे, केवल नितान्त प्रयोजनीय कार्य के सम्बन्ध में, अथवा साध्य साधन विषयक किसी तत्व के विषय में कदाचित् ही बोलते थे। इस प्रकार के एक आध सामान्य बातों से ही उनकी बुद्धि की तीक्ष्णता, विचार की गम्भीरता, शास्त्र वाकयों के मर्मोद्घाटन की अद्भुत क्षमता और जीवन के चरम लक्ष्य साधन में संकल्प की दृढता का परिचय प्राप्त हो जाता था। इस विषय में किसी को संन्देह न होता था कि पहले से ही उनके जीवन की ऊँचाई अध यात्म राज्य के एक उन्नत सोपान पर पहुँच चुकी हैं एवं योग साधना में चरम सिद्धि प्राप्त करने की योग्यता से सर्वतोभावेन सम्पन्न है।

नाना प्रकार के अनुसंधानों द्वारा इस नवीन योगार्थी के वाल्य और कैशोर अवस्थाओं के सम्बन्ध में जितने भी तथ्य एकतित्रत किये जा सके, संक्षेपतः इस प्रकार है–

जन्म और वाल्यकाल

उनका जन्म जम्मू काश्मीर के निकट किसी एक गॉव में हुआ था। ग्राम की पाठशाला में उन्हें शिक्षा मिली थी। उस समय तक उस प्रान्त में अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार न हुआ था। उन्होंने अपनी मातृ भाषा में ही साधारण विद्याभ्यास किया था। संस्कृत सामान्य रूप में ही जानते थे। वाल्य और कैशोर काल में उन्हें अर्थ के प्रभाव का अनुभव न हुआ था। अन्न वस्त्र के क्लेश अथवा दारिद्रय प्रेषण से उनका परिचय न था। मध्यवित्त परिवार में जैसे सुख स्वाच्छन्द्य में बालकों का लालन पालन होता है उनके जीवन का विकास भी उसी प्रकार हुआ था। किसी कठोर शोक ताप का आघात भी उन्हें न लगा था। आनन्द में ही उनका खेल कूद पढ़ना लिखना और देहमन का उत्कर्ष सम्पन्न हुआ था। कला की ओर भी उनका अनुराग था। छोटी अवस्था मे ही गाना बजाना सीख लिये थे। सितार बजाकर भजन करने में वे खूब पटु थे। पोशाक परिच्छद साफ सुथरे रहते थे। देह में जैसे अनुपम लावण्य था उसी प्रकार असाधारण बल भी था। साधारण बालकों के साथ मिलने जुलने में भी उनके सभी व्यवहारों में एक सम्भ्रान्त जनोचित मार्जित रूचि का परिचय मिलता था। वे सबको प्रेम करते थे और सब लोग उन्हें प्रेम करते थे। किसी की सेवा का अवसर मिलने पर, किसी की किसी प्रकार की सहायता करने में उन्हे अपूर्व आनन्द मिलता था। उनके ह्रदय में पशु पक्षी, कीट पतंग आदि के प्रति भी एक स्वाभाविक सहानुभूति थी। साथ ही साथ उनका साहस अदम्य था, संकल्प की दृढता आसाधारण थी, भय के साथ परिचय न था। साथ–साथ समानभाव से लिखने पढ़ने वाले अथवा खेलने कूदने वाले सभी बालक–बालिकागण उनमें एक विशेषता का अनुभव करते थे।

विषय वैराग्य

किशोर अवस्था में ही उनके चित्त में एक अभिनव भाव का विकाश होने लगा। उनकी अन्तरात्मा में किसी एक ऐसे वस्तु का आकर्षण था जो वे अपने चारों ओर कही देख भी न पाते थे। संसार में उन्होंने धनी मानी गुणी ज्ञानी कितने ही लोग देखे, परन्तु किसी की ओर उनका चित्त आकृष्ट न हुआ। उनके सामने धन प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त था, सांसारिक जीवन के सुख सम्भोग का रास्ता सामने उन्मुक्त था, किन्तु उनका हृदय इनमें से कुछ भी न चाहता था। ये सब उन्हें तुच्छ लगते थे। कुछ भी अच्छा न लगता था। उन्हें यही अनुभव होता था कि संसार की कोई भी भोगसामग्री उन्हें तृष्ति न दे सकती थी, उनके अन्तर की आकांक्षा को पूर्ण करने में समर्थ न थी। उनके अन्दर का अभाव बोध क्रमशः तीब्रतर होने लगा। प्रचलित ज्ञान का अनुशीलन करते थे, किन्तु उसमें मन न लगता था, रूपये पैसे का व्यवहार भी करते ही थे, किन्तु उसमें आशक्ति या लोभ लेश मात्र भी न था। अभ्यास वश स्वाभाविक नियमानुसाार आहारादि कर लेते थे, किन्तु रसना में स्वाद के प्रति लालसा न थी संगी साथियों से मिलते जुलते थे किन्तु उसमें भी आनन्द न मिलता था। किसी एक अज्ञात वस्तु के आकर्षण ने उस किशोर बालक के मन को उन्मना बना दिया था।

साधु सतं

उनकी जन्मभूमि के समीप ही एक अति प्राचीन श्मशान भूमि थी। वहॉ पर निष्किन्चन साधु–सन्यासी योगी तपस्वी आदि के सामयिक निवास के लिये कुछ व्यवस्था भी थी। पर्यटक साधुगण बीच–बीच में वहॉ आकर ठहर जाते, बिंश्राम करते और धार्मिक गृहस्थों की सेवा स्वीकार करते थे। श्मशान क्षेत्र होने से उस तरफ गॉव के लोग आते जाते न थे। वैराग्य के नशे में इस किशोर बालक ने वहॉ आना जाना आरम्भ किया। वे प्रायः उस जन कोलाहल

विहीन प्रान्त में जाकर बैठे रहते, और उनके चित्त पट पर सांसारिक जीवन का परिणाम चमक जाता। उन्हें यह संसार वस्तुतः श्मशान यात्रा के रूप में ही प्रतीत होने लगा। सब कुछ अनित्य, सभी दुःखमय दिखने लगा। पर शान्ति का मार्ग कहॉ है? क्या ये संसार त्यागी योगी संयासी ही यथार्थ शान्ति पथ के यात्री है।? क्रमशः उनके चित्त में यह धारणा दृढ होने लगी कि परम शान्ति प्राप्त करने के लिये संसार का त्याग ही आवश्यक है। उन्होंने आगन्तुक साधुओं का घनिष्ट संग करना आरम्भ किया। वे उनके साथ नाना प्रकार की चर्चा और आलोचना करते, सेवा करते, उनके आहार की व्यवस्था करते, धुनी के लिये लकड़ी ले आते और नाना प्रकार से उनकी सुविधा का विधान करते । साधु सेवा करते करते, साधुओं के साथ आध्यात्मिक तत्वों की आलोचना करते उन्हें चित्त में शाान्ति का प्रर्याप्त अनुभव होने लगा, वैराग्य की तीव्रता बढ़ने लगी और, संसार त्याग का संकल्प दृढतर होन लगा। कभी कभी अधिक रात्रि बीतने पर साधु संग से घर लौटते और कभी कभी साधुसंग में बैठे ही बैठे श्मशान में ही सारी रात बीत जाती। घर के लोगों की डॉट फटकार पर वे ध्यान न देते । साधु जीवन के प्रति आकर्षण भी बढ़ने लगा। साधुओं के संग से कितने ही शास्त्रीय तत्वों के साथ उनका अच्छा परिचय हो गया, गीता और योग वाशिष्ठ के प्रति वे व्रिशेष रूप से आकृष्ट हुए।

श्मशान और संसार दोनों से ही सम्बन्ध रखते हुए इस नवयुवक का सम्य बीतने लगा। वे आवश्यकतानुसार सांसारिक काम काज करते थे, आत्मीय स्वजनों की सेवा भी करते थे, किन्तु इन कार्यो में उनको कोई रस न मिलता था। पढ़ना लिखना कुछ कुछ चलता रहा, किन्तु धर्म सम्बन्धी अथवा विवेक वैराग्य सम्बन्धी पुस्तकों से भिन्न पुस्तकें उन्हें अच्छी न लगती थी। गाने बजाने की चर्चा भी करते थे किन्तु भजन संगीत से भिन्न और कुछ अच्छा न लगता था। सितार के सुर में वे तन्मय हो जाते थे। उनका मन जैसे

श्मशान की ओर ही सर्वदा आकृष्ट रहता हो। श्मशानेश्वर सर्वत्यागी महायोगी शिव उनके जीवन देवता थे, हृदय के आराध्य थे, उन्हीं का आकर्षण वे अपने अन्तर में सर्वदा अनुभव करते थे। वे प्रायः उन्हीं के चिन्तन में डूब जाते थे। सांसारिक कामकाज के बीच में भोग सुख के भीतर भी, उनके चित्त में सर्वदा वहीं भाव उदित रहता था, जो याज्ञवल्क्यपत्नी मैत्रेयी के मुख से अनुपम भाषा में व्यक्त हुआ था– "येनाह नामृता स्याम्, किमहं तेन् कुर्याम् !" उनके अन्तर का आर्तनाद बढ़ता ही गया। तथापि अपने आत्मीय स्वजन अथवा साथी संगियों में से किसी के भी निकट अपने हृदय में अन्तर्निहित गुप्त वेदना को वे स्वेच्छा से बाहर प्रकट न करते थे। उनका गम्भीर्य बढ़ने लगा और दृष्टि क्रमशः उदासीन होने लगी किन्तु कर्तव्य कर्म में कभी शिथिलता न करते थे, वेशभूषा में किसी प्रकार की उदासीनता न दिखाते थे, अन्तर के विवेक और वैराग्य की अग्नि को अन्तर में ही गुप्त रखने की चेष्टा करते थे। अवसर मिलते ही किसी निर्जन स्थान में बैठकर अपने ही अन्दर डूब जाते थे। यदि श्मशान भूमि पर कोई विवेक वैराग्य परायण ध्यान समाधि ानिष्ट साधु आ जाता, तो उसका संग करते, सेवा करते, शास्त्रालोचना करते और साध्यसाधन रहस्य सीखते थे।

लक्ष्य की प्रतिष्ठा

सांसारिक जीवन क्रमशः इस तरुण युवक को असह्य जान पड़ने लगा। कोई पूर्वाजित संस्कार मानों उद्‌बुद्ध होकर भीतर प्रबल प्रेरणा देने लगा। कोई प्राचीन स्मृति जागरुक होकर उनको मानो दुर्गम योग साधना के मार्ग पर बलात् आकर्षण करने लगी। विवेक और बैराग्य की तीव्र ज्वाला ने संसार के प्रति उनके सब प्रकार के कर्तव्य बोध को जड़ से जलाकर खाक कर दिया। उनका लक्ष्य निरूपण पूर्ण हो गया, अपना जीवन मार्ग उन्हें स्पष्ट दिखई पड़ने लगा। इस विषय में उनके चित्त में कोई संशय न रह गया कि उन्हें

संसार के सब प्रकार के सम्बन्धों का त्याग करना ही होगा, योग मार्ग का पथिक बनना ही होगा, पराशान्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से अपनी सारी शक्तियों को केन्द्रीभूत करना ही होगा और चरम ज्ञान में सुप्रतिष्ठित हो जाने के पूर्व उन्हें दूसरी ओर दृष्टिपात करना भी सम्भव न होगा। उन्होंने बार–बार तीक्ष्ण विचार द्वारा अपने चित्त की परीक्षा करके देख लिया। पूर्णतया निःसंशय होकर वे गृह त्यागी और योग साधकर बनने को प्रस्तुत हो गये।

सद्‌गुरु की आवश्यकता

किन्तु एक समस्या उपस्थित हुई। उन्होंने साधुओं के मुंह से सुना था और धर्म ग्रन्थों में पढ़ा था कि किसी योग्य पथ प्रदर्शक के बिना योग –मार्ग पर अग्रसर होना सम्भव नहीं। सिद्ध गुरु की सहायता के बिना योग साधना में सिद्धि प्राप्त करना सम्भव नहीं, अन्तर में योग के प्रबल संस्कार वर्तमान रहने पर भी, एवं देह मन का गठन सर्वथा योग साधना के अनुकूल होने पर भी, साधना को सुनियंत्रित और सफल बनाने के लिये किसी सामर्थ्यसम्पन्न गुरु का आश्रम ग्रहण करना एकान्त आवश्यक होता है। ऐसा समर्थ गुरु कहाँ मिलेगा ? वे उसको खोजने कहाँ जाँय ? इस योग मार्ग पर किसको अपना पथ प्रदर्शक बनायें ?

इस समस्या के समाधान के लिये उनको बहुत सोच विचार नहीं करना पड़ा, न खोज ही करना पड़ा और न बहुत दिन तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। उसी श्मशान भूमि पर ही इसका सामधान मिल गया। उस श्मशान पर ही विभिन्न सम्प्रदायों के त्यागी साधुओं का आना जाना लगा ही रहता था। नाथ योगी सम्प्रदाय के एक प्रवीण साधु के साथ वहीं पर उनकी भेंट हो गयी। वह साधु अपने पर्यटन के बीच–बीच में उस श्मशान पर प्रायः आकर विश्राम करता था। उसके त्यागमय अनासक्त जीवन; नित्य–निरन्तर ध्याननिष्ठ चित्त वृत्ति और योग साधन सम्बन्धी गम्भीर ज्ञान का परिचय पाकर

योगार्थी युवक उसके प्रति विशेष रूपसे आकृष्ट हुआ। उस प्रवीण योगी ने भी इस योगार्थी के प्रति विशेष स्नेह का अनुभव किया। उस योगार्थी को मानो योग साधना की शिक्षा देने के लिये ही वह महात्मा उस श्मशान पर एक महीना रह गया। उसकी कृपा से इस नवीन योगार्थी को साध्य साधन सम्बन्धी बातों की जानकारी प्राप्त हो गयी। युवक ने उनको ही गुरु रूप में वरण करने का अभिप्रया प्रकट किया किन्तु प्रवीण योगी ने गुरु पद स्वीकार न किया। उन्होने उनसे गोरखपुर के गोरक्षनाथ मन्दिर एवं उसके महन्त बाबा गोपालनाथ जी की बात बतलाई। उसने प्रभावशाली सिद्धयोगी बाबा गोपालनाथ से ही दीक्षा लेने का उपदेश दिया। किसकी प्रेरणा से वह त्यागी महात्मा उस श्मशान पर आया था, यह कौन जान सकता है ? नवीन योगार्थी को उपदेश देने के साथ ही साथ उसका वहाँ का कार्य समाप्त हो गया। वह किसी अनिर्दिष्ट दिशा में चला गया। योगार्थी भी अपने उद्देश्य एवं यात्रा पथ का कोई खबर बिना दिये ही, अपने चिराभ्यस्त वेश–भूषा में ही घर से निकल पड़ा। यथा सम्भव आकस्मिक रूप से वे गोरखपुर के गोरक्षनाथ मन्दिर में आकर उपस्थित हुए एवं बाबा गोपाल नाथ को गुरु पद पर वरण कर लिये।

कौतूहली साधुगण तथा भक्तगण विशेष अनुसन्धान करने पर भी उनके पूर्व जीवन के सम्बन्ध में इससे अधिक परिचय प्राप्त न कर सके।

तृतीय अध्याय

योगदीक्षा

योगानुकूल शरीर गठन

सूक्ष्मदर्शी प्रौढ़योगी बाबा गोपालनाथ नवीन शिक्षार्थी को देख कर योगसाधना के क्षेत्र में उसके अनन्यसाधारण अधिकार को सहज ही समझ गये। किसी भी गुरु के भाग्य में ऐसे शिष्य की प्राप्ति कदाचित् ही संभव होती है। इस योग्य शिक्षार्थी के अंग प्रत्यगं में योगियों के लक्षण विद्यमान थे। उनकी देह मानों योग साध ाना के निमित्त ही निर्मित हुई थी। योग शास्त्र में श्रेष्ठ योगियों के शरीर के अवयवों के जैसे लक्षण वर्णित हैं, उनके मस्तक से पदतल पर्यन्त प्रत्येक अवयव में वे सभी लक्षण देदीप्यमान थे। विधाता ने मानो किसी अंग में कोई दोष रहने ही न दिया हो। उनकी 'दीर्धायतस्निग्धमधुरशान्त शीतल मूर्ति' दर्शक मात्र के ही चित्त को आकृष्ट कर लेती थी। उनका प्रशस्त ललाट, समुन्नत वक्षःस्थल, अस्थूल उदर और नाभिस्थल, आजानुलम्बित बाहुयुगल, सुरक्तिम करतल और चरणतल, सुकोमल परन्तु सुदृढ़ मांसपेशी, सर्वत्र ही महापुरुष के लक्षण थे। उनके दोनों नेत्रों में से एक अपूर्व दीप्ति के साथ अनुपम कमनीयता झलकती थी। दृष्टि स्थिर, गंभीर, प्रशान्त और उज्जवल थी। मुखमंडल पर विनम्रता के भीतर संकल्प की अनमनीयता का स्पष्ट निदर्शन मिलता था। कहीं पर किसी प्रकार की यौवनसुलभ प्रसन्नता या हलकापन का लेश मात्र भी प्रभाव न था।

असाधारण अधिकारी

गुरु ने देखा कि, शिक्षार्थी के प्रशान्त गाम्भीर्य के अन्तराल में विवेक और वैराग्य की अग्नि नित्य प्रज्वलित रहती थी। उनके निकट अनेक योगार्थी आये थे, अनेक योग साधकों के साथ उनका धनिष्ट परिचय था। किन्तु ऐसा विवेक और वैराग्य, ऐसी संकल्प की दृढ़ता, सिद्धि प्राप्त करने के लिए इस प्रकार की तीव्र संवेदना और साथ ही साथ इस प्रकार का प्रशान्त गाम्भीर्य और चरित्र–माधुर्य उन्होंने कम ही देखा था। युवक जो भी दो एक बातें बोलता था उसमें उसकी आ़साधारण प्रतिभा का परिचय मिलता था, जो भी दो एक प्रश्न पूछता था उसमें भी उसकी अन्तर्दृष्टि एवं साध्य–साधनत्व में उसके गम्भीर अनुप्रवेश का निदर्शन प्राप्त होता था। प्रवीण गुरु के हृदय में इस बात की सुदृढ़ प्रतीति उत्पन्न हो गई कि, ऐसे असाधारण योगाधिकारी के लिए साधारण गृहस्थ जीवन व्यतीत करना भी संभव नहीं और साधारण साधुओं के समान मठ, मन्दिर या आश्रम में मण्डली के बीच थोड़ा सा साधन ध्यानाभ्यास या योगाभ्यास करके सन्तुष्ट रहना भी उसी प्रकार सम्भव नहीं। अपने अभीष्ट की सम्यक् सिद्धि बिना प्राप्त किये, योग की चरम सीमा पर बिना आरूढ़ हुए, यह साधक किसी प्रकार भी तृप्त न हो सकेगा। यह एक असाधारण योगार्थी है। बाबा गोपालनाथ योगशास्त्र के विधान एवं अपनी अभिज्ञता के अनुसार इस तरूण योगार्थी को दीक्षित करके उसकी साधना को सुनियन्त्रित करने में प्रवृत्त हो गये।

स्वभावसिद्ध यम और नियम

योगमार्ग की आलोचना में देखा गया कि पहिले यम और नियम के अनुशीलन द्वारा योगार्थी के देहेन्द्रिय मन बुद्धि को सुनियत योगाभ्यास के अनुकूल बना लेना चाहिए। थोड़े ही दिन में यह प्रमाणित हो गया कि यम नियम इस असाधारण योग शिक्षार्थी

युवक का प्रायः स्वभाव सिद्ध अधिकार था। दस प्रकार के यम और दस प्रकार के नियम में से प्रत्येक ही उसके जीवन में मानों स्वाभाविक रूप से ही वर्तमान थे। मनुष्य पशु पक्षी कीट पतंग किसी के प्रति भी किसी प्रकार की हिंसा या अनिष्ट करने का भाव उनके विचार में, वाक्य में या व्यवहार में उत्पन्न ही न होता था। किसी प्रकार का असत्य कपट या मिथ्याचार उनके जीवन के किसी वृत्ति को स्पर्श भी न कर सकता था। परद्रव्यलोभ की बात तो दूर रही, संसार की किसी भी वस्तु के प्रति उनको लेशमात्र भी लालसा न थी। प्राणिमात्र के प्रतिं अनुकम्पा और सहानुभूति उनके चरित्र का अंग था। क्षमा का प्रकाश उनके जीवन में इतना स्वाभाविक था, मानो किसी का कोई भी अपराध उन्हें अपराध ही न मालूम होता था। धैर्य उनका अपरिमेय था और प्रसन्नता किसी भी अवस्था में क्षुण्य न होती थी। पवित्रता उनके देह मन में भरी थी। शौचाचार विधि का वे कभी भी लंघन न करते थे। ब्रह्मचर्य में सुप्रतिष्ठित थे। वीर्य उनका अस्खलित था। शीतातपवातवर्षादि एवं सर्वविध क्लेश सहन करने में उनकी देह और इन्द्रियाँ अभ्यस्त थी। सभी प्रकार की सांसारिक अवस्थाओं में उनके चित्त का संतोप अव्याहत रहता था, केवल जीवन के चरम कल्याण की प्राप्ति न होने से एक तीव्र असन्तोष अवश्य बना रहता था। शास्त्र, गुरु और ईश्वर में उनका विश्वास स्वाभाविक था। देव पूजन में आस्था थी। दान और सेवा में उनको स्वाभाविक आनन्द मिलता था। किसी प्रकार के पाप का चिन्तन, चर्चा अथवा आचरण उनके लिए स्वभावविगर्हित था। विवेक और वैराग्य की ज्वाला में उनके विचार में से सब प्रकार के मलिन संस्कार भस्म हो गये थे। योग ओर ज्ञान के सिद्धान्तों से साध ारणतः वे परिचित थे। विचार उनका विशुद्ध और सुनिपुण था। सुतरां यम ओर नियम किसी भी अंग की कमी उनमें न थी। उनके यौवन का उदीपित तेज और उत्साह स्वभाव के बल से ही त्याग, वैराग्य, ज्ञान, योग और भगवदक्ति की दिशा में ही प्रबल वेग से

प्रवाहित हो रहा था, भोग की दिशा में जाने का उसे अवकाश ही न मिला। उनके अन्तर के भी अन्तरतम प्रदेश से एक आध्यात्मिक प्रेरणा का प्रवाह उफन कर उनकी सम्पूर्ण प्रकृति को ही आध्यात्मभावानुप्राणित करके उन्हें गुरु के सन्निधान में लाकर पहुँचा दिया। योगार्थी को योगाधिकार की प्राप्ति के लिए जो प्राथमिक साधना आवश्यक होती है, उसके लिए उन्हें कोई प्रयास ही नहीं करना पड़ा, क्योंकि उसके प्रतिकूल किसी भाव का लक्षण भी उनके स्वभाव में न मिला।

प्रारम्भिक साधना और नामकरण

गुरु गोपालनाथ ने ऐसे नवीन योगशिक्षार्थी को साम्प्रदायिक विधान के अनुसार पहिले मन्त्रयोग ओर सेवा योग में दीक्षा प्रदान किया एवं हठयोग की अनेक प्रक्रिया भी सिखला दिया। यही अन्तरंग योगसाधना का प्रथम सोपान है। गुरु ने उनका नामकरण किया– गम्भीरनाथ। सम्भवतः शिष्य के स्वाभाविक निस्तरंग गाम्भीर्य को देख कर ही गुरु ने अन्हें यह सार्थक नाम प्रदान किया। इस गुरुदत्त नाम का सामञ्जस्य उनके सम्पूर्ण स्वभाव के साथ किस–किस हद तक था इस बात को वे सभी लोग भी समझ गये थे जिन्होंने उनके भावी जीवन का भी दर्शन किया था। इस प्रकार वाक्य में गम्भीर, कार्य में गम्भीर, ज्ञान में गम्भीर, प्रेम में गम्भीर, आचार–व्यवहार में गम्भीर, हाव भाव में गम्भीर, प्रत्येक दृष्टिपात में गम्भीर, प्रत्येक करपदसंचालन में गम्भीर, अर्थात् सर्वतोभावेन अहर्निश प्रशान्त गाम्भीर्यमण्डित ऐसी मूर्ति कदाचित् ही दृष्टिगोचर हुई हो। समाज में निर्जन में, शहर में, वन में, लौकिक व्यवहार क्षेत्र में अथवा यौगिक साधन क्षेत्र में,– किसी भी व्यवस्था में उनके अलोकसामान्य प्रसन्न गाम्भीर्य में किसी प्रकार का परिवर्तन लक्षित नहीं होता था। योगजीवन के सूचना काल से ही उनको देखते ही जान पड़ता था,

"दुखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितिधीः ।। "

एक महामुनी है अन्तर के गम्भीर से गम्भीरतम प्रदेश में डूब जाने के लिए ही उनकी गुरुशरणागति थी, योगसाधन; थी।

शिवमन्त्र और शक्तिमन्त्र

उपयुक्त अधिकारी के लिये योगसाधना की प्रथम दीक्षा है मन्त्र योग! गुरु शिष्य को शक्तिसमन्वित सिद्धमन्त्र प्रदान करता है। जिस मन्त्र की साधना द्वारा अनेको साधकों ने सिद्धियाँ प्राप्त की हैं, जिस मन्त्र के द्वारा गुरुदेव स्वयं अनुप्राणित रहते हैं, उस मन्त्र के भीतर असाधारण आध्यात्मिक शक्ति निहित रहती है, वह मन्त्र सभी पूर्वतन सिद्ध साधकों की साधना द्वारा सञ्जीवित तथा चैतन्यसमन्वित रहता है। इस प्रकार का सिद्धमन्त्र गुरुमुख से शिष्य के ह्रदय में संचारित होकर शिष्य के अन्तर्निहित आध्यात्मिक शक्ति को प्रबुद्ध कर देता है और उसके समग्र जीवन को परमार्थ की ओर आकृष्ट करता है। नाथयोगिसम्प्रदाय के साधक नित्यसिद्ध, नित्यमुक्त, योगीश्वर ज्ञानीश्वर आदिगुरु आदिनाथ, – "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ठः पुरुषविशेषः" – सर्वदेवमय गुणातीत शिव का ही परमाध्य रूप में चिन्तन करते हैं। उन्हीं के मन्त्र में दीक्षित होते हैं, उन्ही को आदर्श बनाकर योगपथ पर अग्रसर होते हैं, उन्हीं के पारमार्थिक सच्चित्प्रेमानन्दमय स्वरूप की अन्तर में उपलब्धि करने के लिये गुरुप्रदर्शित मार्ग पर अपनी शक्तियों को लगा देते हैं। इस बात का अनुमान किया जा सकता है कि, गुरु गोपालनाथ ने उच्चाधिकारसम्पन्न नूतन शिष्य को इस शिवाराधना के सम्प्रदायानुसार महासिद्धमन्त्र में ही दीक्षित किया होगा।

नाथयोगिसम्प्रदाय में शिवमन्त्र की दीक्षा के साथ–साथ शक्ति मंत्र की दीक्षा भी प्रचलित है। इस मत में शिव और शक्ति

तत्वतः अभिन्न हैं।

"शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः ।
अन्तरं नैव जानीयात् चन्द्र चन्द्रिकयोरिव ।।"

शिव के भीतर शक्ति और शक्ति के भीतर शिव हैं, दोनों के बीच कोई भेद नहीं, जैसे चन्द्रमा और चांदनी के बीच कोई भेद नहीं। एक ही सच्चिदानन्दधन परमतत्व के क्रियातीत गुणातीत परिणामरहित आत्मस्वरूप समाहित स्वभाव का नाम है 'शिव' एवं उसी तत्व के सक्रिय सगुण परिणामी सृष्टिस्थितिप्रलयविलासी भाव का नाम है "शक्ति"। सृस्टिस्थिति प्रलयविलासिनी सच्चिदानन्दमयी महाशक्ति को वक्षस्थल पर धारण किये हुए ही शिव नित्य निर्गुण निष्क्रिय आत्मानन्द स्वरूप में नित्य विराजमान रहते हैं; शिव के वक्ष का आश्रय लेकर, शिव की सत्ता से सत्तावती होकर, शिवस्वरूप से किसी प्रकार विच्छिन्न या विच्युत न होकर, उनकी महाशक्ति अनादि अनन्त काल से विचित्र गुणों से विभूषित हो रही है, विचित्र कर्मो का सम्पादन कर रही है, अपने को विचित्र रूपों में लीलायित कर रही है, अलंघनीय श्रृंखला के साथ अगणित जीव जगत् के सृजन पालन–पोषण संरक्षण ओर ध्वंश का विधान करती है। जीव जगत् के बीच सर्वत्र एक ही महाशक्ति का प्रकाश है, प्रत्येक व्यष्टि और समष्टि के उत्पत्ति परिणाम और विनाश के बीच में एक ही महाशक्ति की लीला है, सब कुछ महाशक्ति का अंग है, महाशक्ति से अभिन्न है और उस महाशक्ति के भीतर शिव का ही प्रकाश, महाशक्ति के अंग प्रत्यंग में, प्रत्येक लीला विलास में, प्रत्येक सृष्टि–पालन–संहार कार्य में, शिव की ही नित्य स्वरूपगत चैतन्य ज्योति और निस्तरंग अखण्ड आनन्द लीलायित होता है। सुतरां सभी शिव से अभिन्न हैं। तथापि विश्व प्रपंच का विचित्र परिणाम, महाशक्ति की विचित्र लीला, कुछ भी शिव के अन्तर को स्पर्श नहीं करता, शिव की समाधि को भंग नहीं करता, शिव के स्वरूपानन्द

संभोग का कोई आवरण नहीं सृजन करता।

जीवात्मा जब सम्पूर्ण विश्व में शिवानी महाशक्ति के लीला विलास का दर्शन और आस्वादन करता है एवं शिव को ही विश्व की आत्मा और अपनी आत्मा के रूप में अनुभव करता है, तब उसको कोई बन्धन और क्लेश नहीं रहता, सम्पूर्ण विश्व के साथ उसका समरसत्व हो जाता है। वह सम्पूर्ण विश्व को अपने भीतर और अपने को सम्पूर्ण विश्व के भीतर अनुभव करता है ; विश्व के भीतर रहता हुआ भी विश्वातीत हो जाता है, देश–काल में विचरण करता हुआ भी देश काल की परिच्छन्नताओं का अतिक्रमण कर जाता है, शिव के साथ एकत्व का अनुभव करके वह विश्व जगत् के ऊपर प्रभुत्व प्राप्त करता है और उसका जीवन ज्ञान, प्रेम, शक्ति और आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है। योगी के जीवन का यही आदर्श है, योगदीक्षा का उद्देश्य ही इस लक्ष्य की सिद्धि है।

मन्त्रयोग साधना

नाथ योगि सम्प्रदाय में इस समय एक सिद्धमन्त्र गुरु शिष्य परम्परा से प्रचलित है, जिसके स्मरण मनन से योगार्थी के चित्त में इस शिवशक्ति तत्व का स्फुरण हो जाता है एवं जीवन क्रमशः चरम सिद्धि की ओर अग्रसर होता रहता है। इस सम्प्रदाय में शिवमन्त्र और शक्ति मन्त्र दोनो एक ही प्राणसूत्र में ग्रथित है। शक्ति के अवलम्बन से सम्पूर्ण विश्व के भीतर शिवाभिन्ना सच्चिदानन्दमयी महाशक्ति का परिचय मिलता है और शिवमन्त्र का अवलम्बन करने से विश्वातीत सच्चिदानन्द घन परमतत्व का परिचय प्राप्त होता है। सृष्टि के पूर्व और अन्त में जिसके भीतर सब जीव और जड़ सम्यक्रूपेण विलीनास्वस्था में एकीभूत रहते हैं, सृष्टिकाल में जिसकी लीला से पृथक–पृथक रूप में प्रसूत और नियन्त्रित होते हैं, जो हमारे अन्तर और बाहर को परिव्याप्त और आलोकित करके प्रकाशमान है, स्थूल, सूक्ष्म और कारण देहों में जो अनादि अनन्तकाल

से अपने को लीलायित कर रही है, उसी परम ज्योतिर्मयी, परम सौन्दर्यमयी, परमानन्दमयी नित्यजननी, नित्यकुमारी, शिव वक्षोविलासिनी महाशक्ति का दर्शन मैं अपने भीतर और बाहर सर्वत्र करता हूँ, एवं उसी के चरण पर अपनी अहन्ता और ममता पूर्णतया निवेदित करता हूँ ; इस प्रकार की एक उज्ज्वल भावना शक्तिमन्त्र में निहित है। मन्त्र के इस तात्पर्य को नियत स्मरण मनन–ध्यान द्वारा सम्यक् रूप से अधिगत कर लेने की प्रचेष्टा ही मन्त्र की साध ना है। सब जागतिक चिन्तन और सब जागतिक संस्कारों को चित्त से निकालकर अपनी सारी सत्ता और चेतना को सच्चिदानन्दघन शिव को भावना द्वारा शिवमय कर देने की प्रचेष्टा ही शिवमन्त्र की भावना में शक्तिमान शिव के भीतर डूब जाती है, साधक सर्वतोभावेन शिवमय हो जाता है।

बाबा गम्भीरनाथ जी के सिद्ध जीवन में कही हुई बातों से इस बात का अनुमान किया जा सकता है कि साधक जीवन में दोनों प्रकार के मन्त्रों की साधना में दीक्षित होकर वे शिवशक्ति तत्व की सम्यक् उपलब्धि करने के लिये साधना में प्रवृत्त हुए थे। उनके अन्तःकरण का विशुद्ध संस्कार पहिले से ही इस निगूढ़ आध्यात्म भाव के अन्दर डूब जाने के अनुकूल था। गुरु का उपदेश पाते ही मन्त्रयोग द्वारा उनकी गम्भीर साधना का आरम्भ हुआ। इस साधना के अन्दर ही योग की अन्तरंग साधना, धारण ध्यान समाधि का अनुशीलन होने लगा। जिस साधना का संस्कार विशुद्ध था, संकल्प सुदृढ़ और तीव्र संवेद सम्पन्न था, देहेन्द्रियमन अनुकूल थे, ऐसी साधना के अवलम्बन से उनके जीवन का एक एक स्तर शिवशक्तिमय होने लगा।

'सोऽहम्' अर्थात अजपा जाप

नाथ योगि सम्प्रदाय में एक दूसरी चमत्कारपूर्ण प्रक्रिया प्रचलित है। महायोगी महापुरुषों ने हमारी श्वास क्रिया में से अन्तर्निहित एक निगूढ़ आध्यात्मिक रहस्य का अविष्कार किया है। उनको दृष्टि में यह श्वास प्रक्रिया तत्वतः प्रत्येक जीव के जीवन में एक स्वभाव सिद्ध समरसकरण प्रक्रिया है, – अर्थात् अन्तर और बाहर के, व्यष्टि और समष्टि के व्यक्ति प्राण और समष्टि प्राण के, जीवात्मा और परमात्मा के योगसाधना का एक अद्‌भुत कौशल है। प्रत्येक श्वासत्याग के समय जीवात्वा 'हं' या 'अहम्' शब्द के साथ बाहर आकर विश्वप्राण या परमात्मा के साथ मिल जाता है, व्यष्टि अपने को समष्टि में विलीन कर देता है, फिर प्रत्येक श्वास ग्रहण के समय 'सः' शब्द के साथ विश्वप्राण या परमात्मा जीवदेह के भीतर प्रवेश करता है। इस प्रकार प्रत्येक श्वास में 'अहम्' और 'सः' स्वाभाविक नियम से एक दूसरे के भीतर अनुप्रविष्ट होता है, जीवात्मा और विश्वात्मा का मिलन सम्पन्न होता है, प्रत्येक जीव क्षण–क्षण में अपने को विश्व के अन्दर विलीन करके एवं विश्व को अपने अन्दर ग्रहण करके ही जीवित रहता है और विश्वात्मा प्रतिक्षण जीवात्मा को अपने अन्दर विलीन कर लेता है तथा स्वयं जीवदेह में अनुप्रविष्ट होकर उसको संजीवित रखता है। 'अहम्', 'सः' हो जाता है और 'सः', 'अहम्' रूप में प्रतीयमान होता है। इसी प्रकार व्यष्टि और विश्व की जीवनलीला नित्य निरन्तर चलती रहती है। विश्व जीवन ही व्यष्टि जीवन के अन्दर लीलायित होता है। व्यष्टि के 'अंग प्रत्यंग' में, प्रत्येक अणु परमाणु में विश्व प्रतिफलित होता है, और विश्व के भीतर भी व्यष्टि प्रतिफलित होता है। परस्पर को आलिंगन करके, एक दूसरे के साथ नित्ययुक्त रहकर ही दोनों की जीवन सत्ता और प्रकाश है। जीवन प्रवाह के भीतर से चलते–चलते ज्ञान अथवा अनुभव शक्ति के क्रम विकास द्वारा व्यष्टि जीव की तत्वदृष्टि उन्मीलित होती है। इस प्रकार वे व्यष्टि जीवन

और समष्टि जीवन से इस अंगागिं भाव का इस नित्ययुक्तत्व का, इस तात्विक एकत्व भी सम्यक् उपलब्धि कर सके थे। वे विश्व को अपने भीतर एवं अपने को विश्व के भीतर अनुभव करते थे, विश्वात्मा के साथ अपनी एकता का अनुभव करके उन्होंने अमृतत्व की प्राप्ति की थी। उनकी भेदबुद्धि वैषम्य बुद्धि तिरोहित हो गई थी। सम्पूर्ण जगत् में उन्हें कहीं भी किसी प्रकार की आघात नहीं प्राप्त होता था, और न उसके ह्वदय में किसी प्रकार का आघातप्रवृति का उद्रेक ही होता है। उन्हें परम साम्य में स्थिति प्राप्त हो गई थी, वे सभी अवस्थाओं में, सब कार्यो में एक परमानन्द रस का आस्वादन करते थे।

योगाचार्यगण इस बात का उपदेश दिये है, और बाबा गम्भीरनाथ जी भी अपनी सिद्धावस्था में प्रायः यही उपदेश देते थे कि इस स्थिति को प्राप्त करने के लिये साधन बहुत कठिन नही है, वरंच सहज है। इसका साधन है केवल नजर रखना और स्मरण रखना प्रत्येक श्वास प्रश्वास में जो स्वभावतः अविराम चल रहा है, उस दिशा में सुनिपुण दृष्टि लगाए रखना और सर्वदा उसे स्मरण रख्ने की चेष्टा करना ही साधन है। प्रत्येक श्वास के साथ–साथ प्राकृतिक विधान के अनुसार ही 'अहम्' और 'सः' का जो योग, जो समरसत्व, जो ऐक्य सम्पन्न हो रहा है, उस दिशा में दृष्टि रखते हुए उसके तात्पर्य का अनुस्मरण करने का अभ्यास करने से ही कृतार्थता प्राप्त हो जाती है। जो स्वभावतः अहर्निश अनजान में चल रहा है, उसी को जानबूझ कर अभिनिवेश के साथ देखते रहने से ही साधन हो जाता है 'हं' और 'सः' के साथ श्वास की बाहर भीतर की जो गति हैं, उसी का नाम 'हंसमन्त्र' । इस मन्त्र का जप स्वभावतः ही रात–दिन चलता रहता है। अतएव हंसमंत्र के साधन में साधक को स्वयं प्रयास करके जप नहीं करना पड़ता, केवल प्रकृति के इस अविराम जप की ओर चित्त को एकाग्र करना पड़ता है, एवं इसका जो सुगम्भीर आध्यात्मिक तात्पर्य है उसका मन ही

मन स्मरण करना पड़ता है। इसलिये मन्त्र योग की साधना होने पर भी इसको 'अजपा' कहा जाता हैं योग शास्त्र में इसको अजपा गायत्री की संज्ञा दी गई है। सम्पूर्ण दिन–रात्रि में स्वाभाविक नियम से प्रति मनुष्य का यह, अजपा जप २१६०० बार चलता है। केवल इस स्वाभाविक अजपा जप की ओर दृष्टि रखकर तात्पर्य स्मरण करने के अनुशीलन से ही, स्मरण क्रमशः साक्षात् अनुभव में परिणत हो जाता है एवं योगिजनवांछित मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

योगिगुरु गोरक्षनाथ की उक्ति है–

हंकारेण वहिर्याति स–कारेण विशेत्पुनः।

हंस–हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।।

षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्त्राण्येकविंशतिः।

एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।।

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी।

तस्याः स्मरणमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते।।

नादानुसन्धान

योगि सम्प्रदाय में मन्त्रयोग की एक और अति सूक्ष्म और अति सुन्दर प्रक्रिया प्रचलित है। उसका नाम है 'नादानुसन्धान'। 'नाद' परम तत्व शिव ब्रह्म या परमात्मा की नित्य शब्दमयी मूर्ति है, सच्चिदानन्दमयी महाशक्ति का आदिम स्पन्दनात्मक प्रकाश है। उपनिषदादि सब शास्त्रो में और योगशास्त्र में इस नाद को प्रणव संज्ञ दी गई है। इस नाद से ही जीव और जगत् का उद्भब हुआ है। सब जीवों के अन्तर्हृदय में तथा सम्पूर्ण विश्व के हृदय में यह

नाद निरन्तर अनाहत रूप से झंकृत हो रहा है। इस नाद की उत्पत्ति नहीं है, विनाश नहीं है। विश्वभुवन एवं प्रत्येक जीवदेह नादमय है। विचित्र शब्द, विचित्र ध्वनि, विचित्र भाषा सभी इस एक अनाहत नाद समुद्र ही की तरंग भंगियाँ है, एक अखण्ड नाद की खण्डित अभिव्यक्तियां है। इस नाद का मूलस्वरूप है ॐ। यह कोई जीवोच्चारित या जड़ संघर्ष समुत्पन्न अनित्य शब्दविशेष या ध्वनि विशेष नहीं है, स्वयंम् शिव या ब्रह्म का ही शब्द रूप में नित्य आत्मप्रकाश है। सब उत्पत्ति विनाशशील शब्द इस अनाहत नित्य ॐकार से ही उत्पन्न होते हैं और फिर इसी के भीतर विलीन हो जाते हैं। माण्डूक्य उपनिषद् में कहा गया है।

"भूतं भवत् भविष्यदिति सर्वमोकांर एव।

यञ्चान्यत् त्रिकालातीतं तदपि ओ३कांर एव।

सर्व ह्येतद्ब्रह्म। अयमत्मा ब्रह्म।"

जो कुछ अतीत वर्तमान और भविष्यत् है अर्थात जो कुछ काल में उत्पन्न होता एवं कालक्रम में विषय प्राप्त होता है, वह सब कुछ स्वरूपतः ओंकार है अर्थात ॐ से ही उनकी उत्पत्ति और ओंकार में ही उनका विलय होता है, एवं स्थितिकाल में भी वे ओंकार द्वारा ही परिव्याप्त रहते है और फिर जो त्रिकाल से अतीत नित्य सत्य, उत्पत्ति विलय विहीन है, वह भी ओंकार ही है। अतएव ओंकार व्यतिरिक्त किसी दूसरी वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है– यह ओंकार रूपी ब्रह्म ही सब कुछ है, यह आत्मा भी ओंकार रूपी ब्रह्म ही है। एक ओंकार रूपी ब्रह्म ही सबके भीतर प्रकाशित हो रहा है, एव सबका अतिक्रमण करके भी नित्य स्वस्वरूप में विराजमान रहता है।

ॐ मन्त्र के अवलम्बन से इस नित्य सत्य सर्व देशकाल व्यापी और सर्वदेश कालातीत ब्रह्म स्वरूप ॐकार का अनुसंधान ही

योग का नादानुसन्धान है। विश्वप्रपञ्चः के सब प्रकार के कोलाहल, सब प्रकार के उत्पत्ति, विलयशील शद्वतरंगों को विदीर्ण करके, विचित्र भेदविभक्त ध्वनिसमूह के भीतर प्रवेश करके, उस भेदविहीन, उत्पत्ति विलय विहीन महान् मधुर नादरूपी प्रणवरूपी ब्रह्म को अनुक्षण संधान करना होगा। अनुसन्धान के मार्ग में कितने प्रकार के विचित्र भेद, विभिन्न अनित्य सैकड़ो तरंग श्रवण को विक्षिप्त करेंगे, मनको कभी उद्विग्न कभी प्रलुब्ध करेंगे। इन सबसे श्रवण और मन को प्रत्याहृत करके उसी अनाहत नाद का श्रवण करना होगा, उसी के भीतर मन को निमग्न कर देना होगा। माण्डूक्य उपनिषद् कहता है,– वह ओंकार रूपी ब्रह्म चतुष्पात् अर्थात चतुर्मात्राविशिष्ट है। जाग्रदवस्था में उसके विश्वरूप का प्रकाश होता है, स्वप्नावस्था में उसके तैजस् रूप का प्रकाश होता है, और सुषुप्तावस्था मे उसके प्राज्ञ रूप का प्रकाश होता है। इन सबको पार करके उसके सर्वोर्ध्व नित्य स्वरूप के साथ चित्त को युक्त करना होगा। वह स्वरूप है "अमात्रश्चचतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैतच्च"–मात्राविहीन, तुरीय, सर्वभेदव्यवहारातीत, विश्वप्रपञ्चातीत, द्वैतविहीन, शिवस्वरूप यह ओंकार ही आत्मा का स्वरूप है।

दीर्घ अथवा प्लुप्त स्वर में उच्चारित ॐ मन्त्र किंवा गुरुदत्त ब्रह्मवाचक कोई नाम या मन्त्र का खूब दृढ़ता के साथ अवलम्बन करके, जागतिक सब नाम रूपों की आसक्ति और आकर्षण से चित्त को मुक्त करना आवश्यक होता है। प्रणव या नाम में जितनी ही रति होती है, चित्त जितना ही उसमें एकाग्र होता है, बाहर के सब नाम रूपों के प्रति चित्त की उदासीनता जितनी ही बढती जाती है प्रणव या नाम का सूक्ष्म स्वरूप उतना ही उपलब्धि गोचर होता जाता है जब तक मन्त्र रसना से उच्चारित और कान में सुनाई पड़ता है, तब तक उसके स्थूल रूप के साथ ही परिचय है, तब तक

वह मन के विषय रुप में मन के बाहर ही उत्पन्न और विलीन होता रहता है। प्रत्याहार और एकाग्रता के अनुशीलन के फलस्वरुप मन के साथ उसका जितना घनिष्ठ योग स्थापित होता है, उतना ही मन्त्र या नाम के सूक्ष्म स्वरूप का प्रकाश होता है, मन्त्र व नाम उतना ही मानस आकार में या भाव आकार में प्रतिभात होता है। उतना ही उसका उत्पत्ति विलयशील भाव लुप्त होकर अविच्छिन्न धारारूप से चित्त में उसका ज्योतिर्मय प्रवाह चलता रहता है। अभ्यास की प्रगाढ़ता से मन जैसे मन्त्र या नाम की सूक्ष्म अविराम धारा के भीतर डुब जाय, मन्त्र या नाम नित्य अनाहत नाद के साथ मानो एकाकार हो गया हो, अन्तर में अनेक प्रकार के शब्दों की अनुभूति होने लगती है, और अनेक प्रकार की ज्योतियों का दर्शनादि होने लगता है। इन सब प्रकार के प्रलोभनों और विक्षेपों से चित्त को मुक्त रखने के लिये सर्वदा सावधान रहना पड़ता है। अनाहत नाद के साथ परिचय हो जाने से दूसरे सभी शब्द और रूप अकिञ्चित्कर हो जाते है तब एक नाद, एक सुर, एक मनोहर संगीत सम्पूर्ण विश्वभुवन को प्लावित करके, साधक हृदय ओर विश्वहृदय को एकीभूत करके, समस्त चेतना को परिव्याप्त करके अनुभव गोचर होने लगती है। समस्त विश्व–वैचित्र्य एक आद्यन्तमध्यविहीन अखण्ड प्रणवनाद के भीतर एकीभूत होकर अपरिसीम मधुरत्व को प्राप्त होता है। सम्पूर्ण विश्वप्रपंच भीतर–भीतर कितना संगीतमय है, कितना माधुर्यमय है, कितना आनन्दमय है और कितना अमृतमय है, इस बात का यथार्थ अन्दाज तो तभी लगता है, जब साधक की समग्र चेतना इस अनाहत नाद के साथ मिलकर एक हो जाती है। इस नादानुभूति के क्षेत्र में भी स्तरभेद है, प्रगाढ़ता का भेद है। बस स्तरों का अतिक्रम कर जाने पर नाद का प्रवाह भाव भी नहीं रह जाता। नाद तब 'शान्तम् शिवम्द्वैतम्, ब्रह्मस्वरूप में स्वमहिमा में प्रतिभात होता है, साधक की चेतना सम्यक रूप से तद्भावभावित हो जाती है, तदाकाराकारित हो जाती है।

मन्त्रसाधक को साधना द्वारा मन्त्र को, गुरुदत्त नाम को, स्थूल प्रणव को शनैः शनैः अनाहत स्वप्रकाश नित्यनान के स्तर पर ले जाना चाहिये, और नाद के साथ सम्यक् रूपेण मिला देना चाहिये, नाद के भीतर परमतत्व के सम्यक् ज्यातिर्मय प्रकाश का अनुभव करना होता है, एव परमतत्व ही उस नाद का अपना तथा विश्व प्रपंच का यथार्थ स्वरूप है।, इस बात का अनुभव करना पड़ता है। इसी प्रकार जीव को शिवत्व की प्राप्ति होती है।

नवीन योगी गम्भीरनाथ प्रवीण गुरु गोपालनाथ जी से सिद्धगुरु परम्परागत मन्त्रयोग में दीक्षित हुए, मन्त्र का आध्यात्मिक तात्पर्य अवगत कर लिये। मन्त्र के रहस्योद्घाटन के विविध कौशल सीख लिय। तत्व–साक्षात्कार के अनुकूल सूक्ष्म और सूक्ष्मतर विशेष भावना पद्धति और विचार प्रणाली के सम्बन्ध में भी उपदेश प्राप्त किये। गुरु को इस बात की सहज ही प्रतीति होने लगी कि, शिष्य शरीर में तरुण होने पर भी योगमार्ग में वस्तुतः नवीन नहीं है। सामान्य इंगित मात्र से उपदेश का निगूढ़ मर्म इस आसाधारण योगपिपासु के अन्तर में उज्ज्वल रूप में स्फुरित हो जाता था। गुरु के अंगुलि स्पर्शमात्र से मानों उसके हृदय के सब कपाट खुल जाते थे। सब तत्व, सभी साध्य साधन रहस्य मानों उनके संस्कारगत थे; एक संकेत मात्र से ही वे स्मृति रुप में जागृत हो जाते थे। कभी–कभी तो ऐसा जान पड़ता था कि मानों गुरु की अनुभूति और अभिज्ञता की सीमा को पार करके तत्व के अभ्यन्तर में शिष्य का प्रवेश हो गया हो। ऐसे शिष्य को प्राप्त करके गुरु अवश्य ही अपने को भाग्यवान समझा होगा।

हठयोग

अन्तरंग योगसाधना में शिष्य के असामान्य अधिकार को देखकर एवं योग के सर्वांगीण अनुशीलन में शिष्य के सुदृण संकल्प को हृदयगंम करके, गुरु गोपालनाथ ने उनको हठयोग के विभिन्न

प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में भी उपदेश प्रदान किया। हठयोग की सुगम्भीर साधना नाथ योगि सम्प्रदाय का प्रधान वैशिष्ट्य है। यह बात समग्र देश में विशेष रूप से प्रसिद्ध है कि, इस सम्प्रदाय के सिद्ध योगिगण हठयोग में विलक्षण होते है। उन लोगों ने इस योग की साधना में बहुत सी नई-नई प्रक्रियाओं का अविष्कार किया हैं एवं योगशास्त्र का बहुत विस्तार किया है। उन्होंने हठयोग के द्वारा इस बात का प्रदर्शन किया है कि, मनुष्य के भीतर कितनी ही शक्तियॉ अन्तर्निहित है तथापि अनुशीलन के आभाव में वे सब प्रसुप्त अवस्था में ही रह जाती है। साधारण मनुष्य जिसको अलौकिक शक्ति और अलौकिक ज्ञान कहता है वे वस्तुत मनुष्य की अनम्यस्त शक्तियाँ और ज्ञान हैं यथोचित अनुशिलन द्वारा मनुष्य मात्र ही उन सब शक्तियों और ज्ञान का विकास कर सकता है। मनुष्य जहाँ साधारणतः अपने स्वभाविक शक्ति और ज्ञान की सीमा रेखा खीच देता है उस सीमा का अतिक्रम करना भी उसका स्वाभाविक अधिकार है एवं उस सीमा का अतिक्रम करना ही मानव की साधना का उद्देश्य है। आज जिन्हें वैज्ञानिक कहा जाता है उन लोगों ने बाहरी उपायों का अवलम्बन करके विचित्र यंत्रों का सृजन किया है। मनुष्य की शक्ति एवं ज्ञान की परिधि को कई गुना बढ़ा दिया है तथा और भी बढ़ाने की चेष्टा कर रहे हैं। योगियों ने आन्तरिक उपायों द्वारा देहेन्द्रियमन के ऊपर प्रभुत्व प्राप्त करके और लुप्त सामर्थ्यो को उदबुद्ध करके अपने व्यक्तिगत जीवन में शक्ति और ज्ञान की परिधि को उससे भी अधिक बढ़ा कर दिखा दिया है। हठयोग मानवीय ज्ञान और शक्ति के असाधारण विकास करने का एक विशेष कौशल है।

किन्तु जो लोग आध्यात्मिक जीवन को सम्यक्‌रूपेण कृतार्थ करने के उद्देश्य से हठयोग का अनुशीलन करते है, वे नाना प्रकार की शक्तियों को प्राप्त करके भी उनके प्रति उदासीन ही रहते है। वे समस्त शक्तियों को केन्द्रीभूत करते हैं एक परमतत्व में सुप्रतिष्ठित

होने के लिये–अर्थात् इसी देह में, इसी जगत् मे, सब शक्तियों के आधार स्वरुप शिव के साथ सर्वतोभावेन मिलित हाने के लिये और एकीभूत हो जाने के लिये– देहपिण्ड का विश्वब्रह्माण्ड के साथ, व्यष्टि मन का विश्वात्मा के साथ समरसत्व अनुभव करने के लिय–अर्थात सब भेद वैषमयों के ऊपर उठकर नित्य निरनतर परमानन्द सम्भोग में विभोर रहने के लिये। वे राजयोग के सोपान रुप में हठयोग का अभ्यास करते है।

कुलकुण्डलिनी महाशक्ति

योगशास्त्र के मत में, जो शिवाश्रिता, शिवाभिन्ना सच्चिदानन्दमयी महाशक्ति अपने को विश्वब्रह्माण्ड रूप में अनादि अनन्त काल से अभिव्यक्त और लीलायित कर रही. है, वही महाशक्ति, मानों निद्रित अवस्था में वर्तमान है। उसी महाशक्ति को योगिगण कुलकुण्डलिनी संज्ञा प्रदान करते है। विश्वप्रसयिनी विश्वविलासिनी महाशक्ति जब स्वयं संकुचित होकर, अपने को सर्प के समान कुण्डलींकृत करके, निद्रितवत् वर्तमान रहती है, तभी उसको कुण्डलिनी शक्ति कहा जाता है। बस जीवों के भीतर वह इसी रूप में वर्तमान रहती है। जिस प्रकार वे समष्टि जगत् में विद्यमान रहती है, उसी प्रकार व्यष्टि देह में भी अर्थात् जैसे ब्रह्माण्ड में वैसे ही पिण्ड मे विराजमान रहती है। जीव जगत् में केवल मनुष्य का ही यह विशेष अधिकार है कि समुचित साधना द्वारा इस निद्रिता महाशक्ति का उद्‌बोधन करे, एवं एक के बाद दूसरे स्तर पर उस महाशक्ति के विचित्र ऐश्वर्यो का अपने अन्तः करण में अनुभव करे। योगियों की 'चक्रभेद' साधना इसी महाशक्ति के जागरण की ही साधना है। वे देह के भीतर षट्‌चक्र, अष्टचक्र या नवचक्र की परिकल्पना करते है। महाशक्ति मानों निम्नतम मूलाध ार चक्र में सोई हुई रहती है। उसको जागृत करके देह के भीतर रहने वाले सुषुम्ना मार्ग से एक स्तर से दूसरे स्तर पर उठाना पड़ता

है, विकसित करना पड़ता है और अन्त में सहस्राकार चक्र के परमव्योम में स्थित परम शिव के साथ मिला दिया जाता है अर्थात् शिव और शक्ति की अभिन्नता का सम्यक् रूप से उपलब्धि अर्थात आस्वादन किया जाता है। तब 'कुल' और 'अकुल'–शक्ति और शिव–'विश्वमयी और विश्वातीत,–अखण्ड अनुभूति में एक हो जाते है।

अकुलं कुलमाघने कुलञ्चाकुलभिछति।

जलबुद्वुदवन्नयायादेकाकारः परः शिवः।।

(सिद्धसिद्धान्तपद्धति)

कुल (अशेषबैचित्र्यप्रसविनी महाशक्ति) तब अकुल का (सर्ववैचित्र्यातीत एकरस चैतन्यस्वरूप का) आलिंगन करती है और अकुल कुल का आलिंगन करता है, जल और बुद्बुदराशि के समान दोनो की परिपूर्ण एकता सम्पन होती है, यही कुल ओर अकुल का एक्य ही परम शिव का तात्विक स्वरूप है।

इस चरम लक्ष्य को अन्तर में धारण करके ही योगपिपासु हठयोग के द्वारा कुल (अर्थात महाशक्ति की) उपासना करता है, महाशक्ति को अपने अन्तर में जागृत करता है, उसकी क्रमशः सब वैचित्र्य और वैषम्यों से एकत्व और परम साम्य की ओर ले जाता है, एवं अकुल के साथ (विश्वातीत परम शिव के साथ) कुल को सम्यक् विलीन करके परमानन्द का आस्वादन करता है। इस तरह हठयोग राजयोग मे परिणत हो जाता है।

साधना के स्तर

राजयोग की गम्भीर साधन के क्षेत्र में भी अनेक स्तर भेद है। सब स्थूल प्रपन्च को सूक्ष्म में लय किया जाता है, सब सूक्ष्म को कारण में लय किया जाता है, कारण को महाकारण में, और

महाकारण को सर्वकार्यकारणसम्बन्धातीत परमतत्व में लय किया जाता है। चित्त के सब प्रकार की वासना और संस्कार के ऊपर विजय प्राप्त करना पड़ता है। मन को मन के ऊर्ध्व उठाकर विशुद्ध चैतन्य के साथ मिलाकर एक कर देना पड़ता है। जड़ और चेतन के भेद का अतिक्रम किया जाता है, बहुत्व और एकत्व के भेद को पार किया जता है, परिणामित्व और नित्यत्व की अभेद भूमि पर आरोहण किया जाता है, अन्तर और बाहर के, ज्ञातृत्व और ज्ञेयत्व के, आत्मत्व अनात्मत्व के समत्व का अनुभव किया जाता है। जाग्रत् स्पप्न सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं के भेद के ऊपर भी विजय प्राप्त करना पड़ता है। राजयोग का साधक धारणा ध्यान ओर समाधि के निविड़, निविड़तर और निविड़तम अनुशीलन द्वारा सर्वविध चित्तावस्था, सर्वविध संस्कार और सर्वविध भेदबोध के ऊपर उठकर पूर्ण ज्ञान और पूर्णानन्द में प्रतिष्ठित हो जाता है, परम शिव के पूर्णतम अनुभव के साथ उसका अनुभव एक हो जाता है। उसको शिवस्वरूपता प्राप्त होती है, वह ब्रह्मविद्विरिष्ट हो जाता है। उसी अखण्ड अनन्त द्वैताद्वैतविवर्जित पूर्णतम ज्ञानानन्द में प्रतिष्ठित होकर वह फिर बुद्धि मन और इन्द्रियों के राज्य में अवतरण करता है, अन्तर में निवारण अभेदानूभूति लिए हुए भेदबहुल लोकव्यवहार क्षेत्र में विचरण करता है, और हृदय में गुणातीत भाव को अक्षुण्ण रखते हुए ही सब प्रकार के गुणों के साथ खेल करता है। नाथ योगिगण इसको 'अवधूत'–अवस्था कहते हैं। अवधूत–अवस्था प्राप्त करना ही नाथ योगि सम्प्रदाय की साधना का आदर्श है। जो लोग इसमें सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं, उनका महासिद्ध नाम से आदर किया जाता है। नाथ सम्प्रदाय में पूर्व काल में ऐसे अनेक महासिद्धों का आविर्भाव हुआ है।

सेवाव्रत साधन

पूर्वकालीन महासिद्धों के समान पूर्णांग योग साधना में

सिद्धि प्राप्त करने के लिये अन्तर में तीब्रतम व्याकुलता लिए हुए नवीन योगार्थी गम्भीरनाथ गुरु के समीप उपस्थित हुए। विधाता ने मानो उनके देह, इन्द्रिय मन, बुद्धि का निमार्ण पूर्णागं योग साधना के लिए ही किया था। वे क्रमशः प्रवीण गुरु के निकट मन्त्रयोग के साथ हठयोग, लययोग और राजयोग के सभी प्रकार के उपदेश ग्रहण कर लिए तथा विविध प्रक्रियाओं के कौशल समूह से भी परिचित हो गए। उनके प्राक्तन योगसंस्कार उद्‌बुद्ध हो गये। अनवरत योगाभ्यास में अपनी समस्त शक्ति का प्रयोग करने के लिए उन्होंने गुरु से अनुमति आशीर्वाद के लिए प्रार्थना की।

किन्तु उसी समय अन्तरंग योगसाधना में निमग्न हो जाने की अनुमति न देकर गुरु ने उनको कुछ समय के लिये सेवाब्रत में नियुक्त किया। गुरु का आदेश शिरोधर्य करके योगपिपासु गम्भीरनाथ गुरु और मन्दिर के सेवाकार्य में लग गये। गुरु जब जिस कार्य का आदेश देते थे वे उसी का अकुण्ठ चित्त से सम्पादन करते थे। मन्दिर सम्बन्धी सभी प्रकार के कार्यों में वे अभ्यस्त हो गये। वे कभी श्रीनाथजी की पूजा अर्चना करते, कभी साधु अभ्यागतों की सेवा–सुश्रुषा करते, कभी गुरुजी के शारीरिक सुख–सुविधा का प्रबन्ध करते, कभी आश्रम के आय–व्यय के सम्बन्ध में व्यस्त रहते और इसी प्रकार आश्रम के प्रजावर्ग एवं गाय, भैंस आदि पशुवर्ग भी उनकी सेवा से वंचित न रहते थे। गुरुजी उन्हें जब कार्य के लिए भेजते तब वे उसी को गुरुसेवा समझकर प्रेम के साथ सम्पन्न करते थे परन्तु उनका मन सर्वदा ही लगा रहता था योग की ओर अर्थात् जीवन की चरम सार्थकता प्राप्त करने की ओर। बातचीत तो वे प्रायः करते ही न थे, न समय का ही व्यर्थ अपचय करते थे। बाहरी सेवाकार्य में जितना समय व्यतीत होता था उसके अतिरिक्त बाकी समय वे गुरुपदिष्ट योगानुशीलन में निमग्न रहते थे। सेवा कार्य में व्यस्त रहत समय भी उनकी मन्त्र साधना चलती रहती थी। उन्हें गुरु से जिस योगदृष्टि की शिक्षा मिली थी, कर्मसाधना का जो

आदर्श हृदयगंम हुआ था, उसी योगदृष्टि को सामने रखकर और उसी आदर्श द्वारा अनुप्राणित होकर वे आश्रम सम्बन्धी सभी प्रकार के कर्मो का सम्पादन करते थे। अर्थात् बहुत लोगों के बीच रहते हुए, नाना प्रकार के कर्मो में व्यस्त रहते हुए भी, दृष्टि को किस प्रकार अन्तर्मुखी रखा जाता है, किस प्रकार स्वार्थबुद्धि का लेशमात्र भी न रखकर सब श्रेणी के लोगों की सेवा की जाती है, और किस प्रकार बाहरी कर्मो में व्यस्त रहते हुए भी अपने अभीष्ट के साथ अन्तर का योग अबिच्छिन रखा जाता है, इसी का निरन्तर अनुशीलन करते थे। इस सेवाब्रत में इन योगागों का भी अनुशीलन होता था, और सम्भवतः गुरुजी का अभिप्राय भी यही था।

साम्प्रदायिक चिन्ह और आचार

साधन सम्बन्धी शिक्षा–दीक्षा के अतिरिक्त संसारत्यागी मुमुक्ष साधकों को नाथयोगी साधु समाज में अन्तर्भुक्त करने के लिए दो साम्प्रदायिक आचार प्रचलित हैं, एक शिखाछेदन और दूसरा कर्णवेध। शिखाछेदन को बोलचाल की भाषा में 'चोटी काटना' कहते हैं। यह मुण्डन के समान है। गुरु ने अपने हाथ में कैंची लेकर शिखा और बाल का एक लट काट कर ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य से सन्यास आश्रम में शमिल कर लिया। इसका तात्पर्य यह होता है कि गुरु ने शिष्य का मस्तक–मुण्डन करके पूर्व जीवन का अवसान और नवजीवन का आरम्भ कर दिया। तब साधक का पुनर्जन्म हुआ तब से गुरु ही शिष्य का माता, पिता, आश्रयदाता, परिचालक और अभिभावक हो गया। इस आध्यात्मिक नवजन्म प्राप्ति के साथ–साथ पूर्वाश्रम के सभी सम्बन्ध छिन्न हो जाते हैं, वहाँ के सभी कर्त्तव्यों के दायित्व से अव्याहति मिल जाती है। तब उसके नाम और गोत्र का विसर्जन हो जाता है, वेशभूषा का भी परित्याग हो जाता है। गुरु उसको एक नया संन्यासोचित नाम देते हैं तथा पहिनने के लिए कौपीन और बहिर्वास प्रदान करते हैं।

इसके साथ ही गुरु एक काष्ठानिर्मित बंशी के समान यन्त्रविशेष रेशम की डोर में बांधकर शिष्य के गले में माला के समान पहना देते हैं। इस बंशी को 'नाद और रेशम की डोर को 'सेली' या 'जनेऊ' कहा जाता है। यह नादयन्त्र हृदय के भीतर होने वाले अनाहत नाद का ही प्रतीक होता है। योगार्थी को सर्वदा उस अनाहत दिव्य नाद की बात स्मरण कराने के लिए और उसके चित्त को उसी ओर समाकृष्ट करने के लिए ही इस कण्ठ विलम्बित नादयन्त्र का विधान है। किसी साधु के गले में सेलि और नाद देखने से ही उसे नाथ योगी सम्प्रदायभुक्त समझा जायेगा। इस शिखाछेदन और नाद सेलि ग्रहण के बाद योग साधक को अवघड़ कहा जाता है।

शिष्य जब गुरु को, देवता को, किंवा किसी श्रद्धेय योगी को प्रणाम करता है तो उस समय नाद में फूंककर प्रणवध्वनि करता है, एवं 'आदेश' 'आदेश' शब्द का उच्चारण करता है। गुरु अथवा दूसरा योगी भी 'आदेश', 'आदेश' उच्चारण करके प्रत्यभिवादन कर देता है। 'आदेश' शब्द का तात्पर्य 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' में इस प्रकार कहा गया है–

आत्मेति परमात्मेति जीवत्मेति विचारणे।
त्रयाणामैक्यसम्भूतिरादेश इति कीर्तितः।।
आदेश इति सद्वाणी सर्वद्वन्द्वक्षयापहाम्।
यो योगिनं प्रति वदेत् स यात्यात्मानमीश्वरम्।।

आत्मा, परमात्मा और जीवात्मा, इन तीनों की जो अभेदानुभूति है, उसी का नाम आदेश है। तात्पर्य को ध्यान में रखते हुए इस आदेश शब्द के उच्चारण करने से ही सब प्रकार के द्वन्द्व और मृत्यु से मुक्ति प्राप्त होती है। एक योगी दूसरे योगी को इस

परमतत्वबोधक शब्द द्वारा अभिवादन करता है। अर्थात् सर्वदा मिलन के समय एक योगी को चाहिए कि दूसरे योगी को इस बात का स्मरण करा दे एवं एक दूसरे को इसी तात्विक दृष्टि से देखे और अभिवादन करे। दोनों का हृदय अपने परमतत्व के साथ युक्त हो जाय।

संसारविरागी तत्वैकनिष्ठ उत्तमाधिकारी इस तरुण योगी को योग साधना में दीक्षित करके एवं योगमार्ग की विभिन्न धाराओं और साधन प्रक्रियाओं से परिचय कराकर, गुरु गोपालनाथ ने थोड़े ही समय में शिखाछेदन करके उन्हें अवघड़ श्रेणी में शामिल कर लिया, एवं उनको नाद, सेलि और कौपीन धारण करा दिया। बाबा गम्भीरनाथ ने निश्चय ही केवल साधु का बाहरी वेश ही नहीं धारण किया। उन्होंने पूर्वजीवन की समस्त स्मृति मन से निकाल दी। उनका नया जन्म हुआ। वे एक परमतत्वान्वेषी योगसाधक मात्र रह गये, वे स्वयं भी अपने को इससे भिन्न और कुछ न समझते थे। यदि कोई दूसरी प्रकार की कोई बात पूछता भी तो वे यही कह देते, ''प्रपन्च से क्या होगा'' ?

कर्णवेध

नाथ योगी साधुओं की अन्तिम साम्प्रदायिक दीक्षा का प्रधान अनुष्ठान है कर्णवेध। गुरु शिष्य के दोनों कानों में दो बड़े–बड़े छिद्र करके उसमें दो कुण्डल डाल देता है। ये कुण्डल साधारणतः पत्थर विल्लोर या गैंडे के सींग के बने होते हैं। इस कुण्डल को नाथ योगी गण शिव का कुण्डल मानते हैं। इस कुण्डल को, 'मुद्रा' तथा 'दर्शन' भी कहते हैं। इस साधारण नियम के कारण नाथ योगी साधुओं को 'दर्शनी' योगी तथा साधारण भाषा में 'कनफटा' योगी कहा जाता है। इस दीक्षा के हो जाने पर साम्प्रदायिक विधान से योगार्थी का पूर्ण त्याग या संन्यास हो जाता है, एवं सम्प्रदाय में उसे सम्पूर्ण रूप से योगपन्थी त्यागी साधु मान

लिया जाता है। योग साधना में सिद्धि प्राप्त करने के लिये यह कर्णवेध और कुण्डल धारण अत्यावश्यक नहीं है। किन्तु चिरन्तन साम्प्रदायिक रीति के अनुसार नाथ योगी साधक यह दीक्षा ग्रहण करते हैं।

गुरु गोपालनाथ ने शिष्य गम्भीरनाथ को साम्प्रदायिक विधानानुसार पूर्ण योगी बना देने के लिये, उनके इस अन्तिम अनुष्ठान को व्यवस्था कर दिया। इस अनुष्ठान में उन्होंने स्वयम् गुरुपद ग्रहण नहीं किया। देवी पाटन में इसी सम्प्रदाय के एक विशिष्ट योगी बाबा शिवनाथ जी के द्वारा इस अनुष्ठानिक दीक्षा का सम्पादन करवा दिया। यह साम्प्रदायिक रीति से अनुमोदित है। ऐकान्तिक योगार्थी गम्भीरनाथ को इन साम्प्रदायिक अनुष्ठानों के प्रति न कोई आग्रह ही था, न आपत्ति ही उन्होंने तो गुरु के चरण पर आत्मसमर्पण कर दिया था। गुरु जब जिस प्रकार की व्यवस्था करते थे, उसी को वे अपनी साधना के लिए अनुकूल मानते थे और उसी में प्रसन्न रहते थे। उनकी साम्प्रदायिक दीक्षा पूर्ण हो गई। अपने चरम अभीष्ट को प्राप्त करने के उद्देश्य से, गुरुपदिष्ट मार्ग पर उन्होंने अपना देह मन प्राण सब कुछ लगा दिया, एवं साधना में पूर्णतया डूब जाने के लिए गुरु का अनुमति की प्रतीक्षा करने लगे।

चतुर्थ अध्याय

काशी और झूंसी में गहन योग साधना

अन्तर में तीव्र वैराग्य और अदम्य तत्वपिपासा लिये हुए योगी गम्भीरनाथ गुरुसेवा, देवसेवा और आश्रमसेवा करते गये। परन्तु उनका चित्त आश्रम जीवन से क्रमशः हटने लगा। प्रतिदिन उनकी व्याकुलता बढ़ने लगी। वे सेवाव्रत का सम्पादन यथोचित रूप से अवश्य ही कर रहे थे, किन्तु उससे उनकी अन्तरात्मा को तृप्ति नहीं मिलती थी। उन्होंने गुरु की कृपा से योगसाधना के विभिन्न कौशल सीख तो अवश्य लिये थे, परन्तु उस साधना को पूर्णतया आयत्त कर लेने के लिए एवं साध्यतत्व को सम्यक् रूपेण अवगत कर लेने के लिये, दीर्घकाल तक निरन्तर साधना में निमग्न रहना आवश्यक था। आश्रम जीवन में विविध कर्तव्य सम्पादन के बीच गम्भीर साधना के लिये जितना अवकाश मिल पाता था, वह सर्वथा पर्याप्त न था। आश्रम का वातावरण भी निर्मल योगसाधना के अनुकूल न था। वे किसी के साथ वार्तालाप तो प्रायः करते ही न थे, दिन–रात के बीच एक क्षण भी व्यर्थ न जाने देते थे; आश्रम के सभी प्रकार के सेवकार्यो का वे भगवत्सेवाबुद्धि से और योगसाधना का अंग समझ कर सम्पादन करते थे; किसी अवस्था में उन्हे तत्वविचार की विस्मृति नहीं होती थी; कार्य से जब भी अवसर मिल जाता था, तभी आसन प्राणायाम मुद्रा आदि गुरुपदिष्ट हठयोग की प्रक्रियाओं का अनुशीलन करते थे। परन्तु उनके मन मे सदा ही इस बात का अनुभव होता रहता था कि इस प्रकार ऊपर ही ऊपर तैरने से तो जीवन की सम्यक् कृतार्थता प्राप्त न हो सकेगी, परमतत्व का निरावरण साक्षात्कार न होगा, शिवत्व में प्रतिष्ठा प्राप्त करना सम्भव न होगा। योगी गुरु गोरक्षनाथ के जीवन का आदर्श उनके अन्तश्चक्षु के सामने सर्वदा ही देदीप्यमान रहता था। वे जैसे उनके आह्वान की आवाज सदा सुन पाते हों; गोरक्षनाथ अदि जितने

महापुरुष तत्वज्ञान में, योर्गश्चर्य में और पूर्णानन्द में स्थिति प्राप्त करके विश्वपूज्य हो गये हैं, वे सब लोकसंग त्याग करके दीर्घकाल तक निरन्तर गहनतम योगसाधन में निमग्न होकर ही सिद्धि के उच्चतम सोपान पर आरोहण किये हैं। सर्वसंगविवर्जित तीव्र साधना के बिना चरमसिद्धि असम्भव है। आश्रम जीवन में जितना योगाभ्यास सम्भव था, वे करते थे। जितना ही साधना में स्वाद मिलता, उतना ही उनकी व्याकुलता बढ़ती जाती थी। जितना ही नये–नये रहस्यों का उद्घाटन होता जाता था, उतना ही तत्वराज्य में एक के बाद दूसरे कपाट खुलते जाते थे, उतना ही उनकी साधना का आवेग बढ़ता जाता था, उतना ही आश्रम की आवेष्टनी से मुक्ति प्राप्त करने की आवश्यकता तीक्ष्ण रूप से अनुभूत होती थी।

परन्तु उनकी गुरुभक्ति थी अपरिसीम, वे जानते थे–

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैव कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।

गुरु को वे ईश्वर मानते थे, उनकी निगाह में गुरु थे विश्वगुरु शिव के जीवन्त विग्रह। गुरुसेवा उनका प्रियकार्य था। गुरु की प्रसन्नतायुक्त आज्ञा के बिना उनके लिए आश्रमत्याग असम्भव था। वे प्रतीक्षा करने लगे। गुरु उनकी आन्तरिक अवस्था जानते थे। वे इस बात को समझते थे कि ऐसे आसाधारण योगाधिकारसम्पन्न शिष्य को, आश्रम के प्रतिकूल आवेष्टनी के अन्दर बहुतकालतक आबद्ध करके रखना उचित न होगा। तथापि कुछ समय तक उनको सेवकार्य में नियुक्त रखना युक्तिसंगत समझ कर ही वे आश्रमत्याग की अनुमति देने में विलम्ब कर रहे थे। प्रायः तीन वर्ष उन्होंने शिष्य को अपने पास रखा। इस बीच में उनकी शिक्षा भी पूरी हो गई, सेवाधर्म में परिपक्वता भी प्राप्त हो गई, योग के वहिरंग साधन में पटुता प्राप्त हो गई और अन्तरंग साधना का

आवेग भी प्रायः चरम सीमा पर पहुँच गया। उचित समय आने पर गुरु ने आश्रमत्याग की अनुमति दे दी।

आश्रम त्याग

गुरु की स्नेहपूर्ण अनुमति और आशीर्वाद प्राप्त करके तरूण योगी गम्भीरनाथ ने उनकी चरणधूलि मस्तक पर धारण किया एवं निष्किञ्चन जीवन यापन के लिए प्रस्तुत हो गये। उन्होंने नाथमन्दिर की प्रदक्षिणा की, प्रणाम किया और साधुओं का अभिवादन कियां अन्तर में असीम की आकांक्षा लिए हुए प्रंशान्त गम्भीर भाव से उन्होनें सबसे विदाई ली।

उन्होंने आश्रम का त्याग किया, गुरु के स्नेहसिक्त सान्निध्य से दूर चले। कहाँ जायेगें, कहाँ उनके बांछित सुगम्भीर योगसाधना के अनुकूल स्थान मिलेगा, इसका कोई पता न था। परिचित वातावरण का परित्याग करके उन्होंने पैदल यात्रा आरम्भ की। गंतव्य स्थान का उन्हें स्वयं भी पता न था, दूसरे को तो बतलाते ही कैसे? निर्जन मार्ग का अवलम्बन करके वे अनिर्दिष्ट यात्रा में अग्रसर हुए। भगद्विधान में उनका अविचल विश्वास था। वे इस बात को अपने अन्तर में निश्चित रूप से जानते थे कि उनकी लक्ष्यसिद्धि के लिये जो कुछ आवश्यक होगा उसकी समुचित व्यवस्था करूणामय भगवान् ही करेगें या कर रखे होंगे। केवल गुरुपदिष्ट साधनमार्ग पर अपनी चरम अभीष्ट सिद्धि की ओर अविराम अग्रसर होने के लिये ही उनको अपने पुरुषार्थ-का प्रयोग करना है; इसके अतिरिक्त किसी दूसरी दिशा में दृष्टि डालना सर्वथा अनावश्यक है; और तदनुकूल सारी विधिव्यवस्था करूणामय भगवान ही करेंगे। इस सुदृढ विश्वास के बल से वह बलवान, निर्भीक और निश्चिन्त थे।

काशीयात्रा

चलते–चलते उन्होंने काशी का मार्ग पकड़ा। काशीधाम गोरखपुर से प्रायः सीधे दक्षिण दिशा में पड़ता है, और दूरी है प्रायः १५० मी की। विश्वनाथधाम वाराणसी क्षेत्र के प्रति साधारण हिन्दू के समान उनकी भी गम्भीर श्रद्धा थी। संस्कारवश हो या भगवत्प्रेरणा से हो, उनके चित्त मे विश्वानाथदर्शन का संकल्प उदित हुआ, और वे काशी की ओर अग्रसर हुए। सम्बल था केवल कौपीन व कम्बल। अन्तर में उनके था शिवशक्तितत्त्व के अविच्छिन्न चिंतन का प्रवाह। भोजन और आश्रय की चिन्ता का स्थान ही उस चित्त में न था। उनका विचार था–

भोजनाच्छादने चिन्तां वृथा कुर्वन्ति साधकाः।

योऽसौ विश्वम्भरो देवः स किं भक्तानुपेक्षते।।

भोजन और आच्छादन के लिये साधकगण व्यर्थ ही चिन्ता करते है; जो भगवान् सारे विश्व के भरण–पोषण की व्यवस्था करता है, वह क्या अपने भक्तों की उपेक्षा करेगा? उनका विश्वास था कि गीता साक्षत् भगवान की वाणी है। गीता में अपने मुख से स्वयं भगवान सब एकान्तिक भक्तों के लिये इस अभयवाणी की घोषणा करते है :–

अनयन्याश्रिच्यतयन्तो मां ये जना पर्युपासते।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं बहाम्हम्।।

जो लोग नित्यनिरन्तर भगवान का चिन्तन करते है, सर्वतोभावेन भगवान कीही उपासना करते है, एवं एकान्तभाव से भगवान ही के ऊपर निर्भर रहते हैं, उन नित्याभियुक्त, अन्यमना, भगवत्‌गतचित्त भक्तों का योगक्षेम भगवान ही वहन करते है, उनके जीवन धारण के लिए जो कुछ आवश्यक होता है, वह सब भगवान

ही जुटा देते है।

सतरां ऐकान्तिक साधकों के लिये दैहिक प्रयोजनों की पूर्ति की प्रचेष्टा नितान्त ही आवश्यक है। इसी सुदृढ़ विश्वास को हृदय में धारण करके योगी गम्भीरनाथ ने अयाचकवृत्ति अवलम्बन करके मार्ग पर चलना आरम्भ कियां उनके चित्त में इस प्रकार के संकल्प उदित हुए कि, वे स्वयं जाकर कहीं भिक्षा नहीं मागेंगे, भूखे रहने पर किसी से कुछ न कहेंगे। सर्वदा भगवान की अहैतुकी कृपा के ऊपर निर्भर रहेंगे। काशी के मा·, पर ही उनके संकल्प की दृढता एवं ऐकान्तिक भगवन्निर्भरता की प्रर्याप्त परीक्षा हो गई। वे चलते थे जनशून्य मार्ग पर। दो दिन तक तो कोई भी उनके निकट भोजन न लाया। देह दुर्बल हुआ अवश्य परन्तु संकल्प दुर्बल न हुआ, विश्वास शिथिल न हुआ। वे हर श्वास के साथ भगवान का स्मरण करते हुये, भगवान की कृपा पर पूर्णतया निर्भर रहकर, धीरे–धीरे चले जा रहे थे। तीसरे दिन सर्वथा अप्रत्याशित रूप से एक पूर्वपरिचित ब्राम्हण के साथ उनका साक्षात्कार हुआ। ब्राह्मण देखते ही समझ गया कि वे भूखे हैं वे निश्चय ही अपने उपवास की कोई बात नहीं कहे, न अपने संकल्प ही की बात कहे। ब्राह्मण ने स्क्यं ही उनसे एक वृक्ष के नीचे बैठकर थोड़ी प्रतीक्षा करने के लिए प्रार्थना किया। उन्होंने जब अनिच्छा प्रकट की तब ब्राह्मण ने कहा कि उन्हें कुछ खिलाने के लिए श्रीनाथजी का आदेश था। अगत्या गम्भीरनाथजी बैठ गये। ब्राह्मण दौड़कर निकटवर्ती ग्राम में गया। कहीं पक्का-भोजन तो प्राप्त न हो सका। परन्तु थोड़ा सा दही और चिउड़ा लेकर दौड़ता हुआ आया। गम्भीरनाथजी ध्यानस्थ बैठे हुए थे। ब्राह्मण ने पहुँच कर उनका ध्यान भंग किया और आहार कर लेने के लिये अनुरोध किया। योगी समझ गया कि यह भगवान की ही लीला थी। आहार करके वे फिर काशी की ओर चल दिये। ब्राह्मण भी गोरखपुर की ओर चला। इस ब्राह्मण ने ही गोरखपुर पहुँच कर गोरक्षनाथ मन्दिर के साधुओं के निकट उक्त घटना को

प्रकाशित किया।

इसी प्रकार अन्तर में विश्वनाथ का चिन्तन करते हुए और बाहर मार्ग पर चलते–चलते कई दिनों के बाद काशीधाम में पहुँचें उनको कब और कहाँ आहार प्राप्त होता था, वे कब, कहाँ और किस प्रकार रात्रि बिताते थे, इन सब बातों को कोई नहीं जानता।

काशी और गंगा के महात्म्य में बाबा गम्भीरनाथ को अगाध विश्वास था। वे काशी को तीर्थों का 'राजा' कहते थे। उन्होंने गंगा में स्नान किया, विश्वनाथ का दर्शन किया और विधि ावत् पूजा अर्चना किया। शायद उनके मन में पहिले से ही इस बात का संकल्प भी न था कि काशी को ही वे अपना साधन क्षेत्र बनायेंगें। काशी में गंगा के तीर पर कई दिनों तक निःसंकल्प भाव से ही रहे एवं अपनी साधना में लगे रहते थे। विश्वनाथ के आकर्षण से वे काशी में रह गये। गंगातट पर एक अपेक्षाकृत निर्जन स्थान उन्हें गहन योग साधन के अनुकूल जान पड़ा। उस समय काशीध ाम में वे सर्वथा अपरिचित थे काशीनगरी लोककोलाहलपूर्ण भले ही हो, परन्तु इस बात की कोई आशंका न थी कि कोई उनके साध ान स्थान पर आकर उनकी साधना में विघ्न डालेगा। लोगों की ओर दृष्टिनिक्षेप करने का उनका स्वभाव ही न था, प्रयोजन भी न था भोजनादि के लिये वे भिक्षा भी न करते थे। भगवान की कृपा के ऊपर एकान्त निर्भरशील होकर वे अपने भीतर स्वयं डूबे रहते थे। आहार की व्यवस्था किस प्रकार हुई थी, इसका पता नहीं।

स्मरणातीत काल से इस महातीर्थ में कितने ही एकनिष्ठ साधक साधन करके सिद्धि प्राप्त किए है। अनेक महायोगी महाज्ञानी महाभक्त साधना में कृतार्थ होकर जीवनमुक्त अवस्था में इस विश्वनाथधाम में ब्रह्मज्ञान ब्रह्मध्यान ब्रह्मानन्द रसपान में विभोर रहते हुए कालयापन किये हैं बहुतों ने 'बहुजनहिताय' 'बहुजनसुखाय' ज्ञानाधर्मामृत वितरण करके जीवकल्याण किया है। उनका

आध्यात्मिक प्रभाव एकान्तिक साधकगण आज भी गम्भीर रूप में अनुभव करते है। हिन्दू धर्मावलम्बियों में यह प्रवाद प्रचलित है कि, इस महातीर्थ में भारत के सभी तीर्थो का समावेश है।

काशी में साधना

गम्भीरनाथ अनुकूल स्थान पाकर गुरुदिष्ट साधना में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दिए। मन्त्रयोग, हठयोग, राजयोग और भक्तियोग का समन्वय करके ही उनकी साधना थी। तीन वर्ष तक अनवरत उनकी गहन साधना चलती रही। इस स्वभावतः उच्चाधिकार सम्पन्न योग साधक ने तीन वर्ष की अविराम साधना के द्वारा अध यात्म राज्य के एक असामान्य उन्नत स्तर पर अविरोहण किया। उनका अन्तःकरण शिवशक्तिमय हो गया, चित्त और इन्द्रियाँ सूक्ष्म मनविक्षेप से भी मुक्त हो गई। हठयोग की बहुत सी कठिन प्रक्रियाओं में सिद्धि प्राप्त हो गई, अनेक अलौकित शक्तियाँ भी अधि गत हो गई और शुद्धबुद्धि में ब्रह्मज्ञान का आभास फूट पड़ा।

काशी त्याग

साधक के जीवन में जब आध्यात्मिक ज्ञान और शक्ति का विकास होता है, तब लोकसमाज के बीच रहकर उसे छिपाना बड़ा ही कठिन हो जाता है। अहर्निश साधननिरत धीर स्थिर गम्भीर मौनवाम् योगीपुंरुषों के अपने को यथासम्भव गुप्त रखने के लिये सावधान रहने पर भी, किसी न किसी प्रकार कौतूहली लोगों की दृष्टि आकृष्ट हो ही जाती है। साधारण साधुओं की अपेक्षा उनकी विशेषता लक्षित ही हो जाती है। एक–एक करके लोगों की जितनी ही अधिक दृष्टि उन पर पड़ती है उतना ही उनकी विशेषता भी और अधिक प्रकाशित होती है, एवं लोगों का आकर्षण भी बढ़ जाता है। गम्भीरनाथ तीन वर्ष तक जनसमाज के निकट निवास करके भी अपने को गुप्त रखकर निराबिल साधन भजन में निविष्ट रहने में

समर्थ हुए। किन्तु क्रमशः धर्मार्थी लोगों की दृष्टि उनके प्रति अधिक मात्रा में आकृष्ट होने लगी। उनका प्रिय काशीधाम उनकी गहन योगसाधना के अनुकूल अब न रहा। उनके विचार से अभी उनकी आध्यात्मिक साधना का आरम्भमात्र ही हुआ था और परिपक्वता प्राप्त करने के लिये और दीर्घकाल तक और गम्भीरतर साधना में निमग्न रहने की आवश्यकता थी। सम्यक् सिद्धि प्राप्त करने के लिये वे दृढ़संकल्प थे। जब उन्होंने देखा कि विश्वनाथ के धाम में रहकर अपनी अभीप्सित साधना में निरन्तर निमग्न रहना सम्भव न था, तब उन्होंने बिना किसी से कुछ कहे उस स्थान का त्याग कर दिया। दूसरे दिन लोगों ने देखा कि योगी वहाँ नहीं हैं। यह किसी को मालूम न था कि वे कहाँ चले गये।

काशीधाम का परित्याग करके वे चले पश्चिम की ओर। परिचित लोगों की दृष्टि बचाने के लिये उन्होंने निर्जन मार्ग का अवलम्बन किया। प्रयागराज उन्हें आकृष्ट किये। आहारादि की चिन्तातो उनके मन में आती ही न थी। इस समय केवल भगवद्वाणी में विश्वास ही न था, उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति थी कि ऐकान्तिक साधक का योगक्षेम भगवान् वहन करते है। केवल एक अपनी लक्ष्यसिद्धि की चिन्ता को छोड़कर दूसरी कोई भी चिन्ता उनके हृदय में स्थान ही न पाती थी। चलते–चलते वे त्रिवेणीसंगम पर पहुँचे। गंगा, यमुना और सरस्वती के पुण्यमिलन क्षेत्र में उन्होंने स्नान किया। उनके चित्त में भी उस समय इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के मिलनक्षेत्र आज्ञाचक्र में स्थित प्राप्त किया। उनकी कुण्डलिनी शक्ति जागृत होकर सहस्रार में शिव के साथ आनन्द मिलन का आस्वादन करने के लिये मानों व्याकुल हो उठी। उनका ज्योतिर्मय देह धीर स्थिर गम्भीर था। अन्तःकरण को जिस आनन्द का स्वाद मिला उसी में डूब जाने के लिये उसका आग्रह असीम हो चला।

झूंसी में साधना

जनसाधारण की कौतूहली दृष्टि और बाह्यजगत् के कोलाहल से बचने के लिये तथा गम्भीर योगसाधना में डूब जाने के लिये उन्होंने एक अनुकूल स्थान खोज लिया। ऐकान्तिक साधकों की सुयोग सुविधा का विधान करने के लिये जिसका करुणामय करकमल सदा प्रसारित रहता, उसी योगीश्वर भगवान् ने ही झूंसी में जान्हवी तट पर एक निर्जन गुफा में उन्हें पहुँचा दिया। गुफा प्रायः गंगाजी से संलग्न थी। तट के ऊपर से सहसा किसी की दृष्टि उसकी तरफ न जाती थी और न ऊपर का कोलाहल ही वहाँ पहुँचता था। किसी ऐकान्तिक साधक के अतिरिक्त वहाँ दूसरा कोई थोड़ी देर के लिये भी न रह सकता था।

निर्जन गुफा पाकर योगी का चित्त प्रसन्न हो गया उन्हें ऐसा जान पड़ा मानों गुफा उन्हीं के लिये प्रतीक्षा कर रही थी। उनके मन में इस बात का प्रश्न ही नहीं उठा कि वहाँ उनकी दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति किस प्रकार होगी। वहीं पर अपनी साधना की पूर्णता सम्पादन करने का संकल्प उनके चित्त में उदित हुआ। वे वहीं बैठ गये। थोड़े ही काल के भीतर बाबा मुकुटनाथ नामक एक नाथ सम्प्रदाय का ही तरुण साधु– कौन जाने किसकी प्रेरणा से, स्वयं आकर वहाँ उपस्थित हुआ और उनकी सेवा में प्रवृत्त हो गया। योगी के शरीर को स्वच्छ सबल और स्वच्छन्द रखने के लिये जो कुछ आवश्यक था, वह सब वही साधु निकटवर्ती ग्रामों से संग्रह करके लाता था। योगी जितना आवश्यक समझता था ग्रहण कर लेता था। सेवक के साथ उनका वार्तालाप शायद ही कभी होता रहा हो। वे अपनी आरब्ध योगसाधना की सर्वागींण पूर्णता सम्पादन करने के उद्देश्य से अपनी सारी शक्ति और सारा समय उसी में लगाने लगे। भगवान् के विधान से वे यहाँ भी तीन वर्ष तक रहे। इस काल में वे योग और ज्ञान की ऊँची भूमि पर आरोहण कर गये।

पञ्चम अध्याय

अनिकेत योगी

तीर्थ भ्रमण

कई वर्षो तक गहन साधन के द्वारा स्थिर भूमि प्राप्त करने के बाद, उनके शुद्ध चित्त में, अनिकेत होकर ध्यान और समदर्शिता का अभ्यास करने का संकल्प उदित हुआ। इस अवस्था में उन्होंने परिब्राजक भाव धारण किया। उनके परवर्ती काल के बात–चीत से अनुमान होता है कि, उन्होंने एक निष्किञ्चन योगी के वेश में भारतवर्ष के प्रायः सभी दुर्गम तीर्थो का परिभ्रमण किया था। हिमालय के सभी दुर्गम मार्गो तथा दर्शनीय स्थानों से वे परिचित थे। एक बार शिवरात्रि के समय बहुत से साधु गोरखपुर से नेपाल को पशुपतिनाथजी के दर्शन के लिये जा रहे थे। उस समय उन्होंने अपने युवक संन्यासी शिष्य बाबा शान्तिनाथजी को उन लोगों के साथ बाहर पर्यटन करने की आज्ञा दी। उनके दूसरे शिष्य बाबा निवृत्ति नाथ ने उस समय तक संन्यास नहीं ग्रहण किया था। उन्होंने भी जब उन लोगों के साथ जाने की अनुमति माँगी, तो बाबाजी सानन्द चित्त से अनुमति देकर बोले कि, इस उमर में ही तीर्थभ्रमण करना उचित है। वे लोग यात्रा के समय जब प्रणाम करने गये, तब बाबाजी उन लोगों को 'मुक्तिनाथ', 'कैलाश' और 'मानसरोवर' जाने के लिये भी आदेश दिये। कितने रास्ते है किस रास्ते पर कौन सी सुविधाएँ है, किन रास्तों पर कौन–कौन से संकट हैं, कहाँ–कहाँ विश्राम करना ठीक होगा, कहाँ किस प्रकार भिक्षा मिलेगी, कहाँ खरीद कर खाना होगा, साथ में क्या क्या ले जाना होगा, कहाँ किस प्रकार और किस भाषा में परिचय देना होगा, ऐसे–ऐसे विषयों पर विस्तृत उपदेश प्रदान किये। ध्यान परायण नीरव योगी के जागतिक अभिज्ञाता की ऐसी अप्रत्याशित जानकारी को देखकर वे लोग विस्मित हो गये। उपदेश के अन्त में वे

बोले–"भ्रम छूट जाना चाहिये"

पर्यटन के लाभ

पर्यटन में अनेक प्रकार के भ्रम, संशय और विपर्यय नष्ट हो जाते है। पर्यटक को विविध देशों के, विविध समाजों के, विविध जातियों के और विविध प्रकृति विशिष्ट लोगों के संस्पर्श में आना पड़ता है, और इस कारण उनके आहार, विहार, आचार, व्यवहार और मतामत आदि के सम्बन्ध में नाना प्रकार की विचित्रताओं को देख कर साधक विषयभोग से वितृष्ण और वैराग्य में सुप्रतिष्ठित हो जाता है। पर्यटन के समय एक ओर जैसे अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक क्लेश भोगने पड़तें है, उसी प्रकार दूसरी ओर अनेक प्रकार के प्रलोभन भी सामने आते है। यह क्लेश सहन जितना ही अभ्यस्त हो जाता है एवं प्रलोभनों पर जितना ही विजय प्राप्त किया जाता है।, चित्त उतनी ही दृढ़ता के साथ लक्ष्य पर संलग्न हो जाता है। आत्मविश्वास उतना ही बढ़ जाता है, भविष्य में पतन की सम्भावना भी उतनी ही कम हो जाती हैं। भिक्षा आदि के उपलक्ष्य में अनेक नीच व्यक्तियों के द्वारा नाना प्रकार का अनादर, अपमान और लाञ्छना आकर अध्यात्म जीवन के प्रधान शत्रु अभिमान को चूर्ण विचूर्ण कर डालते हैं। अनेक बार भीषण विपत्तियों में पड़कर नितान्त अचिन्तनीय उपायों द्वारा त्राण पाकर अनन्याश्रय पर्यटक का गुरु और भगवान् के नित्यसान्निध्य तथा अविराम प्रवाहिनी करुणाधार के ऊपर विश्वास सृदृढ़ हो जाता है।

अकेले विपत्तिपूर्ण पथ पर चलते–चलते चित्त निराश्रय के आश्रय भगवान् को ही दृढ़ता से पकड़े रहने का अभ्यस्त हो जाता है। निष्किचन अवस्था में नितान्त अपरिचित स्थानों में भ्रमण करते समय भी जब देखा जाता है कि शरीर यात्रा का निर्वाह हो जाता है, कब, किस प्रकार, कहाँ से, कौन वस्तु आ जाती है– जो प्रायः समझ में नहीं आता तब इस विषय के सब संशय मिट जाते हैं कि

भगवान् सत्य ही योग क्षेम का वहन करते हैं। अनेक प्रकार के दृश्यों को देखने की लालसा मनुष्य की एक स्वाभाविक वृत्ति है। प्रधान–प्रधान स्थानों का दर्शन करने से वह उत्सुकता भी मिट जाती है।

इस प्रकार पर्यटन द्वारा नाना प्रकार के भ्रमों के विनष्ट हो जाने की सम्भावना रहती है, इसी लिये पर्यटन साधन की एक अवस्था में विशेष उपकारक बताया गया है। विशेषतः पर्यटन काल में अनेक दृढ़वैराग्यवान्, नियतभजनशील, एकनिष्ठ, आत्मसमाहित साधक और सिद्ध महापुरुषों का संसर्ग प्राप्त होने से मुमुक्षा और साधन में ऐकान्तिकता अधिक मात्रा में बढ़ जाती है। युवावस्था में पर्यटन पूरा करके तत्परता के साथ 'यदि समाधियोग के अभ्यास में प्रवृत्त हुआ जाय तो साधन बहुत सुकर हो जाता है। इसी कारण बाबा गम्भीरनाथ अपने शिष्यों को तीर्थ यात्रा और पर्यटन के लिये प्रोत्साहित करते थे।

पर्यटन में साधना

उन्होंने भारतवर्ष के उत्तर दक्षिण पूर्व पश्चिम सभी प्रान्तों के सुप्रसिद्ध तीर्थों और तपोभूमियों का दर्शन किया था। प्रायः पैदल ही चलते थे। लेकिन उनके पर्यटन में एक विशेषता थी। अनिकेत अवस्था में साधन का अभ्यास करना ही उनका लक्ष्य था। वे सर्वदा चलते नहीं रहते थे ; साधन के लिये उपयोगी स्थान मिल जाने पर, कहीं एक मास, कहीं दो मास, कहीं चार मास, कहीं छः मास तक रह जाते थे और साधन में डूबे रहते थे ; बाद में फिर चलना आरम्भ करते थे। निवास के लिये यदि कहीं सुविधानुकूल गुफा मिल जाती तो उसी में आसन लगा देते, नहीं तो अधिकतर वृक्ष के नीचे या खुले आकाश के नीचे ही रहते थे। सम्बल में उनके पास था एक कम्बल, एक 'खप्पर' और परिधान में एकमात्र कौपीन। केशजाख अवज्ञावश प्राकृतिक नियमानुसार जटा के आकार में परिणत हो

गये थे। अवस्थितिकाल में या भ्रमणकाल में हो किसी भी अवस्था में उनके गाम्भीर्य और अन्तर्मुखीनता में व्यतिक्रम न होता था। उनकी दृष्टि सर्वदा ही तत्व में निबद्ध रहती थी और अन्तःकरण निरन्तर अन्तर्यामी के चिन्तन में निमग्न रहता था। बातचीत वे स्वयं तो प्रायः कभी करते ही न थे, तपस्या ओर गाम्भीर्य की प्रतिमास्वरूप उनकी मूर्ति को देखकर आगन्तुक लोग भी अवाक् होकर केवल दर्शन करते, कुछ बातचीत की अवतारणा करने का साहस ही न करते थे।

नर्मदा परिक्रमा

प्रयागराज से अन्तर्यामी की प्रेरणा से नाना स्थानों में घूमते हुए वे नर्मदातट पर पहुँचे। उनके इस भ्रमण की कोई बात मालूम नहीं। नर्मदा आर्यऋषियों की सात पवित्रतम नदियों में से एक है। इस नदी के उभयतीरवर्ती तपस्यानुकूल स्थानों में असंख्य महापुरुषों ने साधन भजन और सत्कर्म द्वारा जीवन को सार्थक करके मानवतत्व के चरम उत्कर्ष की प्राप्ति की है। नर्मदा के उत्पत्तिस्थल से समुद्रसंगमपर्यन्त जितने स्थान आते हैं सभी इस प्रकार महिमापूर्ण हैं कि हिन्दूसाधक नर्मदापरिक्रमा को अत्यन्त पुनीत मोक्षदायक कर्म मानते हैं।

निष्काम निष्किञ्चन योगी गम्भीरनाथ नर्मदा तीर पहुँच कर नर्मदापरिक्रमा का व्रत ले लिये। अन्तर में उनके हो रहा था शिवज्ञान शिवध्यान ओर शिवमय भुवनदर्शन और बाहर यन्त्रचालितवत् मार्ग पर चलना। अनवरत चलत रहना उनका स्वभाव था। वे कोई प्रयोजन या उद्देश्य लेकर तीर्थ भ्रमण नहीं करते थे। नदी के दोनो तटों पर भ्रमण करके पुण्य अर्जन करने का आग्रह भी उनके मन में न था। अपने अभ्यन्तर में डूब करके ही मानों वे पवित्र तीर्थो के आध्यात्मिक भावों के प्रवाद में अवगाहन करते थे। जो लोग चित्त और इन्द्रियों में चञ्चलता लिये हुए ही दौड़धूप करके तीर्थभ्रमण का

कर्तव्य 'येन केन प्रकारेण' पूरा कर लेते हैं, वे तीर्थो का महात्म्य नहीं समझ सकते। महाभारत में महर्षि पुलस्त्य ने भीष्मदेव से कहा है :–

"यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम्।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमन्श्रुते।।
प्रतिग्रहादपावृत्तः सतुष्टो येनकेनचित् ।
अहंकारनिवृत्तश्च स तीर्थफलन्श्रुते।।
अकलंको निराम्भो लध्वाहारः जितेन्द्रियः।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यः स तीर्थफलमन्श्रुते।।
अक्रोधनश्च राजेन्द्र सत्यशीलो दृढ़व्रतः।
आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थफलमन्श्रुते।।

जिसके दोनों हाथ, दोनो पैर सुसंयत होते हैं; एवं जिनकी विद्या, व्रपश्चर्या और कीर्ति सुसंयत होती है ; (अर्थात जो कभी भी विद्या और तपः शक्ति का दुरुपयोग नहीं करता, एवं जो किसी प्रकार के असत् कर्मद्वारा कीर्ति का अर्जन नहीं करता) वे लोग ही तीर्थ का फल पाते हैं। प्रसन्नचित्त से प्रदत्त अथवा अहिंसापूर्वक उपार्जित नितान्त प्रयोजनीय वस्तु के अतिरिक्त जो किसी अन्य वस्तु का ग्रहण नहीं करता, जो यदृच्छा लाभ से सन्तुष्ट अहंकारशून्य शाठ्यविहीन, दम्भविहीन, जितेन्द्रिय और पापवृत्तिरहित, क्रोधहीन सत्यशील, दृढ़व्रत और सब प्राणियों के लिये मैत्री सम्पन्न होता है वहीं तीर्थ के सम्यक माहात्म्य की उपलब्धि कर सकता है।

किस प्रकार तीर्थ तीर्थभ्रमण किया जाता है, किस प्रकार तीर्थभ्रमण करने से यथार्थ कल्याण की प्राप्ति होती है, इसके

आदर्श बाबा गम्भीरनाथ दिखा गये हैं। जो भी महापुरुष भविष्य में लोकगुरु का आसन और लोकसंग्रह का भार ग्रहण करते हैं उनके जीवन के छोटे–बड़े सभी कार्यो की आलोचना करने से ही यह धारणा उत्पन्न होती है कि, पहिले से ही उनका चरित्र मानों किसी अज्ञात शक्ति की प्रेरण से जनसाधारण के लिये आदर्श बनकर ही विकाश को प्राप्त होता है। बाबा गम्भीरनाथ चलते–चलते जब कहीं देखते थे कि कोई स्थान किसी प्राचीन सिद्ध महात्मा के तपः प्रभाव से विशेष महात्म्य समन्वित है, एवं वर्तमान में भी साधन के लिये विशेष अनुकूल है, तब वहाँ ही गम्भीर ध्यान में डूब जाते थे ; तो अवस्थानुसार वहीं ही कभी एक मास, कभी दो मास और कभी अधिक काल तक वहाँ योग की अन्तरंग साधना में निर्विष्ट रहते थे; बाद में फिर चलना आरम्भ कर देते थे। उनका गहन साधन और तीर्थ भ्रमण दोनो ही एक साथ चलता था। नर्मदा के उत्पत्तिस्थल शास्त्र प्रसिद्ध महातीर्थ अमर कटक में अपेक्षाकृत अधिक समय तक समाधि अभ्यास में अतिवाहित किये थे। इस प्रकार भ्रमण करते–करते प्रायः चार वर्ष नर्मदा परिक्रमा में उन्होंने व्यतीत किया था।

नर्मदा परिक्रमा के बाद उन्होंने और बहुत से तीर्थो का भ्रमण किया था। वे कहाँ–कहाँ गये थे इसका पूर्ण विवरण देना तो सम्भव नहीं। जिन स्थानों में जाने का पता मिलता है, उनमें से कहाँ पर परिव्राजक अवस्था में गये थे ओर कहाँ जीवन्मुक्त अवस्था में, यह भी ठीक तौर से नहीं कहा जा सकता, इसीलिए बाद में एक साथ ही इस विषय का उल्लेख किया जायेगा।

लौकिक तथा अलौकिक घटनायें

यह बात सर्वथा स्वाभाविक ही थी कि उन्हें पर्यटन के समय अनेक प्रकार की लौकिक अभिज्ञताएं प्राप्त हुई एवं अलौकिक घटनाओं का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। साधारण दृष्टि से जो अलौकिक जान पड़ता है ऐसी अनेक घटनाएँ जगत् में प्राकृतिक नियमानुसार

होती ही रहती हैं। साधारणतः जो हमारी अभिज्ञता के अन्दर नहीं आते, अथवा अपनी साधारण जानकारी से जिनकी कार्यकरण श्रृंखला का निर्देश करने में हम अपने को असमर्थ पाते हैं, उसी को हम 'अलौकिक' संज्ञा प्रदान करते हैं। किन्तु वस्तुतः लौकिक और अलौकिक के बीच में कोई निर्दिष्ट सीमा की रेखा नहीं खींची जा सकती। हमारे ज्ञानवृद्धि और इन्द्रिय शक्तियों की वृद्धि के साथ–साथ अनेक अलौकिक कार्य लौकिक की सीमा में आ जाते हैं। योगीगण और ज्ञानीगण योग और ज्ञान के अनुशीलन द्वारा प्राकृतिक नियमानुवर्ती रहते हुए ही ऐसे अनेक प्रकार के ज्ञान और शक्तियों को प्राप्त करते हैं, जो तद्रूप अनुशीलन विहीन साधारण लोगों को नितान्त अप्राकृतिक और अलौकिक जान पड़ता है। हमलोग जिन क्रियाओं ओर जिन वस्तुओं को देखते हैं, उनके विषय में भी यदि अधिकांश लोग कोई भ्रान्त धारणा रखते हैं, तो उस भ्रान्त धारणा को ही प्रायः हम लौकिक ज्ञान कहते हैं, और जब कोई तत्वदर्शी व्यक्ति उसके सम्बन्ध में सच्चे ज्ञान की शिक्षा देता है, तब उसी को हम अलौकिक ज्ञान समझते हैं। पुनश्व स्वार्थपरता, संकीर्णता, काम, लोभ, अहंकार मिथ्याचार आदि के फलस्वरूप, एवं उपयुक्त अनुशीलन के अभाव में हमारी इच्छा शक्ति और इन्द्रिह शक्तियाँ साधारणतः नितान्त क्षीण और दुर्बल रहती हैं, इसीलिये इस क्षीण ओर दुर्बल शक्ति को हम मन और इन्द्रियों की स्वाभाविक शक्ति मान लेने की भूल करते हैं; एवं जैसी शक्तियों का विकास हम साधारण लोगों में नहीं देखते, और वहीं यदि किसी व्यक्ति मे दिखाई पड़ जाय तो उसे हम अलौकिक या अस्वाभाविक समझकर चकित हो जाते हैं। जो लोग देह, इन्द्रिय और मन के विशुद्धिसंपादन, तथा ज्ञान और योग के विशेष अनुशीलन द्वारा ज्ञानशक्ति और इच्छाशक्ति का समुचित शोधन और विकास कर लेते हैं, उनकी अभिज्ञता और कार्यकलाप प्राकृतिक विधान के बहिर्भूत न होने पर भी साधारण लोगों की निगाह में अलौकिक जान पड़ते हैं। महापुरुषगण अपने अनुशीलनलब्ध

ा असाधारण ज्ञान और शक्ति को उपयुक्त शिष्यों के अतिरिक्त किसी दूसरे व्यक्ति को नहीं बतलाते। बाबा गम्भीरनाथ के तत्वैकनिष्ठ दृष्टि में इन सब अलौकिक ज्ञान, शक्ति और अभिज्ञताओं का कोई आध्यात्मिक मूल्य न था। इन सबकी भी गणना वे मानों प्रपञ्च के भीतर ही करते थे। इस सबके विषय में यदि कोई पूछता भी था तो वे बिल्कुल उपेक्षा के साथ जवाब देते थे। किसी प्रकार के योयैश्वर्य का प्रकाश करना तो उनके स्वभाव के ही विपरीत था।

बाबा शान्तिनाथ और बाबा निवृत्तिनाथ जिस दिन कैलाश और मानसरोवर यात्रा से लौटकर अपने नाना प्रकार के अभिज्ञताओं की बात श्री गुरुचरणों में निवेदन कर रहे थे, तथा किसी–किसी विषय में जिज्ञासा करके अपने संदेहों का निवारन करवा रहे थे, उसी दिन दो एक अलौकिक घटनाओं का विषय बातचीत के प्रसंग में बाबाजी ने उनके समक्ष उल्लेख किया था। दोनां उक्त शिष्यों से सुनी हुई एक घटना का उल्लेख यहाँ किया जाता है।

एक अद्‌भुत घटना

नर्मदातीर पर विचरण करते–करते एक बार दैवात् वे एक निर्जन कुटीर के निकट पहुँचे। एक ब्रह्मचारी उस कुटिया में रहकर साधन भजन करता था। वह उस समय उपस्थित न था, बाबा गम्भीरनाथजी उस स्थान की ओर आकृष्ट हुए एवं वहीं ध्यानमग्न हो गये। वे वहाँ तीन दिन रहे। प्रतिदिन ही वे देखते थे कि एक विशाल सर्प फण विस्तार करके उनके सम्मुख आकर उपस्थित होता, कुछ कालतक एक टक उनकी ओर देखता रहता, इसके बाद उनकी प्रदक्षिणा करके चला जाता था। ऐसा सर्प उन्होंने पहले कभी न देखा था। सर्प की अद्‌भुत आकृति और विस्मयकर व्यवहार देखकर वे समाधिस्थ हो जाते थे। तीसरे दिन वह ब्रह्मचारी जब लौटा और बातचीत के प्रसंग में बाबाजी से कहा कि यहाँ सर्प शरीर में एक अलोक सामान्य महात्मा रहते हैं, तब बाबाजी ने अपने देखे

हुए उस अद्‌भुत सर्प का विवरण बतलाया। ब्रह्मचारी अवाक् होकर उनसे बोला– ''मैं इस सर्प को देखने के उद्देश्य से ही यहाँ कुटी बनाकर १२ वर्ष से प्रतीक्षा कर रहा हूँ। किन्तु अभी तक उनका दर्शन नहीं मिला। आप आगन्तुक रूप में आकर तीनों दिन ही उस महात्मा का दर्शन पाते रहे, आप बड़े ही भाग्यवान् हैं।' ब्रह्मचारी को इस सर्परूपी महात्मा का पता किस प्रकार लगा, किस अभिप्राय या उद्देश्य की सिद्धि के लिये उन्हें सर्प देह ग्रहण करना पड़ा, ब्रह्मचारी के साथ ही उनका ऐसा कौन सम्बन्ध हो सकता है कि उनके दंर्शन प्राप्ति के उद्देश्य से वे बारह वर्ष से तपोरत होकर प्रतीक्षा कर रहे थे, उनका दर्शन मिल जाने से कौन सी कृतार्थता की प्राप्ति हो जाती, इतना निकट रहने पर भी दर्शन होता क्यों न था, बाबा गम्भीरनाथ का प्रतिदिन दर्शन करने आने और प्रदक्षिणा करने का क्या प्रयोजन हो सकता था, ऐसे–ऐसे अनेक प्रश्न स्वभावतः मन में उठते हैं। बाबाजी के दोनों उक्त शिष्य उनसे ऐसे प्रश्न पूछकर भी कोई उत्तर न पा सके। वे कभी यदि बातचीत के प्रसंग में हठात् किसी अलौकिक घटना का उल्लेख भी कर जाते तो उस विषय में और जिज्ञासा करने पर चाहे लौकिक भाव से ही उसकी व्याख्या करके कौतूहल निवृत्त करने की चेष्टा करते, चाहे मौन ही बैठे रहते। यही उनकी शिक्षा की प्रणाली थी।

———————

षष्ट अध्याय

कपिलधारा में अन्तरंग योगसाधना

बाबा गम्भीरनाथ ध्याननिष्ठ चित्त से नाना स्थानों में पर्यटन करने के बाद फिर किसी निभृत गुफा में सुनिर्दिष्ट आसन पर दीर्घकाल तक तीब्रतर अभ्यास योग में निरत रहने की आवश्यकता अनुभव करने लगे। अभी भी उनको पूर्णागंयोग की चरमसिद्धि में अचला स्थिति प्राप्त न हो सकी थी। इस समय वे एक बार गुरुध ाम का दर्शन करने के लिए गोरखपुर आये। पर्यटक साधुओं के मुखों से उनकी असाधारण योगसाधना की बातों का प्रचार अनेक स्थानों में ही गया था। गोरक्षनाथ मन्दिर में उनके गुरुदेव तथा अन्य साधुगण उनकी यशोगाथा सुनकर अपने को गौरवान्वित अनुभव करते थे। उनको आश्रम में पाकर वे छोड़ना नहीं चाहते थे। उनको इन सब लोगो के अनुरोध से कई महीने तक मन्दिर में रह जाना पड़ा। किन्तु उनका चित्त योग के चरम और परम पूर्णता को प्राप्त करने के लिये उत्कण्ठित था, वे कैसे लोगों की भीड़ में अधि ाक दिन रह सकते थे ? वे गम्भीर ध्यान में ब्रह्मभूत होकर चरम ज्ञान और चरम आनन्द का आस्वाद प्राप्त कर चुके थे, किन्तु सभी अवस्थाओं में उस ज्ञान और आनन्द को अनावृत्त अविक्षिप्त रखने में इस समय तक पूर्णतया अभ्यस्त न हो सके थे। अभी तक योगशास्त्रोंपदिष्ट कार्यसिद्धि उन्हें सम्यक् आयत्त न हुई थी, पिण्ड और ब्रह्माण्ड के सम्यक् समरसत्व की अनुभूति उनका स्वभाव न बन सकी थी, अन्तः प्रकृति और बहिः प्रकृति के ऊपर सम्यक् विजय सुप्रतिष्ठित न हुआ था, और भीतर बाहर समभाव के सर्वक्षण शिवशक्ति के लीलाविलास का दर्शन आस्वादन् स्वाभाविक जीवन प्रवाह का अंग न हो सका था। अभी तक उनको समाधि और जागरण का, निद्रा और व्युत्थान का समत्व सम्पादित नहीं हुआ था। यद्यपि लोकदृष्टि में वे सिद्धपुरुष जान पड़ते थे, तथापि उनके

अभीष्ट की सिद्धि तो अभी अपूर्ण ही थी। वे क्या अपने अधिगत ज्ञान ओर शक्ति का आस्वादन लेकर ही तृप्त रह सकते थे ? वे क्या योगजीवन के बीच में ही अपनी तीव्र साधना की परिसमाप्ति कर सकते थे ? आश्रम में बाबा गम्भीरनाथ बेचैन हो उठे एवं शिघ्र ही सबका संग परित्याग पूर्वक निरुद्देश्य यात्रा आरम्भ किए।

कपिलधारा का दृश्य

शिविल योगाभ्यास के अनुकूल स्थान का अन्वेषण करते–करते अन्तर्यामी की प्रेरणा से वे गया के समीपवर्ती ब्रह्मयोनि पहाड़ की चोटी पर कपिलधारा पर पहुँचे। यह स्थान उन्हें बहुत पसन्द आया। मनुष्य के हाथ में पड़कर इस स्थान की बाहरी आकृति इतनी बदल गई है कि बाबा गम्भीरनाथ के प्रथम दर्शनकाल में इसकी जो अवस्था थी उसका अनुभव करने के लिऐ कल्पना शक्ति का आश्रय लेना आवश्यक है। वर्तमान में वहाँ रतनगिरि के द्वारा प्रतिष्ठित आश्रम की पक्की इमारत प्राकृतिक सौन्दर्य की सघनता के साथ कृत्रिमता के आडम्बर का योग कर देती है। कितने ही साधु नियत रूप से उस आश्रम में निवास करते हैं एवं शहर के बीच–बीच में लोगों का आना जाना भी लगा रहता है, इस कारण स्थान को अब पूर्णतया निर्जन नहीं कहा जा सकता। किन्तु बाबा गम्भीरनाथ ने जब निरवच्छिन्न योगाभ्यास के लिए इस स्थान को मनोनीत किया था, तब यह सब कुछ भी न था। दो एक वैराग्यवान् निर्जनप्रिय साधकों के अतिरिक्त और लोग तो बहुत ही कम वहाँ आते जाते थे। इस स्थान का प्राकृतिक अवयव सन्निवेश जैसा मनोरम है वैसे ही यह साधना के अनुकूल भी है। तीन दिशा में तो ऊँचे–नीचे नाना श्रेणी के पहाड़ो की चहारदीवारी स्थान का परिवेष्टन करके उसकी निर्जनता ओर गाम्भीर्य को निरापद ओर सौन्दर्यमण्डित किये रखती है ; इनमें से सबसे उच्च है ब्रह्मयोनि। दूसरी तरफ एक संकीर्ण पहाड़ी रास्ता टेढ़ा–मेढ़ा जाकर बस्ती से

मिलता है। यह स्थान दुरारोह पर्वतशिखर के ऊपर नहीं स्थित है, तथापि नीचे की समतल भूमि से पर्याप्त ऊँचा है; दुर्गम जंगलाकीर्ण नहीं है, तथापि बीच–बीच में तरुछाया सुशोभित है ; छोटे–बड़े वृक्षों की श्रेणियाँ लतापल्लव समाच्छन्न शाखा प्रशाखा विस्तार करके सूर्यकिरण प्रवाह की कोमलता सम्पादन करते हैं। वे भी मानों ध्याननिष्ठ योगी हों। पहाड़ी के हिंस्र पशु भी उनके नीचे आराम पाते हैं और हिंसाविहीन निर्भीक साधु संन्यासी भी विश्राम पाते हैं। वहाँ शैत्य की तीक्ष्णता नहीं, उत्ताप की भी प्रखरता नहीं ; वायु निरन्तर मृदुमन्द गति से प्रवाहित होती है, मानों स्नेहमधुर हाथों से पंखा डूला रही हो ; और उसकी सेवा कोई ग्रहण कर रहा है कि नहीं यह देखने की उसे फुरसत ही कहाँ ? एक क्षुद्र निर्झरिणी मानों कोई शान्तिप्रद मन्त्र सुललित छन्द के स्वर में मन–ही–मन गान गुनगुनाती हुई इधर–उधर घूम फिर कर समतल भूमि की ओर अनवरत अग्रसर हो रही है। यह निर्झरणी ही कपिलधारा है। प्यास में जलप्रदान करके, मधुर संगीतालाप से अवसाद और संताप को मिटाकर, स्नान आचमन शौचादि क्रियाओं के लिए स्वच्छ सलिल का प्रबन्ध कर, देह मन की मलिनता धोकर, एवं इसी प्रकार अन्य उपायों से स्नेहमयी तपस्विनी कपिलधारा साधकों एवं समागत अतिथियों की सेवा करती रहती है। व्याघ्रादि जन्तु भी उसकी सेवा से वन्चित नहीं रहते। कपिलधारा के निकट–समतल भूमि के किनारे– कपिलेश्वर महादेव का प्राचीन मन्दिर है। उसके चारों ओर अनेक वृक्ष अपने शाखा–प्रशाखा का विस्तार करके मन्दिर को सुशीतल रखते हैं।

यद्यपि वर्तमान में आश्रम बन जाने से तथा लोगों का आना–जाना अधिक होन से और अन्य कारणों से स्थान की निर्जनता और गम्भीरता एवं प्राकृतिक नग्न सौन्दर्य का बहुत ह्रास हो गया है, तथापि यह स्थान साधना के लिये विशेष उपयुक्त है, यह बात किसी भी श्रद्वावान् व्यक्ति को सहज ही प्रतीत हो जाती

है। कोई बहिर्मुख व्यक्ति भी यदि एकाग्र मन से थोड़ी देर किसी वृक्ष के नीचे बैठकर मस्तक पर नीला आकरश, चारों तरफ पर्वत की ऊँची–ऊँची श्रेणियाँ, कपिलधारा का मृदुमधुर संगीत, अश्वत्य वृक्ष की एक तान सरसर ध्वनि, नीचे की समतल भूमि के पदार्थो की क्षुद्रता आदि का आस्वादन करता रहे तो स्थान की स्वाभाविक प्रशान्त गम्भीर उदासीनता क्रमशः हृदय पर चढ़ने लगती है, प्राण उदासीन होने लगता है, नेत्र अपने आप बन्द होने लगते हैं, समस्त चित्त आत्मसमाहित हो जाना चाहता है। यदि कल्पना के नेत्रों से यह देखने का प्रयत्न किया जाय कि आज से प्रायः अस्शी वर्ष पूर्व वह स्थान कैसा था, तो यहीं धारणा होगी कि यह स्थान बाबा गम्भीरनाथ के समान महायोगी की साधना के ही अनुकूल था।

गया क्षेत्र का प्रभाव

विशेषतः गया क्षेत्र हिन्दुओं का एक प्रधान तीर्थ और तपोभूमि है। यहाँ गयासुर के मस्तक पर स्थित विष्णुपादपद्म पर पिण्डदान करना एक प्रधान पारलौकिक क्रिया है हिन्दूमात्र का यह विश्वास है कि जिसके उद्देश्य से गया में पिण्डदान किया जाता है, उस मृत व्यक्ति की जीवात्मा प्रेतयोनि से उद्धार प्राप्त करती है और यदि किसी विशेष पाप के फलस्वरूप नीच योनि में जन्म पा गया हो तो शीघ्र ही उससे मुक्ति मिल जाती है, या जहाँ कहीं भी उसका जन्म हुआ हो एवं चाहें जैसी भी अवस्था में हो वहाँ ही इस पिण्डदान के फलस्वरूप उसे सुख का अनुभव होगा और उसका कष्ट हल्का हो जायेगा। बाबा गम्भीरनाथ भी इस विश्वास का समर्थन करते थे एवं गया में पिण्डदान करने का उपदेश देते थे।

जगद्गुरु बुद्धदेव ने बुद्धगया में सिद्धि प्राप्त की थी, यह सबको ज्ञात है। कलिपापनावतार चैतन्यदेव के हृदयप्रस्रवणविनि. सृत जिस भक्ति और प्रेम के प्रवाह ने बंगदेश और दाक्षिणात्य को प्लावित किया था, वह उनके हृदय को फोड़कर गया में ही प्रथम

प्रवाहित हुआ था। जिनकी साधना और उपदेश ने नवीन बंगदेश के हृदय में भक्तिभाव और साधुसंग लालसा को विशेष रूप से उद्‌बुद्ध किया था एवं जिनके प्रभाव से बंगभूमि भक्तिभूमि कहलाने लगी तथा साधु समाज की विशेष कृपादृष्टि का पात्र बनी, वे महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी भी गया में ही कपिलधारा के निकटवर्ती आकाश गंगा पहाड़ पर ही सद्‌गुरु कृपालाभ और साधन भजन किये थे। कितने महायोगी महाज्ञानी गया के निकटवर्ती पर्वतीय स्थानों में साधन भजन में निमग्न रहकर मानव जीवन के चरम कल्याण की प्राप्ति किये थे, इसका निर्णय करना सम्भव नहीं है। अनेक साधन गुफाएँ इस बात का साक्ष्य देती हैं। जो लोग सिद्धि प्राप्त करके जीव के प्रति करुणा परवश होकर जनसमाज में लोकचक्षु के समक्ष आकर प्रकाश्य रूप से ज्ञान और धर्म की ज्योति वितरण किये, संसार उन्हीं को जानता है, एवं उन्हीं में से किसी–किसी असाधारण प्रभाव सम्पन्न महात्मा का नाम और कृतियाँ इतिहास, काव्यकाल और साहित्य आदि में स्थान पाते हैं। किन्तु जो लोकोत्तर महापुरुष लोकशिक्षा की वासना को भी वासना समझकर त्याग देते हैं, करुणा का भी बन्धन मानकर चित्त से निकाल देते हैं, वे तो लोक चक्षु के अन्तराल में पार्वत्य गुफादि में रहकर ही चिरजीवन आत्मानन्द संभोग करके यथा समय शरीर त्यागकर विदेह मुक्ति प्राप्त करते हैं; उसकी साधना और तत्वज्ञान की शक्ति जगत् के नैतिक और आध्यात्मिक विधान के अनुसार अलक्षित रूप से अपरापर सभी मनुष्यों के अन्तःकरण के ऊपर; अर्थात् मनुष्य के व्यक्तिगत, समाजिक और जातीय जीवन के ऊपर तथा जागतिक जीवन प्रवाह के गति के ऊपर, यद्यपि अनिवार्य प्रभाव डालती है, तथापि उसे जान सकने का कोई उपाय नहीं, और न उसकी खोज खबर ही किसी को रहता है।

भारतवर्ष के साधन जीवन का जो स्वरूप है, उससे यही अनुमान होता है कि लोक समाज में परिचित यथार्थ महापुरुषों की

अपेक्षा अपरिचित, निरन्तर साधननिरत, समाधि आनन्द में विभोर यथार्थ महापुरुषों की संख्या अधिक ही होगी। गया के पर्वतों में ऐसे ज्ञात और अज्ञात अनेक साधकों ने सिद्धियाँ प्राप्त की हैं। हिमालय के अतिरिक्त गया की पर्वत श्रेणियों के समान साधन के अनुकूल स्थान बहुत ही कम है। इसीलिये असंख्य साधक चिरकाल से इन स्थानों में साधना करते आ रहे हैं, संसार जाने या न जाने। बाबा गम्भीरनाथ ने भी इस स्थान को अपनी साधना की चरम अवस्था में निगूढ़तम योगाभ्यास के लिये मनोनीत किया था।

कपिलधारा पर साधना

बाबा गम्भीरनाथ ने जब कपिलधारा पर्वत पर आसन ग्रहण किया, तब आश्रम की तो बात ही क्या, वहाँ कोई गुफा पर्णकुटी भी न थी। वे दिनरात खुले आकाश के नीचे ऐकान्तिक साधन भजन में व्यतीत करते थे। कभी–कभी ब्रह्मयोनि आदि ऊँचे पर्वतों पर जाकर समाधि निमग्न हो जाते थे, कभी पर्वतशीला पर अथवा किसी स्वभाव निर्मित गछर में समासीन होकर आत्मसमाहित भाव में बैठे रहते थे, प्रायः कपिलधारा में ही किसी वृक्ष के नीचे या आकाश के ही नीचे ध्यानस्तिमितलोचन होगर आत्मानन्द सम्भोग में डूबे रहते थे। शीत ग्रीष्म उनके लिए समान था। वर्षा की जलधारा सिर पर गिर रही है, योगिराज स्थिर आसन में प्रसन्नचित निश्चल भाव से बैठे है, किसी दिशा में भ्रूक्षेप भी नहीं हैं वे सम्पूर्ण रूप से निःसगं थे, साथ में काई साधु या सेवक भी नहीं रहता थां पहनने के लिए एकमात्र कौपीन, देह पर केवल एक कम्बल, बाकी सामग्री में एक खर्पर अर्थात नारियल का बना हुआ पात्रविशेष और एक फौरी अर्थात योगदण्ड विशेष।

योगक्षेम का विधान

किन्तु ऐसे अनन्यचेता साधको के योगक्षेम वहन की व्मवस्था

भगवान पहले से ही कर दिये थे। उनके गया पहुँचने के थोड़े ही समय के बाद अक्कू कुर्मी नामक नीच जाति के दरिद्र व्यक्ति को उनका दर्शन मिल गया। वह लकड़ी आदि एकत्रित करने के लिए कपिलधारा आदि पर्वतों पर घूमा करता था। इस निष्किञ्चन ध्याननिष्ठ साधु का दर्शन करके वह,–न जाने किसकी प्रेरणा से–स्वतः प्रवृत्त होकर उनकी सेवा करना आरम्भ कर दिया। वह नीच कुलोत्पन्न धनहीन, ज्ञानहीन व्यक्ति किसी अलक्ष्य शक्ति द्वारा परिचालित होकर ही मानों साधु को किस वस्तु का प्रयोजन है, यह समझ जाता था एवं उनके आदेश या इंगित की अपेक्षा न करके स्वयं ही ध्यानमग्न साधु के लिए धूनी की लकड़ी बटोर लाता, धूनी जलाये रखता, आहार के लिए प्रबन्ध करके फलमूल दूध आदि ले आता तथा और विविध उपायों से महायोगी के शरीर की समयोपयोगी सुविधा विधान की चेष्टा करता था। इस गरीब बिचारे का परिवार भी छोटा न था। वे दो भाई थे, दोनो स्त्रियाँ तथा कई लड़के–लड़कियाँ थीं। दोनों भाईयों को केवल शारीरिक परिश्रम द्वारा ही परिवार का भरण–पोषण करना पड़ता था। किन्तु यह होने पर भी अक्कू इस महापुरुष की सेवा में अपना अधिक समय और शक्ति लगाता था। यही जैसे उसके सब कर्तव्यों में श्रेष्ठ कर्त्तव्य बन गया था। उसी की देखी देखा उसका भाई मुन्नी भी साधु सेवा में आकर योग देता था। क्रमशः अक्कू का सारा परिवार ही बाबा गम्भीरनाथ का एकेनिष्ठ सेवक बन गया। वे सब उनकी सेवा करते थे, अपने दुख–सुख की बातें अपने मन से ही आकर उनके निकट कह जाते थे, वे सुनते हैं या नहीं, सुनकर भी कोई प्रतिकार करेंगे या नहीं, इन विषयों पर चिन्ता करने की मानों वे कोई आवश्यकता ही नहीं समझते थे, – कोई भी विपत्ति आ पड़ने पर वे बाबाजी के निकट निवेदन करके ही निश्चिन्त हो जाते थे। बाबा गम्भीरनाथजी के परवर्ती जीवनकाल के व्यवहार से यही जान पड़ता था कि अक्कू परिवार के निकट वे मानों अपने को चिरऋृणी समझते थे। वे अपने

जीवन के अन्त तक इस परिवार के प्रति विशेष कृतज्ञतापूर्ण स्नेहदृष्टि कायम रक्खे थे, इसका कुछ परिचय आगे दिया जायेगा।

सेवक नृपत्नाथ

इसी प्रकार दो महीना या उससे भी कुछ अधिक काल बीतने पर, एक योगधर्म पिपासु साधक उनके निकट उपस्थित हुआ। ये थे बाबा नृपत्नाथ। वे उस समय गृहस्थाश्रम का परित्याग करके ब्रह्मचर्यावस्था में सद्गुरु की खोज में थे। बाबा गम्भीरनाथ का दर्शन पाकर उन्होंने दीक्षा के लिए प्रार्थना की। किन्तु बाबा जी राजी न हुए। वीर साधक नृपत्नाथ भी भग्नमनोरथ न होकर, तथा मनसा वाचा कर्मणा उन्हीं को गुरु मानकर और गुरु सेवा को ही मोक्ष का उपाय समझकर, उनकी सेवा में प्रवृत्त हो गया। इसके पूर्व नृपत्नाथ कभी–कभी अन्यत्र भी चला जाता था। परन्तु बाबाजी जब साधन में निमग्न रहते थे उस समय नृपत्नाथ उनके देहरक्षण और सुविधा विधान में ही लगा रहता था। वह उनके आहारादि की व्यवस्था तो करता ही था, इससे भी अधिक उनकी साधना को सब प्रकार के विघ्नों से सुरक्षित रखने के लिए वीर सेवक नृपत्नाथ प्रायः भैरव वेश धारण करके हाथ में त्रिशूल लेकर हिस्र जन्तुओं को हटाता रहता और मनुष्यों को भी शान्ति भंग होने या ओर उद्वेग उत्पन्न होने की आशंका से भय दिखाकर भगा देता था।

नृपत्नाथ आदर्श गुरु का आदर्श सेवक था। उसमें रुद्रभाव कुछ अधिक अवश्य था। श्रद्धालु आगन्तुकों के प्रति भी रुद्रभाव प्रदर्शन करने के लिए उसे बीच–बीच में गुरुजी से भर्त्सना भी मिलती थी। किन्तु कोमल हृदय प्रमी साधक को निराविल साधना का सुयोग देने के लिए सेवक के कुछ रुद्रभाव की शायद आवश्यकता भी थी। १३–१४ वर्ष तक कायमनी वाक्य से सेवा करने के बाद भी बाहरी तौर पर गुरुदेव ने सेवक को किसी प्रकार की मन्त्र दीक्षा न दी थी। इससे निष्काम सेवक का महात्म्य और अधि

ाक परिस्फुट होता है, एवं इस निष्काम सेवा द्वारा वस्तुतः नृपत्नाथ कृतार्थ हो गया। साधन जीवन के पूर्ण हो जाने के बाद अनेक साध ुओं के लगातार के आग्रहातिशय से ही मानों बाध्य होकर गुरुजी ने नृपत्नाथ को वाह्यतः दीक्षा प्रदान किया।

सेवक शुद्धनाथ

अक्कू और नृपत्नाथ द्वारा सेवित होकर कुछ समय तक बाबाजी स्वच्छन्दरूप से कपिल धारा में साधन निमग्न रहे। उसके बाद ग्रहण के उपलक्ष में एक बार काशी गये। उस समय नाथ सम्प्रदाय के गोरखटिला नामक स्थान में ही कई दिन तक रहे। इसी समय बाबा शुद्धनाथ उनके असाधारण भावगम्भीर तेजोमय मूर्ति का दर्शन करके उनके प्रति आकृष्ट हुए, एवं सेवक रूप में उनके साथ गया चले आए। शुद्धनाथ भी तभी से नृपत्नाथ के सहकारी रूप में मनवाणी कर्म से बाबाजी की सेवा में लग गये। इस प्रकार वे बहुत काल की गुरु की सेवा द्वारा आत्मशुद्धि प्राप्त करके नृपत्नाथ की दीक्षा के कई महीने बाद, बाबाजी के चेला बनने का अधिकार प्राप्त किये। बाबाजी के साधन जीवन में यही तीन प्रध ाान सेवक थे। तीनों का सौभाग्य असाधारण था। उनमें से अक्कू का तो बहुत पहले ही शरीर त्याग हो गया था। बाबाजी की महासमाधि के ५–६ महीना पूर्व नृपत्नाथ का तिरोधान हुआ था। बाबा शुद्धनाथजी इसके बाद भी कई वर्षो तक जीवित थे और उन्हीं के निकट से बाबाजी के साधन जीवन के सम्बन्ध में अधिकाशं तथ्य संगृहीत हुए हैं। इनके अतिरिक्त दो धनी गृहस्थों ने भी गया में साध ान करते समय बाबाजी की सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त किया था। एक थे गया के माधोलाल गयाली और दूसरे पटना के मोतीलाल घोष। माधोलाल के साथ परिचय होने के बाद से कपिलध ाारा में गुफा का निर्माण और दूसरे सब प्रकार के व्ययों का भार प्रायः वे ही वहन करते थे।

कपिलधारा पहाड़ के नीचे खर्पर भैरव नामक स्थान पर नृपत्नाथ और शुद्धनाथ ने एक छोटी सी कुटिया बना ली थी। उसी में वे लोग आहार, शयन और विश्राम करते थे। बाबा गम्भीरनाथ पहाड़ के ऊपर निष्किचन, निरालंय और निराश्रय रूप में ध्यान मग्न रहते थे। दोनों सेवक जब जिस वस्तु की आवश्यकता समझते थे उसकी व्यवस्था कर देते थे। ओर अवसर मिलने पर नीचे आकर विश्राम क़रते थे। इसी प्रकार कुछ समय बीतने के बाद क्रमशः लोक परम्परा से कौतूहली लोगों के बीच इस बात का प्रचार बढ़ने लगा कि वे 'खूब बड़े महात्मा हैं।' ब्रह्मयोनि पर्वत के विभिन्न भागों में निर्जन स्थानों में जितने साधक परमार्थान्वेषण में निरत थे, वे भी बाबाजी के प्रभाव को अनुभव करके उनके प्रति विशेष रूप से भक्ति श्रद्धा करने लगे। उनकी पवित्र सन्निधि में चित्त सहज ही समाहित हो जायेगा, इसी आशा में अनेक महात्मा रात्रि के समय अपने–अपने स्थान से आकर उनके निकट आसन ग्रहण करते थे, एवं उनके साथ ध्यान में योग देते थे। दिन में भी अनेक श्रद्धावान गृहस्थ सकाम या निष्काम भाव से उसके दर्शन की आकांक्षा से आने लगे। वे कभी–कभी तो लोक दृष्टि से बचने के लिये सुगम्भीर निर्जन प्रदेशों में चले जाते थे, और कभी–कभी नृपत्नाथ लोगों को रोक देते थे, या कभी–कभी वे स्वयं निर्वाक् निस्पन्द होकर अपने भाव में ही डूबे रहते थे, और भक्तिमान् दर्शनार्थी दर्शन ओर प्रणाम करके लौट जाते थे।

सकाम सेवा से भी कल्याण

इसी समय माधोलाल पण्डा एक भयानक मुकदमें में फंस गया। मुकदमें में हारने से उनका सब कुछ चला जाता। तथापि जीतने की कोई सम्भावना भी आपातदृष्टि में दिखलाई न पड़ती थी। ऐसी अवस्था में स्वभावतः ही संसारी लोगों के हृदय में आत्यन्तिक दीनता का संचार होता है, एवं भगवद्भक्ति भी अतिमात्रा में बढ़ जाती

है। वह बाबा गम्भीरनाथ के असाधारण तपस्या के प्रभाव को समझकर दीनभाव से और आर्ति के साथ उनके शरणापन्न हो गया तथा उनकी सेवा में देह प्राण और मन सब लगा दिया। आर्त और अर्थार्थी भक्त भी यदि अपनी कामना पूर्ति के उद्देश्य से निष्कपट और व्याकुल हृदय से भगवान् के या भगवत्प्राण किसी महापुरुष के चरणों पर आत्मसमर्पण कर दे, तो भगवान् की और महापुरुष की कृपा से केवल उसके कामना की ही पूर्ति नहीं होती, बल्कि इससे भी अधिक यह होता है कि उसका चित्त विशुद्ध होकर आर्ति तथा अर्थपिपासा से मुक्त हो जाता है एवं अहैतुकी भक्ति का अधिकारी हो जाता है। बाबा गम्भीरनाथ कभी कोई अलौकिक योगशक्ति प्रकट नहीं करते थे, इसलिए ऐसी सम्भावना तो थी नहीं कि किसी अलौकिक योगशक्ति का प्रयोग करके वे उस सकाम सेवक की हृद्गतम प्रार्थना का पूर्ण कर देंगे। किन्तु दयार्द्र दृष्टि भक्त माध ोलाल के ऊपर डालते थे, एवं एक दिन उनको नितान्त कातर देखकर बाबाजी मुख से सहज भाव से यह आक्षीर्वाणी निकल पड़ी कि 'अच्छा ही होगा,' और विषाद न करने का उपदेश दिये। यथा समय माधोलाल बिलकुल निराश होने पर भी हाईकोर्ट में जीत गया। उसके मन में इस बात पर कोई सन्देह न रहा कि यह जीत महापुरुष की कृपा और आशीर्वाद का ही फल था। तभी से माध ोलाल बाबाजी का एक विशेष अनुगत भक्त हो गया, उसकी सेवा में जो सकाम भाव था वह निकल गया, निष्काम भाव से बाबाजी की सेवा करने लगा, और उन्हें किसी भी प्रकार की कोई भी सुविधा प्रदान करने का अवसर मिलने पर वह अपने को कृतार्थ मानता था।

योगगुफा निर्माण

कुछ समय बाद गम्भीर साधना के लिए कपिलधारा में एक योग गुफा बनवा देने का संकल्प उसके मन में उठा। इसके लिए बाबजी से अनुमति मांगी और बाबाजी भी अनुमति देकर उसकी

प्रार्थना को पूर्ण कर दिये। सेवक के आग्रह पर इस बात का उपदेश भी दे दिये कि गुफा कैसी बनाई जाय। माधोलाल ने बाबजी द्वारा निर्दिष्ट स्थान पर उन्हींके उपदेशानुसार एक सुन्दर योगगुफा निर्माण करके अपने को भाग्यवान् माना। इस गुफा के निकट ही एक वेदी बनाई गई और वेदी के बीच में एक विल्व वृक्ष आरोपित हुआ। बाबाजी ने अपने हाथ से इस वेदी पर कई त्रिशूल गाड़ दिये। वेदी के चार कोनों पर चार आसन स्थापित किए गए। उक्त योगगुफा और तत्संलग्न वेदी आदि आज भी वर्तमान है। इस गुफा में योगिराज गम्भीरनाथ नियमित रूप से १२–१३ वर्ष तक ऐकान्ति‍क योग साधन में निमग्न थे।

गुफा निर्माण की योग शास्त्रानुकूल प्रणाली

हठयोगप्रदीपिका में योगमठ का जैसा वर्णन देखा जाता है, सम्भवतः उसी प्रणाली के अनुसार उन्होंने गुफा निर्माण का उपदेश दिया था।

स्वल्पद्वारमरन्ध्रगर्तपिटकं नात्युच्चनीचायतम्।
सम्यक गोमय सान्द्रलिप्तममलं निःशेषबाधोज्झितम्।।
वाह्ये मण्डपकूपवेदिरुचिरं प्राकारसंवेष्टितम्।
प्रोक्तं योगमठस्य लक्षणमिदं सिद्धैर्हठाभ्यासिभिः।।

योगमठ का द्वार छोटा होना चाहिये, रन्ध्रगर्तादि शून्य, स्वल्पायतन, न अति उञ्च, न अति निम्न, गोमयलिप्त और साफ होना चाहिये; योगविघ्न कर कोई जीव या वस्तु वहाँ नहीं रहना चाहिए; बहिर्भाव मण्डप कूप और वेदी द्वारा शोभित होना चाहिए और चहारदीवारी या प्राचीर द्वारा घिरा होना चाहिए। हठयोगाभ्यासी सिद्धों ने योगमठ का ऐसा ही वर्णन किया है।

यह स्थान स्वभावतः ही योगमठ के लक्षण से युक्त था, उसमें योग गुफा बन जाने से इसकी पूर्णागंता सम्पन्न हो गई।

गम्भीर साधना

योगगुफा तैयार हो जाने पर वे पहले कुछ दिन गम्भीर ध्यान और गुह्य योगांगो का अभ्यास करने के लिए गुफा में प्रवेश करते थे और अन्य समय बाहर ही पूर्ववत् विराजमान रहते थे। बीच–बीच में गुफा के भीतर गम्भीर ध्यान में ऐसे निमग्न हो जाते थे कि दिन–रात के बीच एक बार भी गुफा के बाहर नहीं आते थे। कभी–कभी एक या दो दिन का अन्तर देकर केवल एक बार बाहर निकलते थे। कई बार सेवक आहार और जल लिए हुए बाहर प्रतीक्षा करता रहता था और इसका पता भी न रहता था कि वह कब निकलेंगे। समाधि भंग होने पर जब वे बाहर आते तो उस समय कुछ खा लेते और कोई दर्शनार्थी उस समय होता तो उसे दर्शन भी प्राप्त हो जाता। इसके बाद सप्ताह में केवल दो बार बाहर निकलते थे। उसी समय आहारादि की व्यवस्था भी चलने लगी। इस प्रकार कई महीने बीत जाने पर उन्होंने नियम कर लिया कि सर्वदा गुफा के भीतर ही साधन में निमग्न रहेंगे, सप्ताह में केवल मंगलवार के अपराह्न में एक बार बाहर निकल कर कुछ घण्टे रहेंगे। सेवकों से ज्ञात हुआ कि इस नियम का पालन करते हुए उन्होने दो वर्ष साधन किया। उस समय सेवक एक पाव दूध प्रतिदिन उनकी गुफा में रख आता था। गुफा के भीतर दो खण्ड थे, भीतर वाले खण्ड में वे ध्यान मग्न रहते थे। सेवकों को भी उसके भीतर प्रवेश करने का अधिकार न था। वे केवल किसी निर्दिष्ट समय गुफा के बाहरी कमरे के भीतर दरवाजे के सामने दूध रख देते थे। ध्यान जब कुछ शिथिल होता था, तब वे उसे पी लेते थे। मलमूत्र त्याग करने की कोई आवश्यकता न होती थी।

साप्ताहिक दर्शन

बहुत से गयानिवासी लोग उनको उस समय एक अलोक सामान्य महात्मा मानते थे। मंगलवार के अपराह्न में उनके दर्शन की आशा से बहुत से लोग अपनी शक्ति के अनुसार फल, मूल, मिठाई आदि सेवा के उपयोगी वस्तु सामग्री लेकर गुफा के बाहर वेदी के निकट प्रतीक्षा करते थे। वे सन्ध्या से पहले गुफा से बाहर निकलकर वेदी पर अपने हाथ से गाड़े हुए त्रिशूलों के नीचे एक आसन पर बैठ जाते थे। प्रायः कुछ भी न बोलते थे। तो भी अपनी ईषत् स्निग्धमधुर दृष्टि से समागत दर्शकवृन्दों के मन और प्राण को अभिसिंचित कर देते थे। किसी की लाई हुई वस्तुओं का तनिक स्पर्श कर देने से वे लोग अपने भाग्य की सराहना करके अपने को कृतार्थ समझते थे। अक्सर उन वस्तुओं पर ग्रहणसूचक एक दृष्टिपात करके उपस्थित लोगों के बीच में उसका वितरण कर देने का इशारा कर देते थे। उनके नेत्रों की कोर से तेज, शान्ति और करुणा एक साथ ही विकीर्ण होकर उपस्थित लोगो को विमोहित और अभिभूत कर देती थी। यद्यपि किसी प्रकार का उपदेश या आश्वासन की वाणी वे मुख से उच्चारण भी न करते थे, तथापि उनकी मूर्ति ही मानों सब कर्म और कोलाहलों के अतीत, सब दुःख और ज्वालाओं से अतीत, सब भेद और भय से अतीत, किसी आनन्दमय, शान्तिमय और अमृतमय धाम का सन्देश सुनाती हों, और कम से कम उस समय के लिए तो उपस्थित लोगों का हृदय उनके सान्निध्य में संसार के सभी दुर्वासनाओं और ज्वालायन्त्रणाओं को भूलकर सुशीतल हो जाता था। इससे भिन्न वे क़भी भी कोई योगैश्वर्य प्रकट न करते थे।

जो लोग कोई लौकिक कामना ले कर उनके निकट उपस्थित होते थे, वे भी उनकी लोकातीत भावगम्भीर मूर्ति का दर्शन करके प्रायः उस कामना की बात भूल जाते थे, कामना का तरंग

अत्यन्त प्रबल होने पर बीच–बीच में हृदय को प्रेरणा का आघात देने पर भी उनसे कहने का साहस या प्रवृत्त ही न होती थी। यदि किसी समय कोई अपनी कामना का वेग धारण करने में असमर्थ होकर उनके निकट उसे निवेदन करने की चेष्टा करता, तो भी पूर्ववत् नीरव ही रहते, उनके मुख या नेत्रों में किसी भी प्रकार का भावान्तर लक्षित होता न था; यहाँ तक कि इस बात को भी समझना कठिन हो जाता था कि बात उनके कान में गई है या नहीं। तथापि उन लोगों को कभी ऐसा अनुभव न होता था कि वहाँ आना या अपनी बात का निवेदन करना व्यर्थ हुआ। इसी प्रकार कुछ घण्टे बाहर रहकर फिर एक सप्ताह के लिए वे गुफा में प्रवेश करते थे; दर्शकवृन्द भी हृदय के आनन्द में उनके लोकोत्तर चरित्र का कीर्तन करते हुए, या कोई–कोई चुपचाप अपने हृदय में उसका अनुभव करते हुए, अपने–अपने घरों को लौट जाते थे।

पाक्षिक दर्शन

सप्ताह में एक बार निकलने का नियम पालन करते हुए प्रायः दो वर्षो तक साधन के बाद् वे पक्ष में केवल एक बाद गुफा के बाहर आना आरम्भ किए। उस समय वे प्रत्येक अमावस्या और पूर्णिमा को बाहर आते थे। जब ध्याननिष्ट अवस्था में ही दिनरात बीत जाते हैं, उस समय दिन क्षण तिथि नक्षत्र और कालाकाल विचार की कोई सम्भावना ही नहीं रहती, इस बात का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। ऐसी अवस्था में नियमित दिन बाहर निकलना या और किसी नियम का पालन करना विस्मयकर मालूम पड़ सकता है। किन्तु तीव्र इच्छा शक्ति सम्पन्न विशुद्ध सत्वमहात्मागण ध्यान में निविष्ट होने के पूर्व ही यदि कोई संकल्प रख देते हैं, तो उस पूर्व संकल्प के अनुसार ही यथा समय अपने आप कार्य हो जाता है। वह बहुत दिन बाद होने वाली क्रिया का नियामक कारण होता है। बाबा गम्भीरनाथ के गुफा प्रवेश के समय सम्भवतः ऐसा

ही कोई संकल्प रहता था, इसीलिए वे तद्नुसार निर्दिष्ट दिन पर बाहर निकल आते थे। सम्मत है उनकी देहरक्षा और योगसाधन के सौकर्य के लिए ऐसे संकल्प की आवश्यकता रही हो, या जो भविष्य में लोकानुग्रह के निमित्त उनको बहुत कुछ आत्मप्रकाश करना पड़ेगा इसलिए बीच–बीच में बर्हिजगत् के साथ सम्पर्क रखना आवश्यक था, या शायद साधनावस्था में भी बाहर से उदासीनता की प्रतिमूर्ति होने पर भी अन्तर में लोक शिक्षा और लोकहित साधन के प्रति पूर्णतया उदासीन न थे, और इसी कारण व्यवहारिक जगत् से वे सब सम्बन्ध तोड़ना न चाहते रहे हों। जो भी कारण रहा हो, कार्यतः देखा जाता था कि अपने निर्दिष्ठ तिथि के दिन बाहर निकल कर दर्शनार्थियों की कुछ घण्टे के लिए संगलाभ देकर कृतार्थ करने का नियम टूटता न था।

मासिक दर्शन

कुछ वर्षो के पक्षकालीन गुफा निवास के अभ्यास के बाद वे मासव्यापी गुफानिवास का अभ्यास प्रारम्भ किए। बाकी व्यवस्था उस समय एक तरह ही चलती रही। गुफानिवासकाल में रातदिन के बीच केवल एक पाव दूध ही आहार था; मलमूल त्याग की आवश्यकता न होती थी, महीने के अन्त में एक बार बाहर निकल कर कुछ घण्टों के लिए वेदी पर विराजना, सभागत लोगों पर कृपादृष्टि वर्षण एवं उनके द्वारा लाये हुए फलादि में से थोड़ा सा ग्रहण करके बाकी का उपस्थित लोगों के बीच प्रसाद वितरण– इसी प्रकार उनका समय बीतने लगा।

तीन महीने की समाधि

अन्त में एक बार वे गुफा में प्रवेश करके तीन महीने तक एक बार भी बाहर न निकले। इस तीन महीने तक नियत अविच्छिन्न समाधिनिरत रहने के बाद जब वे गुफा से बाहर निकले तब उनके

विधिवत् योगाभ्यास की समाप्ति हुई। इसके बाद उनका नियमित रूप से गुफानिवास बन्द हो गया। तबसे अनियमित रूप से कभी गुफा में रहते और कभी बाहर भी रहते थे। अनुमान किया जा सकता है कि इस समय वे मानवजीवन की चरम सफलता प्राप्त कर लिये थे; ब्राह्मी स्थिति का आदर्श उनके जीवन में प्रतिष्ठित हो गया था। तभी से वे देहस्थ रहते हुए भी नित्य निरन्तर ब्रह्मभूत होकर विराजते थे।

सप्तम अध्याय

महासिद्धि

उनके परिचित साधुओं का यह विश्वास था कि काशीधाम और झूंसी में कई वर्षो की तीव्र साधना के फलस्वरूप योगिराज गम्भीरनाथ ब्रह्मविद् हो गये थे। उस समय ब्रह्म साक्षात्कार द्वारा उनके सब संशय तिरोहित हो गये थे, सब प्रकार की वासना निर्मूल हो गई थी, देहात्म बोध सम्पूर्ण रूप से विनष्ट हो गया था, संसारातीत का उन्हें अपरोक्ष ज्ञान हो गया था,– ऐसा अनुमान करने के कारण विद्यमान हैं। किन्तु समाधि में ब्रह्म की उपलब्धि हो जाना ही साधना की चरमावस्था नहीं है, इस अवस्था को प्राप्त कर लेने से ही मानवजीवन की सम्यक् पूर्णता सम्पादित नहीं होती। संसार के आध्यात्मिक, आधिभौतिक ओर आधिदैविक तापों से संतप्त मानव उससे मुक्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से जिस अमृत के अनुसंधान में निकला है, ब्रह्मदर्शन होने से ही उसी अमृत का आस्वादन हो जाता है सही, किन्तु केवल उतने से ही मानवजीवन की चरम सफलता नहीं मिली, इसकी अपेक्षा और भी उच्चतर, पूर्णतर अवस्था की प्राप्ति मनुष्य के अधिकार में है।

अभ्यास योग

मनुष्य अपनी अज्ञानता के कारण इस बात को समझ नहीं पाता कि वह कितना महान् उच्च अधिकार लेकर मानवशरीर ग्रहण करके संसार क्षेत्र में उत्पन्न हुआ है। इसलिए वह क्षुद्र वस्तुओं के पीछे छीनाझपटी मारपीट कर रहा है, क्षुद्र के लिए दासत्व तथा भिक्षुकत्व स्वीकार करता है, अल्पवस्तु की प्राप्ति से ही क्षणिक रूप से अपने को कृतार्थ मानने लगता है। जो गुरु और भगवान् के चरणों में आत्मसमर्पण करके सुदृढ़ विश्वास भक्ति और विचार की सहायता से मनरूपी मथानी को सुनियन्त्रित रूप से परिचालित

करके हृदयसमुद्र का मन्थन करता है, वह अपने अतलस्पर्श हृदय रत्नाकर के अन्तस्तल से नित्य नूतन रत्नों को पाकर चमत्कृत हो जाता है; किन्तु जितने ही नए–नए अचिन्त्यपूर्व ऐश्वर्य और आनन्द हृदय के अभ्यन्तर से निकलकर उसके उपलब्धिगोचर होते हैं, उतनी ही उसकी आशा और भी बलवती हो जाती है, उतना ही आत्मशक्ति पर विश्वास बढ़ जाता है, अपने हृदय में महात्म्य के विषय में उतना ही अधिक विस्मयात्मक ज्ञान प्राप्त होता है। तब वह पूर्वलब्ध ऐश्वर्यो को तुच्छ समझकर नवीनतर और पूर्णतर ऐश्वर्यों और आनन्दो की प्राप्ति के उद्देश्य से मन्थन कार्य क्रमशः और आग्रह के साथ चलाने लगता है।

हृदय से ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मानन्द रूप अमृत निकल आने पर भी इस मन्थन कार्य की समाप्ति नहीं होती; सम्पूर्ण हृदय अमृतमय हो जाना चाहिए, सारे देह इन्द्रिय और अन्तःकरण सभी अवस्थाओं में ब्रह्मभाव से भावित और ब्रह्मरस से रसित रहना चाहिए, जाग्रत स्पप्न और सुषुप्ति में सर्वत्र एक ब्रह्मतत्व का दर्शन करना चाहिए। समाधि अवस्था में ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर भी, ब्रह्म और आत्मा का पारमार्थिक अभेद अनुभव करने पर भी, परिपूर्ण ब्रह्मभाव का प्राप्ति तो हुई नहीं, समाधि अवस्था में अद्वैतसिद्धि और व्युत्थान अवस्था में द्वैतदर्शन होने पर, ज्ञान का सम्पूर्ण परिपाक नहीं हुआ, ध्यानावस्था ओर जाग्रदवस्था में दृष्टि का पार्थक्य रहने पर जीवन का सम्पूर्ण ऐक्य सम्पादित नहीं हुआ, एवं ज्ञान अव्याहत नहीं हुआ। जबतक ब्रह्मभाव सम्पूर्णरूप से स्वभाव न बन जाय, जबतक समाधिलब्ध ॠतुम्भरा प्रज्ञा सभी अवस्थाओं में समानरूप से प्रकाशित न रहे, तबतक तीव्र अभ्यासयोग की आवश्यकता बनी रहती है।

योगभूमियाँ

ब्रह्मोपलब्धि से पूर्व के साधन में और बाद के साधन में

विशेष पार्थक्य यह है कि, पूर्व के साधन में प्रत्याहार और धारण के अभ्यास द्वारा अन्तःकरण की विषयाकारता दूर करने की चेष्टा की जाती है, किन्तु एक बार ब्रह्म का अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाने पर बाद में विशेष चेष्टा करके चित्त को इस अवस्था में लाने की आवश्यकता नहीं रह जाती, ब्रह्मस्मृति प्रबल होने पर संकल्पमात्र से चित्त अपने आप वृत्तिरहित होकर ब्रह्मभावभावित और ब्रह्मकाराकारित हो जाता है। किन्तु इस समाधि की ही अवस्था को स्वभाव बना लेने के लिए, जाग्रदवस्था में देह और इन्द्रियों के कार्यो के बीच भी चित्त को ब्रह्मभावयुक्त रखने के लिए, सभी अवस्थाओं में आत्मरति, आत्मक्रीड़, आत्मानन्द बने रहने के लिए, बहुत दिनों तक नित्यनिरन्तर ज्ञान और योग के अन्तरंग साधना में निरत रहने की आवश्यकता होती है।

महोपनिषद् योगवाशिष्ठ आदि शास्त्रों में योगसाधना के मार्ग को साधारणतः सात स्तरों में या भूमिकाओं में विभक्त किया गया है।

योगभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा परिकीर्तिता।
विचारण द्वितीया स्यात् तृतीया तनुमानसा।।

सत्वापत्तिश्रुतुर्थी स्यात् ततोऽसंसक्तिनामिका।
पदार्थाभावनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता।।

(१) शुभेच्छा, (२) विचारणा, (३) तनुमानसा, (४) सत्वपत्ति, (५) असंसक्ति, (६) पदार्थाभावना, (७) तुर्यगा,– इन सात भूमिकाओं में से चतुर्थ भूमि पर ही साधक ब्रह्म साक्षात्कार प्राप्त करके ब्रह्मविद् हो जाता है। पहली तीन भूमियाँ ब्रह्मज्ञान प्राप्ति के उत्तरोत्तर उन्नततर साधन सोपान हैं, शेष तीन भूमियों पर तीव्रतर और गम्भीरतर समाधि के अभ्यास द्वारा ज्ञान का परिपाक होता है,

ब्रह्मदर्शन स्वभाव में परिणत हो जाता है, जीवन्मुक्ति की उत्तरोत्तर उन्नततर अवस्था की प्राप्ति और तज्जनित विशेष आनन्द का आस्वादन होता है।

चतुर्थीभूमिका ज्ञानं तिस्नः स्युः साधनं पुरा।

जीवन्मुक्ते रवस्थास्तु परास्तिस्त्रः प्रकीर्तिताः।।

१ शुभेच्छा या मुमुक्षा

जब साधारण सदसत् विचार के फलस्वरूप ऐहिक और परलौकिक सब प्रकार के भोगसुखही अनित्य और अकिंचित्कर जान पड़ते हैं, एवं शमदमादि के अभ्यास के फलस्वरूप चित्त पर्याप्तमात्रा में शुद्ध हो जाने से संसार से मुक्ति प्राप्त करना ही निश्चित रूप से जीवन का लक्ष्य जान पड़ने लगे, और जान कर कि मोक्षप्रप्ति के अतिरिक्त और किसी से भी सब दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति और अभीप्सित आनन्द का सम्भोग संभव नहीं है, अन्तःकरण व्याकुल होकर मोक्ष का ही मार्ग खोजना आरम्भ कर दे, तो समझना चाहिए कि ज्ञान की प्रथमभूमि–शुभेच्छा या मुमुक्षा प्राप्त हुई। यह शुभेच्छा या मुमुक्षा संसार में बहुत ही थोड़े भाग्यवान् पुरुषों को ही प्राप्त होती है।

श्रीभगवान् गीता में कहे हैं :–

मनुष्यणां सहस्त्रेषु कश्चित् यतति सिद्धये।

२ विचारणा

यही शुभेच्छा लेकर ज्ञानभिक्षु साधक गुरु के शरणापन्न होता है। जिस ज्ञानामृत को प्राप्त करने पर उसके प्राणों की पिंपासा परितृप्त हो जायगी, जिन उपायों का अवलम्बन करने से वह ज्ञानामृत का पान करने में समर्थ होगा, उस ज्ञानामृत के

अनुसन्धान में उसको जिस मार्ग पर चलना होगा, इन सब बातों के विषय में गुरुदेव उसके अधिकार के अनुसार उपदेश देते हैं ; तब साधक भक्ति और विश्वास के साथ गुरु का उपदेश ग्रहण करके एवं गुरु द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर जीवन प्रचालित करता हुआ अपने देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को विशुद्ध करके, अनुकूल युक्ति–तर्क–विचार की सहायता से,–गुरुपदिष्ट तत्व और साध्यसाधन रहस्य के सम्बन्ध में सब प्रकार के सन्देह और भ्रम को हटाने का प्रयत्न करता है,–सदाचार, उपासना, गुरुसेवा, वैरागयाभ्यास, अध्यात्मज्ञाननिष्ठा आदि ज्ञान प्राप्ति के अनुकूल साधनों के साथ गुरु के शरणापन्न होकर इसी प्रकार श्रवण और मनन में निरत रहता हुआ ही ज्ञान साधना के द्वितीय सोपान पर अधिरोहण करता है, इसको विचारणा, कहते हैं। विचारणा, के साधन द्वारा जब तक गुरुपदिष्ट विषय अपनी बुद्धि में स्पष्टरूप से प्रतिभात न हो जाय, जब जक उन तत्वों के सम्बन्ध में बुद्धिगत सभी सन्देह तिरोहित न हो जाय, तब तक द्वितीय भूमि का अतिक्रम नहीं किया जा सकता। विचारणा से उत्पन्न होने वाले निःसंशय तत्वज्ञान को परोक्षज्ञान कहते हैं।

३ तनुमानसा ४ सत्वापत्ति

इसके बाद निःसंशय चित्त से ऐकान्तिकता के साथ निदिध्यासन के अभ्यास द्वारा अन्तःकरण राग द्वेष और अशुभ संस्कार एवं चंचलता से मुक्त होकर सूक्ष्म अतीन्द्रिय वस्तु का साक्षात्कार करने की योग्यता प्राप्त करता है; यह साधनावस्था ही तनुमानसा नाम की तृतीय भूमि है। तृतीय भूमि की साधना में सिद्धि प्राप्त कर लेने पर ही, अर्थात् निदिध्यासन के अभ्यास द्वारा चित्त को बृत्ति रहित तथा ध्येयाकार में आकारित होने का सामर्थ्य प्राप्त होने पर ही, समाधि में ब्रह्म स्वरूप का अपरोक्ष साक्षात्कार होता है। ब्रह्म और आत्मा की ऐक्यानुभूति होती है, जगत प्रवाह स्वप्नवत् प्रतीयमान

होता है। इस बात की उपलब्धि हो जाती है कि ब्रह्म या आत्मा ही एक मात्र अद्वितीय सत्य वस्तु हैं। यही चतुर्थ भूमि है, इसी को सत्वापत्ति कहते हैं।

अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते प्रशममागते।

पश्यन्ति स्वप्नवल्लोकं चतुर्थी भूमिकामिताः।।

इस चतुर्थ भूमि को प्राप्त कर लेने से योगी ब्रह्मचित् कहलाता है। तभी वह मुक्ति का आस्वादन करता है। चतुर्थ भूमि पर स्थिति प्राप्त हो जाने पर फिर संसार बन्धन का भय नहीं रह जाता। उसको फिर जन्म मृत्यु के आधीन नहीं होना पड़ता।

५, ६, ७ ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान् और ब्रह्मविद्वरिष्ठ

किन्तु तब भी व्यावहारिक क्षेत्र में वह विक्षेप की सीमा में सर्वथा परे नहीं रहता। ध्यानावस्था में वह जिस आनन्द का अनुभव करता है, व्युत्थान अवस्था में वह उससे वंचित रहता है। पुनश्च वह साधनावस्था भी सर्वदा निराविल नही रहता, ध्यान अपने आप भंग हो जाता है। कर्मजगत् के साथ सम्बन्ध होने पर उसके घात प्रतिघात भी उनके अन्तःकरण का स्पर्श करते हैं। सुतरा अन्तःकरण के सब अवस्थाओं में समाहित और ब्रह्मभवयुक्त न रहने से, जीवितकाल के प्रत्येक मुहूर्त का ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मानन्द से भरपूर होना सम्भव नहीं होता। इसीलिए चतुर्थभूमि पर स्थिति प्राप्त कर लेने के बाद भी साधनाभ्यास की आवश्यकता बनी रहती है। चौथी भूमि और बाद की भूमियों में शक्ति के परिपाक, ज्ञान की दृढ़ता एवं आनन्द की गम्भीरता का पार्थक्य भी यथेष्ठ है। चौथी भूमि पर ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाता है सही, किन्तु वह सब अवस्थाओं में स्थिर नहीं रहता; ब्रह्मानन्द का सम्भोग होता है सही, किन्तु वह गम्भीरता की चरम सीमा तक नहीं पहुँचता। ब्रह्मज्योति तब भी माधुर्य में

पर्यवसित नहीं होता। पंचम, षष्ठ और सप्तम भूमियों में क्रमशः योगशक्ति, ब्रह्मानुभूति और चिदानन्द पूर्ण और पूर्णतर रूप में विकसित होकर साधक को योग शास्त्रोक्त सहजावस्था में सुप्रतिष्ठित कर देते हैं। सप्तमभूमि में ज्ञान और आनन्द चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं, वीर्य और ऐश्वर्य माधुर्य में परिणत हो जाता है, अन्तर बाहर सब चिदानन्दमय हो जाता है। यही महासिद्धि है।

अगम्या वचसां शान्ता सा सीमा योगभूमिषु।

यह अवस्था मन और वाणी के अतीत हैं, सम्यक् प्रशान्तिमय है एवं वही योग की चरम सीमा है। चतुर्थभूमि से पंचमभूमि पर आरोहण करने में बहुत काल तक तीव्र अभ्यास योग की आवश्यकता होती है। पंचमभूमि पर आरूढ़ योगी को ब्रह्मविद्वर कहते हैं। षष्ठ और सप्तम भूमि पर आरूढ़ योगी को यथा क्रम ब्रह्मविद्वरीयान् और ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहते हैं। इन सब भूमियों की विशेष जानकारी के लिए योगवाशिष्ठ आदि ग्रन्थ देखना चाहिए।

बाबा गम्भीरनाथ ऐकान्तिक मुमुक्षारूप प्रथम भूमि पर आरूढ़ होकर ही गोरखपुर में गुरु के निकट आये थे। गोरखनाथ मन्दिर में गुरु की सन्निधि में रहकर थोड़े ही समय में वे देहेन्द्रियमनबुद्धि को परिशुद्ध करके तत्वविचाररूपी द्वितीयभूमि पर सुदृढ़ रूप से प्रतिष्ठित हो गये थे। तृतीयभूमि के निदिध्यासन अभ्यास करने के उद्देश्य से उन्होंने गोरखपुर का त्याग किया था। काशीधाम और झूंसी में कई वर्षों तक नित्यनिरन्तर भक्ति विश्वास के साथ योग और ज्ञान कागहन साधन करके ही उन्होंने तृतीय भूमि में सिद्धि और चतुर्थभूमि में प्रवेश किया। चतुर्थभूमि में अवस्थित रहने के विचार से ही नर्मदा परिक्रमा और तीर्थपर्यटन किये थे। साधारण दृष्टि से तो वे उस समय भी एक सिद्धि पुरुष ही थे, किन्तु महासिद्ध न थे। ब्रह्म साक्षात्कार हो जाने पर भी उनके लिए

ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान् और ब्रह्मविद्वरिष्ठ होना बाकी ही था। तब तक उन्हें सम्यक् नाथत्व की प्राप्ति नहीं हुई थी। तुरीयातीत अवधूत अवस्था में अचला स्थिति नहीं प्राप्त हुई थी। उसी के लिए गया में स्थिर आसन लगाकर कई वर्षों तक उन्हें तीव्र अभ्यास योग में निरत रहना पड़ा। सम्भव है पर्यटन काल की अभिज्ञता से ही ऐसे अभ्यास योग की आवश्यकता उन्हें विशेष रूप से अनुभव हुई हो।

बारह–तेरह वर्ष तक इसी प्रकार अविराम ज्ञान और योग के गहन अन्तरंग साधन करने से बाबा गम्भीरनाथ सिद्ध जीवन की चरमसीमा पर पहुँच गये। तब वे महासिद्ध, महाज्ञानी, महाप्रेमी और तुरीयातीत अवधूत हो गए। तब वे पिण्ड और ब्रह्माण्ड की समरसता की निराविल अनुभूति में, परमानन्दमय सहज अवस्था में विराजमान हो गए। तब उनकी सब शक्ति, सब ज्ञान, सारा योगैश्वर्य निस्तरंग माधुर्य समुद्र में निमज्जित हो गया। उनका देह, इन्द्रिय, मन बुद्धि सब जैसे चिदानन्दमय हो गये हों, सब अमृत रस से सरोबार हो गए। व मानों योगेश्वर शिव की ही एक सचल मूर्ति हो गए। उनके जीवन में मानों सर्वशून्यता ओर सर्वपूर्णता का अपूर्व समावेश हो गया।

अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे।

अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे।।

ऐसे महासिद्ध युक्तयोगी की चेतना के एक पहलू में जिस प्रकार सर्वभेद वैषम्यविवर्जित सत्यज्ञानानन्दस्वरूप ब्रह्म के अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तु की सत्ता ही नहीं रहती, द्रष्टा दृश्य का भी भेद नहीं रहता, भीतर बाहर का भी पार्थक्य नहीं रह जाता, केवल एकरस चैतन्य ही रहता है; दूसरे पहलू में उसी प्रकार

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।।

योगयुक्तात्मा पुरुष अपने को सब में और सबको अपने में देखता है, एवं सर्वत्र समदर्शी होता है। सुतरां वे नेत्र मूंदकर जिस प्रकार 'भीतर–बाहर' वर्जित ब्रह्मदर्शन करते हैं, जाग्रावस्था में नेत्र खोलकर उसी प्रकार भीतर बाहर ब्रह्मदर्शन करते हैं।

वे यद्यपि देहधारी रूप में परिवर्तनशील जगत् में विचरण करते हैं, तथापि तत्वज्ञान में जगत् का अतिक्रम करके सर्वदा ब्रह्म में अवस्थित रहते हैं।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषा साम्ये स्थितं मनः।

निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्मात् ब्रह्मणि ते स्थिताः ।।

जिनका मन साम्य में स्थित हो गया है, वे संसार में विचरण करते हुए भी संसार की जय करके अवस्थित रहते हैं। साम्य का तात्पर्य ही है ब्रह्मभाव, क्योंकि ब्रह्म ही सम और निर्दोष है, सुतंरा वे ब्रह्म में अवस्थित रहते हैं। जो लोग सर्वत्र ब्रह्म का ही दर्शन करते हैं, उन्हीं का मन साम्य में प्रतिष्ठित है। ब्रह्म सर्वविध ादोषवर्जित है। सुतंरा मन जब साम्य में प्रतिष्ठित हो जाता है, तो जगत् में कोई दोष ही नहीं दिखाई पड़ता; जोकुछ अनुभूत होता है सभी आनन्दमय जान पड़ता है। आनन्द ही मानों विचित्र मूर्तियाँ ध ारणकर जगद्रूप में प्रतीयमान हो रहा हो। सुतंरा समदर्शी की दृष्टि में संसार में वैचित्र्य रहने पर भी कोई वैषम्य नहीं रहता, सुख दुःख का कोई घात प्रतिघात भी नहीं रहता। अतएव समदर्शी महापुरुषगण संसार में रहते हुए भी आनन्दमय तथा ज्ञानमय ब्रह्म में ही सर्वदा विहार करते हैं। इसीलिये उनको ब्रह्मविहारी कहा जाता है। उनकी निगाह में तो,–

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।

अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिंद वरिष्ठम् ।।

(मुण्डकोपनिषद्)

'अमृतस्वरूप यह ब्रह्म ही सम्मुख है, ब्रह्म ही पीछे, ब्रह्म ही दक्षिण, ब्रह्म ही उत्तर, ब्रह्म ही ऊपर, ब्रह्म ही नीचे है; वरेण्यतम एक अद्वितीय द्रह्म ही विंश्वरूप में अपना ही विस्तार करके विराजमान है।'

अहमेवाधस्तात् अहमुपरिष्टादहं पश्वादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतः अहमेवेदं सर्वमिति।............................ स वा एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन् आत्मरति रात्मक्रीड़ आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराट् भंवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारी भवति।'

(छान्दोग्योपनिषद्)

मैं ही नीचे, मैं ही ऊपर, मैं ही पीछे, मैं ही सामने, मैं ही दाहिने, मैं ही बाँयें, मैं ही सब कुछ हूँ। .... वे इसी तरह दर्शन करके, इसी प्रकार मनन करके, इसी प्रकार का परिज्ञान प्राप्त करके, आत्मरति, आत्मक्रीड़, आत्ममिथुन, आत्मानन्द और स्वराट् हो जाते हैं, सब लोकों में उनका स्वेच्छानुरूप निर्विघ्न आचरण हो जाता है (अर्थात् उन्हें ईश्वरत्व प्राप्त हो जाता है)।

वे देहधारी होते हुए भी पूर्णतया देहाभिमानरहित होते हैं, अतएव देहसम्पर्कशून्य दशा में विराजमान रहते हैं; उनका कोई प्रिय भी नहीं होता, अप्रिय भी नहीं होता। 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः'— अर्थात् शरीराभि–मानशून्य होकर विराजमान रहते हैं, इसीलिये प्रियभाव या अप्रियभाव उन्हें स्पर्श नहीं करता (छान्दोग्योपनिषद)।

गीता में भगवान् ने कहा है, :–

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्यप्राप्य चाप्रियम्।

स्थिरबुद्धिसंमूढ़ो बह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ।।

ब्रह्मविद् प्रिय की प्राप्ति में हर्षित नहीं होता, अप्रिय की प्राप्ति में उद्विग्न नहीं होता; वह स्थिर बुद्धि और असंमूढ़ होकर ब्रह्म में ही स्थित रहते हैं।

युक्त योगी

जो मुक्त पुरुष केवल ज्ञान में सर्वत्र ब्रह्मात्मभाव अनुभव करके समदर्शी और निर्विकार हो जाते हैं, कहना होगा कि, उनके जीवन में सम्पूर्णता की कुछ कमी रह जाती है; तात्पर्य यह कि, मनुष्य का जागतिक जीवन परिपूर्णता की जिस सीमा तक पहुँच सकता हैं, वहाँ तक नहीं पहुँचता। वह तत्वज्ञान में दृढ़रूप से प्रतिष्ठित हो जाता है, परम सत्य की अपरोक्ष अनुभूति द्वारा अपने सब प्रकार की ज्वालाओं से चिरमुक्ति प्राप्तकर लेता, उसके लिए कुछ भी प्राप्तव्य, त्यक्तव्य कर्त्तव्य, या ज्ञातव्य नहीं रह जात, वह स्वयं परमानन्दमय हो जाता है, इस विषय में वस्तुतः कोई सन्देह नहीं। किन्तु किसी किसी शास्त्रों का और महापुरुषों का सिद्धान्त यह है कि, ब्रह्मतत्व में मनबुद्धि विलीन कर लेने से ही, एवं तत्वनिष्ठ बुद्धि में 'सर्वखल्विदं ब्रह्म' जान लेने से ही जीवन की चरम सार्थकता प्राप्त नहीं होती। गीता के छठवें अध्याय में योगव्याख्या के अन्त में युक्तयोगी के सब लक्षणों का वर्णन करके सबके अन्त में कहा गया है :–

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुख वा यदि वा दुःख स योगी परमो मनः।।

जो योगी विश्व के सब प्राणियों का सुख दुःख अपना ही अनुभव करता और सबको अपने साथ समान देखता है, वहीं श्रेष्ठतम योगी है, यह मेरा सिद्धान्त है।

भगवान जोर देकर कहते हैं कि श्रेष्ठतम योगी केवल

ब्रह्मबुद्धि में ही सर्वत्र समदर्शी नहीं रहता, वह केवल सब जीवों की पारमार्थिक एकता का दर्शन करके व्यवहारवर्जित और समाधिस्थ होकर बैठा रहना ही मानव जीवन की चरम सार्थकता नहीं मानता, वह व्यवहारिक रूप में भी समदर्शी होता है, सब जीवों का व्यवहारिक सुखदुःख अपने हृदय में अनुभव करके वह सबके साथ समप्राण हो जाता है। विश्वप्राण के साथ उसके प्राण की एकता प्रतिष्ठित हो जाती है, विश्वप्राण के प्रत्येक स्पन्दन वह मानों अपने प्राण में अनुभव करता है। एक ही विश्वप्राण के विचित्र प्रकार के स्पन्दन विभिन्न जीवों के प्राणों में सुखदुःखादि रूप में स्पन्दित होते हैं विभिन्न जीवों के प्राणों में अनुभूत सुख–दुःख एक ही प्राणसमुद्र के तरंगभंगी मात्र हैं। वह विश्वप्राण को ही अपने प्राण के रूप में अनुभव करता है, उसका व्यक्तिगत कोई सुखदुःख नहीं रहता, वह अपने लिये किसी विषय की प्राप्ति या किसी विषय के त्याग के लिए उत्सुक नहीं रहता; किन्तु सब जीवों को सुखदुःख ही उसका सुखदुःख होता है, सब जीवों के सुखदुःख भोग में ही मानों उसका भोग होता है। इसीलिए अपने लिये कोई आकाक्षां न रहने पर भी वह दूसरों के कल्याण के लिए उत्सुक रहता है, दूसरों के सुख से सुखी ओर दूसरों के दुःख से दुःखी रहता है। उसके शत्रु मित्र नहीं होते, अपने पराये नहीं होते, दूर निकट नहीं होते, सब उसके दृष्टि में समान होते हैं, एवं सब के सुखदुःख को वह अपना सुखदुःख समझता है, तथा सर्वभूतहित में रत होकर सबके कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहता है। वह प्रेम से भरपूर रहता है, उसका अहैतुक प्रेम विश्ववयापी हो जाता है। भगवान् वशिष्ठ भी रामचन्द्र को जीवन में इसी आदर्श को प्रतिफलित करने का उपदेश देते हैं :–

मानसीर्वासनाः पूर्व त्यक्त्वा विषयवासनाः।
मैत्र्यादि वासना राम गृहाणामलवासना।।।

हे राम ! अन्तर और बाह्य विषय वासनाओं– अर्थात् ऐहिक और पारलौकिक, स्थूल और सूक्ष्म सब प्रकार की भोगवासनाओं को लोकवासना, शास्त्रवासना और देहवासना को– अंहकारवलदर्प आदिक आसुर सम्पद्–रूप वासना को – इसी प्रकार सब तरह की अविद्यामूलक वासनाओं को सम्पूर्ण रूप से त्याग करके, मैत्री आदि निर्मल वासनाओं को ग्रहण करो।

शास्त्र ग्रन्थों में पूर्णसिद्ध युक्तयोगी महापुरुषों के जितने लक्षणों का वर्णन हुआ है, उन्हीं सबकी एक धनीभूत जीती जागती मूर्ति बनकर योगीराज गम्भीरनाथ कपिलधारा की साधना के अन्त में प्रकट हुए। समसामयिक महापुरुषों ने जनसमाज में बाबा गम्भीरनाथ के आलोक सामान्य आध्यात्मिक अवस्था का प्रचार और इस बात का परिचय दिये कि, वे ज्ञान, प्रेम, शक्ति और आनन्द के उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँचे हुए थे। किसी विशिष्ट महापुरुष की आध्यात्मिक अवस्था का परिचय साधारण बुद्धिवाले मनुष्यों को तत्वज्ञानी महापुरुषों से ही मिलता है उनके वाक्य ही आप्तवाक्य होते हैं।

महापुरुषों का साक्ष्य

अनेक महापुरुषों ने विभिन्न प्रकार से विभिन्न शब्दों में बाबा गम्भीरनाथ को सम्यक् सिद्ध महापुरुष कहकर वर्णन किया है। बाबाजी जब अपनी सिद्धावस्था में कपिलधारा पर्वत पर निवास करते थे, उसी समय सामने के पर्वत पर गोस्वामीजी तपस्या करते थे। उन्होंने बाबाजी का दर्शन कियां और क्रमशः उनसे परिचित हो गए। वे अपने शिष्यों से कहते थे, "बाबाजी बड़े प्रेमी और खूब शक्ति सम्पन्न महात्मा हैं; हिमालय के नीचे ऐसा दूसरा महात्मा नहीं दिखाई पड़ता। पहाड़ पर कितने व्याघ्र सर्प आदि हिंस्त्र जन्तु हैं; बाबाजी की शक्ति से मुग्ध होकर वे उनका कुछ अनिष्ट नहीं करते"। गोस्वामी महाशय के शिष्य श्रद्धास्पद श्रीयुत कुलदानन्द

ब्रह्मचारी जी ने लिखा है– ''बाबा गम्भीरनाथजी के सम्बन्ध में गोसाईजी कहते थे, 'हिमालय के नीचे इस समय ऐसा शक्तिशाली महापुरुष दूसरा नहीं है। ये ऐश्वर्यभाव में सिद्ध होकर इस समय माधुर्य में डूब गए हैं। ये पलक मारते भर में सृष्टिस्थित प्रलय करने में समर्थ हैं''। गोस्वामी महाशय के दूसरे शिष्य गुह ठाकुरताजी ने लिखा है,–''गुरु महाराज जब सुकिया स्ट्रीट में रखाल बाबू के घर में थे, उस समय एक दिन कहने लग,– 'अभिमन्यु है अभिमान। उसका नाश करते हैं सप्तरथी। मैं रोज इन सात जन का स्मरण करता हूँ, एवं वे कृपा करके प्रकट हो जाते हैं। (१) गया के नाथजी (बाबा गम्भीरनाथ), (२) अयोध्या के माधोदास, (३)नवद्वीप के चैतन्यदास बाबाजी, (४) त्रैलंग स्वामी, (५) मेछुआ बाजार के सन्यासी, (६) दार्जिलिंग के लामा सन्यासी, (७) परमहंसजी (मानंसरोवर के)*। प्रसिद्ध महापुरुष स्वामी सच्चिदानन्दजी ने कहा था, – ''वे तो साक्षात् विश्वेश्वर हैं।'' वे एक बार किसी युवक को बाबा गम्भीरनाथजी का शिष्य जानकर दृढ़ आलिंगन करते हुए कहने लगे, 'तुम तो असल को पकड़ लिए हो।' निम्बार्क सम्प्रदाय के श्रेष्ठ महापुरुष रामदास काठियाबाबा उनको –नित्य युक्त योगी' कहकर सम्मान करते थे। संन्यासी सम्प्रदाय के स्वनामधन्य महात्मा भोलानन्द गिरिजी उनकी निरतिशय भक्ति करते थे एवं अनेकों बार उनका महात्म्य-कीर्तन करते थे। असाधारण योगैश्वर्य सम्पन्न स्वामी विशुद्धानन्द परमहंसजी अपने शिष्यों से कहते थे, कि हिमालय पर ज्ञानगंज स्थान में उनकी दीक्षा हो जाने के बाद उनके गुरुदेव उनको बाबा गम्भीरनाथजी के निकट ले गये तथा प्रणाम करने को कहे। ये स्वयं एक पूर्णसिद्ध योगी महापुरुष थे। इन लोगों के अतिरिक्त अनेकों प्रामाणिक महापुरुषों ने नाना प्रकार से बाबा गम्भीरनाथ के आलोक सामान्य ब्रह्मज्ञान, जीवप्रेम और योगैश्वर्य की चर्चा लोकसमाज में की थी।

जीवन्मुक्त के लक्षण

हम यही समझते हैं कि इन सब तात्कालिक महापुरुषों का दिव्यानुभूतिमूलक साक्ष्य ही योगिराज गम्भीरनाथजी के योगसिद्धि, ज्ञानसिद्धि और प्रेगसिद्धि के सम्बन्ध में प्रकृष्ट प्रमाण है। तथापि जहाँ तक सम्भव है अपनी विचारशक्ति के प्रयोग द्वारा उनके जीवन को अपने सामर्थ्यानुसार समझने का प्रयत्न करना असंगत न होगा। युक्तयोगी स्थितप्रज्ञ गुणातीत पुरुषों की अभ्यन्तरीण अवस्था का पर्यवेक्षण तो हम कर नहीं सकते; उपनिषद्, गीता, योगवाशिष्ट आदि प्रामाणिक शास्त्रों में पूर्णसिद्ध महात्माओं के ज्ञान, प्रेम और शक्ति के विषय में जैसा वर्णन है, उनमें वे पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गए थे या नहीं, इस विषय में आप्तवाक्य स्वीकार करने के अतिरिक्त हमारे लिए दूसरा मार्ग ही नहीं है। किन्तु श्रेष्ठतम जीवन्मुक्तों के बाहरी लक्षण—उनकी वृत्ति, हावभाव, आचर—व्यवहार आदि— के सम्बन्ध में जैसा वर्णन इन शास्त्रों में देखा जाता है, उसी के साथ बाहरी पर्यवेक्षण द्वारा तुलना करके हम थोड़ा बहुत समझ सकते हैं। महोपनिषद् में जीवनमुक्तों के लक्षणों का इस प्रकार वर्णन है, —

मौनवान् निरर्हभावो निर्मानों मूक्तमत्सरः।

यः कराति गतोद्वेगः स जीवन्मुक्त उच्यते।

सर्वत्र विगतस्नेहो यः साक्षिवदवस्थितः।

निरिच्छो वर्तते कार्ये स जीवन्मुक्त उच्यते।।

येन धर्ममधर्म च मनोमननमीहितम्।

सर्वमन्तः परित्यक्तं स जीवन्मुक्त उच्यते।।

आपतसु यथाकालं सुखदुःखेप्वानारतः।

न हृष्यति ग्लायति यः स जीवन्मुक्त उच्यत।।

हर्षोमर्षभयक्रोवकामकार्पण्य दृष्टिभिः।

न परागृश्यते योऽन्तः स जीवन्मुक्त उच्यते।।

ईप्सितानीप्सिते न स्तो यस्यान्तवर्तिदुष्टिषु।

सुषुप्तवद् यश्चरति स जीवन्मुक्त उच्यते।।

अध्यात्मरतिरासीनः पूर्णः पावनमावसः।

प्राप्तानुत्तमविश्रान्तिर्न किञ्चिदिह वाञ्छति।।

यो जीवति गतस्नेहः स जीवन्मुक्त उच्यते।

रागद्वेषौ सुखं दुःखं धर्माधर्मो फलाफले।

यः करोत्यनपेक्ष्यैव स जीवन्मुक्त उच्यते।।

कटूबम्लं लवणं तिक्तममृष्टं मृष्टमेव च।

सममेव च यो भुङ्क्ते स जीवन्म्रुक्त उच्यते।।

जरामरणमापच्च राज्यं दारिद्रमेव च।

रम्यमित्येव यो भुङ्क्ते स जीवन्मुक्त उच्यते।

उद्वेगानन्दरहितः समया स्वच्छया धिया।

न शोचति न चोदेति स जीवन्मुक्त उच्यते।।

न किञ्चन द्वेष्टि तथा न किञ्चिदपि काङ्क्षति।

भुङ्क्ते यः प्रकृतान् भोगान् सजीवन्मुक्त उच्यते।।

शान्तसंसार कलनः कलावानति निष्कलः।

य: सचित्तोऽपि निश्चित: स जीवन्मुक्त उच्यते।।

य: समस्तार्थजालेषु व्यवहार्यपि निस्पृह:।

परार्थेष्वि पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते।। इत्यादि

'जो मौनवान्, अहंभाववर्जित, अभिमानशून्य और मात्सर्यविहीन एवं उद्वेगशून्य अवस्था में अवस्थित रहता है, वही जीवन्मुक्त है। जो सबसे ममताशून्य होकर साक्षी के समान स्थित रहता है, निराकाङ् क्ष होकर उपस्थित कार्यो का सम्पादन करता है, सब धर्म और अधर्म, संकल्प, चिन्ता और चेष्टा जिसके चित्त से विदा हो जाते हैं, वही जीवन्मुक्त है। यदृच्छा क्रम से जिस समय जो कुछ भी सुख दु:ख के कारण आकर उपस्थित होते हैं, उन सबका जो उदासीन भाव से ग्रहण करता है, हृष्ट भी नहीं होता, विषण्ण भी नहीं होता जिसका चित्त हर्ष, विषाद, भय, क्रोध या दैन्य द्वारा कभी भी संस्पृष्ट नहीं होता, जिसके लिए ईप्सित या अनीप्सित कुछ नहीं रहता, जिसकी दृष्टि सर्वदा अन्तर्मुखन रहती है, जो व्यवहारिक जीवन में सुषुप्त के समान आरचरण करता है, वही जीवनमुक्त है। जो सर्वदा ही आत्मरमण में विभोर रहता है, जो स्वयं पूर्ण होता है, जिसकी इच्छा कल्याणमयी होती है, सर्वोत्तम आदन्दस्वरूप में विश्राम प्राप्त हो जाने के कारण जिसके लिए आकाङ् क्षणीय कुछ नहीं रह जाता, जो देह आदि सब विषयों से विगतस्नेह होकर जीवन धारण करता है, वही जीवमुक्त है। व्यावहारिक जगत् में किसी प्रकार की अपेक्षा न रखते हुए भी, केवल लोकशिक्षा के लिए जो कभी-कभी राग-द्वेष, सुख-दु:ख, धर्माधर्म और फलाफल का अभिनय करता है वही जीवन्मुक्त है। कटु, तिक्त, मिष्ट आदि विभिन्न रसों एवं जरा, मृत्यु, विषद्, सम्पद्, दारिद्रय आदि विभिन्न अवस्थाओं को रम्य मानकर ही भोग करता है, जिसके साम्यावस्थित स्वच्छ अनत:करण में उद्वेग नहीं होता, आनन्द नहीं, शोक नहीं, उत्फुल्लता नहीं होती, जन्म स्थित और विनाश में जिसकी मानसिक अवस्था का कोई

विकार नहीं होता, जिसके लिए कुछ भी हेय अथवा उपादेय नहीं होता, जब जो आकार उपस्थित हो वही जिसका उपभोग्य हो जाता है, वही महापुरुष जीवन्मुक्त है। जिसके निकट संसार प्रवाह रहकर भी नहीं रहता, जो कलावान् होकर भी निष्कल रहता है, सचित होकर भी निश्चित्त रहता है, नाना विषयों का अधिकारी होकर भी जो निस्पृह और निःसंग होने वस्तुतः व्यवहार वर्जित होता है, वह परिपूर्णात्मा महापुरुष ही जीवन्मुक्त है। इत्यादि

श्रीभगवान् गीता में द्वितीय अध्याय के अन्त में स्थितप्रज्ञ का लक्षण, षष्ठाध्याय में युक्तयोगी का लक्षण, द्वादशाध्याय में भक्त का लक्षण, चतुर्दशाध्याय में गुणातीत का लक्षण खूब स्पष्ट भाषा में निर्देश किए हैं।

जिन लोगों ने कभी भी गम्भीरनाथ के पावन सानिध्य में बैठने का अवसर प्राप्त किया है, थोड़े काल के लिए भी उनकी स्थिति और गति पर दृष्टि डाला है, थोड़ी एकाग्रता के साथ उनके हावभाव, उठना–बैठना, बातचीत करना तथा अन्य कार्य और विशेषतः उनके दोनों नेत्रों का पर्यवेक्षण किया है, उनको यही अनुभव हुआ है कि जीवनमुक्त के ये सब लक्षण ही मानों जीवन्त मूर्ति धारण करके सामने विराजमान हों । बाबा गम्भीरनाथ जी दिव्य जीवन में प्रत्येक लक्षण का अत्यन्त परिस्फुट रूप में प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त होता था। वे अकेले बैठे हों अथवा बहुत लोगों के बीच घिरे हों, निर्जन पर्वत पर या बन में हों, अथवा कर्मकोलाहल के बीच घिरे हों, उनके चारों ओर बैठे हुए लोग भक्तियुक्त चित्त से उनके उपदेश की प्रतीक्षा करते हों अथवा हिंसाद्वेषयुक्त चित्त से आपस में विवाद कर रहे हों, वे सेवकों से घिरे हुए भोगसम्पत्तिपरिपूर्ण स्थान में विराजमान हों अथवा सेवकविन होकर हिंस्त्रजन्तुपरिपूर्ण स्थान में विचरण कर रहे हों, उनको जब जहाँ जिस अवस्था में भी देखा जाता, किसी अवस्थमें उनकी सौम्य प्रशान्त गम्भीर मूर्ति में कोई

विलक्षणता नहीं दिखाई पड़ती, किसी भी अवस्था में उनके निश्चिन्त प्रसन्न आत्मसमाहित भाव में किसी प्रकार का विकार नहीं प्रकट होता, किसी अवस्था में बाहरी व्यापारों की कोई भी प्रतिक्रिया उनके चित्त पर होती हुई नहीं दिखाई पड़ती थी, सब अवस्थाओं में ही मानों वे किसी ऊर्ध्वलोक में विराजमान रहते थे, जहाँ निरानन्द का लेश न हो, भय भावना और चंचलता का प्रवेशाधिकार न हो। जो वस्तु और जो घटनायें साधारण लोगों को बिल्कुल सच्ची जान पड़ती हैं, वहीं उनके सम्मुख झूठी और स्वप्नवत् दिखाई पड़ती थी। उनका भाव ही देखने से यही बात स्वभावतः ही प्रतीत होता था कि उन्हें ऐसी ही किसी वस्तु की प्रप्ति हो गई है,–

यै लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितों न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।।

उनकी मूर्ति का थोड़ी देर तक निरीक्षण करने से यही धारणा होती थी कि, वे मानों अपने चिद्घनपरमानन्द स्वरूप में अचलप्रतिष्ठ होकर सम्पूर्ण संसार में उसी परमानन्द का लीलाविलास आस्वादन कर रहे हों। योगीश्वर ज्ञानीश्वर त्यागीश्वर शिवसुन्दर ही मानों एक अभिनव मूर्ति में प्रकट हुए हों।

अंहकार के स्वरूप

एक ओर उनका औदासीन्य और प्रशान्तभाव जिस प्रकार चरम सीमा पर पहुँचा हुआ था; उसी प्रकार वे दूसरी ओर अगाध प्रेम की धनीभूत मूर्ति थे। एक ओर जैसे वे अहंभाव परिशून्य थे, दूसरी ओर उनका एक विश्वव्यापी अहम् था, अर्थात् जीवमात्र में ही वे अपनी ही विचित्र मूर्तियाँ देखते थे। महोपनिषद् में त्रिविध अहंकार का उल्लेख है,–

'अहं सर्वमिदं विश्वं परमात्माहमच्युतः।
नान्यदस्तीति संवित्या परमा ह्यहंकृतिः।।

सर्वस्माद् व्यवतिरिक्तोऽहं बालाग्रादप्यहं तनु।
इति याः संविदों ब्रह्मन् द्वितीयार्हकृतिः शुभा।।
पाणिपादादिमात्राऽयमहमित्येष्ज निश्यचः।
अहंकारस्तृतीयोऽसौ लौकिकस्तुच्छ एव सः।।

'यह समग्र विश्व ही मैं हूँ, मैं सर्वभूतान्तर्यामी परमात्मा हूँ, सभी कुछ मेरी सत्ता से अभिन्न है,– इस प्रकार का अहंकार ही श्रेष्ठतम अहंकार हे। मैं सब पदार्थो से व्यतिरिक्त एवं सूक्ष्म से भी सूक्ष्म चैतन्य स्वरूप हूँ, इस प्रकार शुभ अहंकार माध्यम है। मैं हस्तपदादि विशिष्ट देहमात्र हूँ, ऐसा अहंकार लौकिक और तुच्छ है।

बाबा गम्भीरनाथजी लौकिक अहंकार से तो बहुत पहले ही मुक्त हो चुके थे। 'नेति–नेति'– विचार रूपी व्यतिरेकी साधना और निदिध्यासन के अभ्यास द्वारा वे सर्वातिरिक्त चित्स्वरूप 'अहम्' का साक्षात्कार प्राप्त किये थे। इसके बाद अन्वयी साधना द्वारा वे सर्वात्मभाव रूप परमा अहंकृति में प्रतिष्ठित हो गए थे। उनका जीवप्रेम–सर्वभूतहिते रति–ही परमा अहंकृति की अभिव्यक्ति थी। उनके प्रेम के अचिन्त्य प्रभाव से व्याघ्रसर्पादि हिंस्रजन्तु भी अपनी हिंसावृत्ति को छोड़कर उनके निकट निवास करते थे। वे सब प्राणियों को अभय प्रदान करके ही स्वयं निर्भय हुए थे। वे किसी भी प्राणी को उद्वेग नहीं देते थे। बाद के जीवन में जो वे कर्मक्षेत्र में अवतीर्ण हुए, तथा अनेक नर–नारियों को दीक्षा प्रदान् करके उनके संतप्त प्राणों को शीतल किए, वह भी उनके प्रेममय स्वभाव का ही अभिव्यक्ति थी।

अष्टम अध्याय

ऐश्वर्य और माधुर्य

तत्वदर्शी महात्माओं का विश्वास था कि, योगिराज गम्भीरनाथजी नित्यनिर्विकार आत्मसमाहित भाव, सर्वदा सर्वत्र ब्रह्मदर्शन और सब जीवों पर अकुण्ठ प्रेम के साथ–साथ असीम योगैश्वर्य में भी सुप्रतिष्ठित हो गए थे। साधन में उन्होंने मुख्यतः योगमार्ग का ही अवलम्बन किया था। गुरुदेव से मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग की ही दीक्षा प्राप्त किए थे। भक्तियोग और ज्ञानयोग उनके पूर्णागं योगसाधना के ही अंगीभूत थे। जब तक योग से सभी अंगों में सिद्धि नहीं प्राप्त हो गई तब तक उन्होंने साधना न रोकी। हठयोग की निगूढ़ साधना के भीतर से ही वे राजयोग के चरम लक्ष्य पर पहुँचे थे। वे कहते थे कि हठयोग के भीतर ही राजयोग और ज्ञान योग में पूर्ण सिद्धि प्राप्त करने के उपयोगी अतिनिगूढ़ साधन रहस्य विद्यमान हैं; किन्तु उस साधना के अधिकारी अति विरल देखे जाते है। उन्होंने अपने सम्बन्ध में अवश्य ही कभी भी कोई बात नहीं कही। किन्तु किसी–किसी तत्वदर्शी महात्मा ने उनके विषय में ऐसी बात प्रकट की थी कि वे योगसाधना में सम्यक् सिद्धि प्राप्त करके अणिमादि योगेश्वर्यो का सम्पूर्णरूप में स्वाधीन कर लिये थे, विश्वप्रकृति के ऊपर पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त कर लिए थे, ईश्वरत्व में सुप्रतिष्ठित हो गए थे एवं ज्ञान द्वारा सब शक्ति और ऐश्वर्य को हजम करके सर्वतोभावेन माधुर्य मण्डित हो गए थे। वे योगीश्वर शिव के ही समान महाशक्ति के अधीश्वर होकर भी भोलानाथ रूप से विराजमान रहते थे।

सृष्टि–स्थित–प्रलय की क्षमता

महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी ने अपने शिष्यों के समक्ष कहा था कि, "बाबा गम्भीरनाथ पलक मारने भर में

सृस्टि–स्थित–प्रलय कर सकते हैं। ऐश्वर्यभाव में सिद्धि प्राप्त करके अब माधुर्य में डूब गये हैं।'' कोई–कोई महात्मा 'साक्षात् विश्वेश्वर' कहकर उनका वर्णन किये थे। इन मन्तव्यों का तात्पर्य यही है कि, वे योगैश्वर्य की पराकाष्ठा प्राप्त करके ईश्वरत्व में प्रतिष्ठित हो गये थे, एवं ईश्वरत्व को भी पूर्ण ज्ञान द्वारा सच्चिदानन्दघन परमात्मा में विलीन करके स्वरूपानन्द में विभोर और मधुर भाव से भरपुर रहते थे। इस विषय का किसी प्रकार का साक्ष्यप्रदान या समर्थन करने का अधिकार हमारे समान स्थूलदर्शी जीवों का न है न हो सकता। सम्यक् सिद्ध महायोगीगणों को भी सृष्टि स्थिति प्रलय करने की क्षमता या ईश्वरत्व प्राप्त होता है या नहीं, इस विषय में शास्त्रीय प्रमाण के अतिरिक्त दूसरा कोई प्रमाण तो सम्भव नहीं, क्योकि किसी भी युग में किसी भी महापुरुष ने ऐसी क्षमता का परिचय कार्यरूप में तो दिया नहीं। विचारशील व्यक्तियों को थोड़ा विचार करने से ही यह बात समझ में आ सकती है कि, स्थूलदर्शी लोगों की बुद्धि की समक्ष ऐसे ईश्वरत्व का परिचय कार्यतः उपस्थित करना और उन्हें कायल कर देना सम्भव नहीं; केवल साधनसिद्ध योगैश्वर्यसम्पन्न जीव की तो बात ही क्या, स्वयं नित्यसिद्ध परमेश्वर भी अवतार लेकर उन्हें कायल नहीं कर सकते। सुतंरा ज्ञान और योगकी परम पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ साधक ईश्वरत्व में प्रतिष्ठित होकर भी ईश्वरत्व का अतिक्रम करके सच्चित्प्रेमानन्दघन मधु स्वरूप में स्थिति प्राप्त करता है, इस बात का क्या अर्थ है, वह शास्त्रदृष्टि और दार्शनिक विचार द्वारा ही हृदयगम किया जा सकता है।

इस विषय में शास्त्रत्याख्याता आचार्यो के बीच में भी आपातदृष्टि से कुछ मतभेद दृष्टिगोचर होता है। किसी–किसी आचार्य का अभिमत यह है कि, सम्यक् सिद्ध महापुरूषों को सर्वज्ञत्व आदि और आणिभा लधिमादि ऐश्वर्य प्राप्त हो सकते हैं सही, किन्तु जगत् की सृष्टि–स्थिति–प्रलयकारिणी शक्ति एकमात्र

नित्यसिद्ध परमेश्वर में ही नित्य विद्यमान रहती है, वह किसी जीव को नहीं प्राप्त हो सकतीं जीवज्ञान में मायातीत तो हो सकता है, किन्तु शक्ति में मायाधीश नहीं हो सकता। इस एक ही विषय में मुक्तजीव और परमेश्वर में भिन्नता है।

ब्रह्मसूत्र के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ पद में 'जगद्वयापारवर्जम्' सूत्र में – (४–४–१७) महर्षि वेदव्यास ने इसी मत को प्रकट किया है; यही भाष्यकारों का निर्देश है। आचार्यप्रवर शंकर ने इस सूत्र के भाष्य में लिखा है, "जगदुत्पत्यादि व्यापारं वर्जयित्वा अन्यदणिमाद्यात्मकं ऐश्वर्य मुक्तानाम् भवितुमहीत, जगद्वयापारन्तु नित्यसिद्धस्यैव ईश्वरस्य।" जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय के अतिरिक्त दूसरे सभी अणिमादि ऐश्वर्य मुक्त पुरूषों के होत है; जगद्वयापार की क्षमता तो एकमात्र नित्यसिद्ध ईश्वर को ही है। उनकी युक्तियाँ संक्षेपतः इस प्रकार हैं। श्रुति में बार–बार अनादि सिद्ध ईश्वर का ही सृष्टिस्थितिप्रलयकर्ता जगत्कारण रूप में उल्लेख हुआ है। इस बात का भी प्रतिपादन हुआ है कि, उनकी अपेक्षा श्रेष्ठ या उनके समान कोई भी नहीं हो सकता, एवं उनके संकल्प के अनुसार ही जगद्वयापार चिरकाल से सुश्रृखल रूप में चलता आ रहा हैं यदि कोइ योगसिद्ध मुक्तपुरूष उनके समान योगैश्वर्य प्राप्त करके उनके समकक्ष हो जाय, तो वह ईश्वर–संकल्प के प्रतिकूल अपनी इच्छाशक्ति का प्रयोग करके जगद्वयापार को उलट–पलट देने का भी चेष्टा कर सकता है, एवं समानशक्ति सम्पन्न दो या उससे अधिक इच्छाओं के संघर्ष में जगद्वयापार के विश्रृखल हो जाने की सम्भावना होगी। योगशक्तिधारी महापुरूष भी अपनी–अपनी भिन्न–भिन्न इच्छा करके एवं एक दूसरे के विरूद्ध अपनी–अपनी शक्ति का प्रयोग करके जगत् में भीषण संघर्ष और विश्रृखला उत्पन्न कर देंगे। सम्भव है एक की इच्छा हो कि जगत् जिस प्रकार चलता है वैसे ही चले; दूसरा चाहे कि इसी समय प्रलय आरम्भ हो जाय, फिर तीसरा कोई इच्छा करे कि इसी समय संसार की एक

नवीन रूप में सृष्टि को जाय। तब तो जगत् कार्य किस प्रकार चलेगा यह समझ में भी नहीं आता। जो कि अनादिकाल से जगद्वयापार एक ही नियम पर सुश्रृक्षल रूप सें नियन्त्रित हो रहा है, जो कि सृष्टि–स्थिति–प्रलय क्रियाओं का चिरन्तन विधान कभी भी उल्लंघित नहीं होता, इससे यही प्रतीत होता है किस वह एक इच्छा के ही अधीन है, एक ही विश्वविधाता को इच्छा द्वारा परिचालित होता है, तथा उसके उपर हस्तक्षेप करने को क्षमता और किसी को नहीं होती। सुतंरा योगसिद्ध महापुरूषगण चाहे जितना भी ऐश्वर्य भले प्राप्त कर ले, वे सब ईश्वरेच्छा के अधीन ही रहते हैं, ईश्वरेच्छा के अधीन रह कर ही वे अपने योगलब्ध ऐश्वर्य का व्यवहार ओर संभोग कर सकते हैं, वे अपनी तत्वदृष्टि से ईश्वरेच्छा को समझकर तदनुकुल इच्छाशक्ति का प्रयोग करते हैं, इसलिए उनकी इच्छाएँ अव्याहत होती हैं ओर इसीलिए इच्छा की विफलता का दुःख उनको कभी अनुभव नहीं होता। अतएव इस मत में मुक्तजीव भी शक्ति के हिसाब से ईश्वर की तुलना में क्षुद्र होता है। जीवन्मुक्त पुरूष तत्वज्ञान ओर ब्रह्मनन्द सम्भोग में ईश्वर के समान हो सकता है एवं परमार्थ दृष्टि से ईश्वर और जगत् से अभिन्न होकर मायातीत आनन्दमय राज्य मे विराजमान रहता है सही, किन्तु शक्ति में वह ईश्वर के समान नहीं हो सकता, जगद्वयापार के ऊपर आधिपत्य नहीं कर सकता।

योगशास्त्र के मत में योगसिद्ध महापुरुष सर्वशक्तिमत्ता या ईश्वरत्व भी प्राप्त कर सकता है, उस समय समस्त भूतप्रकृति उसकी वशीभूत हो जाती है एवं उसे जगद्वयापार के ऊपर आधिपय प्राप्त हो जाता है। योगसूत्र में विभूतिप्राद के ४४वें सूत्र के भाष्य में व्यासदेव लिखते है, "पंञ्चभूतस्वरूपाणि जित्वा भूतजयी भवति, तज्याद् वत्सानुसारिण्य इव गावः अस्य संकल्पानुविधायिन्यों भूतप्रकृतयो भवन्ति"– (३–४४) अर्थात वह पंञ्चभूत के स्वरूप का जय करके भूतजयी हो जाता है, एवं वत्सानुसारिणी गायों के समान भूत

प्रकृतियां उसके संकल्प की अनुवर्तिनी हो जाती है। परवर्ती सूत्र में महर्षि पतञ्जलि कहते है, "ततोऽणिमादि–प्रादुर्भावः कायसम्पत् तद्धर्मानभिघातश्र– (३–४५)– अर्थात् भूत जय से उसके आणिमादि ऐश्वर्यो का प्रादुर्भाव होता है, कायसम्पत् की प्राप्ति होती है एवं कायधर्म का अनभिघात भी सिद्ध होता है। अणिका–इच्छा करने से ही वह अपने को एक परमाणु में परिणत कर सकता है एवं किसी के रोमकूप के भीतर से भी शरीर के भीतर प्रवेश कर सकता है। लघिमा–वह इक्ष्छा मात्र से अत्यन्त लघु या हल्का होकर हवा के भी आगे गमन कर सकता है। महिमा–वह संकल्प मात्र से ही अपने क्षुद्र देह को पर्वत के समान भारी या विशाल बना सकता है। प्राप्ति– वह यदि किसी स्थान के किसी वस्तु को प्राप्त करना चाहे तो संकल्पमात्र से उसे प्राप्त कर सकता है। प्राकाम्य– उसकी इच्छा अव्याहत रहती है। वशित्व –समस्त भूत और भौतिक पदाथ उसके वश में होते है।, वह अपनी इच्छानुसार उनका व्यवहार कर सकता है, और स्वयं उनके बश में नहीं रहता। ईशित्व–समस्त भूत और भौतिक पदार्थो की उत्पत्ति, विनाश और स्थिति के ऊपर उसकी प्रभुता रहती है। (तेषां प्रभवाप्ययव्यूहानंईष्टे भाष्य) अर्थात वह सृष्टि स्थिति प्रलय करने में समर्थ होता है। यत्राकामावसायित्व वह संकल्प होता है; वह जैसा सकल्प करता है भूत और भौतिक पदार्थ उसी प्रकार रहते हैं, उसके संकल्प के अनुसार ही उनके स्वभाव और क्रियायें नियन्त्रित होती हैं। कायसम्पद् उसके शरीर में आश्चर्यकारी रूपलावण्य और बल प्रकट होते है। इसका पांच भौतिक शरीर भी दिव्य शरीर में परिणत हो जाता है तथा षड्धर्म से मुक्त होता है। कायधर्म का अनभिघात–उसकी इच्छा के विरूद्ध जल, अग्नि, अस्त्र, विष, व्याधिबीज आदि उसके शरीर के उपर कोई क्रिया नहीं कर सकते।

इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के योगांगों की सिद्धि से विभिन्न प्रकार के ऐश्वर्यो की प्राप्ति का वर्णन योगशास्त्र में है वे सब

मुमुक्षु साधकों को अभीष्ट नहीं होते. तथापि योगशास्त्र और योगसाधकगण इस बात का साक्ष्य प्रदान करते है कि मनुष्य अपनी अन्तर्निहित सुप्तशक्तियों के उद्‌बोधन और यथाविहित अनुशीलन द्वारा साधारण बुद्धि की कल्पना में भी न आने वाले सामर्थ्यो को प्राप्त कर सकता है तथा ईश्वरत्व प्राप्त करके जगद्वयापार के ऊपर अधिपत्य पर्यनत कर सकता है।

शंकर आदि आचार्यगण सिद्धपुरूषों के जगद्वयापार के ऊपर आधिपत्य प्राप्त करने के विरूद्ध जो आपत्तियाँ उठाये हैं, योगभाष्यकार व्यासदेवजी ने पहले से ही उन आपत्तियों को खड़ा करके उनकी मीमांसा कर दी है। उन्होंने उल्लिखित सूत्र के भाषा में लिखा है। –''न च शक्तोऽपि पदार्थ विपर्यासं करोति। कस्मात्? अन्यस्य यत्रकामावसायिनः पूर्वसिद्धस्य तथाभूतेषु संकल्पादिति।।'' योग सिद्ध भूतजयी महापुरूष भूत और भौतिक पदार्थो के उप्पत्ति, स्वभाव, क्रिया और विनाश आदि को सम्पूर्णरूप से परिवर्तन कर देने में समर्थ होते हैं सही, किन्तु वे कभी ऐसा करना चाहते नहीं। क्योंकि पूर्वसिद्ध सत्यसंकल्प परमेश्वर के संकल्पानुसार ही सब पदार्थों की उत्पत्ति, स्वभाव, क्रिया, ध्वस आदि नियमित होते है। सम्यक् सिद्ध योगीराज महापुरुषों के संकल्प एक समान ही होते है, परस्पर विरोधी नही होते, सुतरां कभी नित्यसिद्ध परमेश्वर की इच्छा के विरोधी हो ही नहीं सकते।

यदि थोड़ा विचार करके देखा जाय तो यह बात मन में कभी नहीं आएगी कि इस विषय में वेदान्तमत में और योगमत में काई विशेष अन्तर है। योगसिद्ध मुक्तपुरूष अणिमादि ऐश्वर्यो को प्राप्त करते है, यह तो सर्ववादिसम्मत है। वेदान्तसूत्र के ४–४–८ और ४–४–६ सूत्रों में सत्यसंकल्प और अनन्याधिपति कहकर उनका वर्णन किया गया है। तृतीय अध्याय़ क़े द्वितीय पाद में पंचम और षष्ठ सूत्रों में व्यासजी ने इस बात को इंगित किया है कि,

सत्यसंकल्पत्वादि शक्तियाँ जीव के भीतर सर्वदा ही रहती है, किन्तु वृद्धावस्था में अविद्यावशतः अथवा उसके कर्मानुरूप परमेश्वर के संकल्पवशतः वह शक्ति तिरोहित रहती हैं एवं इसी से जीव का बन्धन और मोक्ष होता हैं श्रुति में भी कहा गया है, "स स्वराट् भवति, तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति"–अर्थात् वह स्वराट् हो जाता है और बस लोकों में उसका कामचार सिद्ध होता है (इच्छानुरूप व्यवहार, इच्छा का अनभिघात अर्थात् ईश्वरत्व प्राप्त होता है)। स्वयं परमेश्वर में इन सब गुण शक्तियों और ऐश्वर्यो के नित्य वर्तमान रहने से वे नित्य सृष्टि–स्थिति–प्रलय कर्ता हैं ही, साधनबल से मुक्तजीव उन सब गुण शक्तियों ओर ऐश्वर्यो को प्राप्त करता है, यह बस शास्त्रों में वर्णित है। वस्तुतः सृष्टि स्थिति प्रलयकारिणी शक्ति अष्टैश्वश्वर्य के ही अन्तर्भुक्त है।

सबकी शक्तियों में ईश्वरीय शक्ति का ही प्रकाश है

यदि ईश्वर के विधान के प्रतिकूल कोई अपनी शक्ति को सफल करके दिखा सकता है और तभी यह बात स्वीकार की जाती कि हाँ उसमें वह शक्ति है, एवं ऐसा न होने पर उसकी शक्ति को अस्वीकार करना पड़ता, तब तो यह कहना भी असम्भव हो जाता कि किस जीव में किस प्रकार की शक्ति है। क्योंकि परमेश्वर केवलमात्र समष्टि जगत् का ही सृष्टि–स्थिति–प्रलयकर्ता नहीं है, वह व्यष्टि जगत् का भी सृष्टि स्थिति–प्रलयकर्ता है– विश्वब्रह्माण्ड के छोटे बड़े सब कार्य ही उनके संकल्पानुयायी विधान के अनुसार संघटित और नियन्त्रित होते है, सबके सभी कर्म और कर्मफल ही उनकी इच्छानुसार होते हैं, उनके विधान के प्रतिकूल किसी प्राणी के लिय कोई सामान्यकार्य सम्पादन करना भी असंम्भव है केनोपनिषद् में कहा गया है कि देवतागण जब असुरों को पराभूत करके अपने को ही विजेता मानकर अभिमान कर रहे थे, तब हैमवती उमा (भगवती विद्याशक्ति) उन लोगों को ज्ञान प्रदान करने के लिए

उनके समक्ष प्रकट होकर कार्यतः समझा दिया कि ईश्वरी शक्ति के अतिरिक्त अग्निदेव एक तृण भी नहीं जला सकते, पवनदेव एक तिनके को हटा भी नहीं सकते, कोई भी देवता कुछ भी नहीं कर सकता। जिस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि कोई व्यक्ति एक मन बोझा उठाने का अथवा एक योजन मार्ग पैदल चलने की शक्ति रखता है, अथवा कोई व्यक्ति वाष्पीय यान या बॅम बनाने की शक्ति रखता है, किंवा किसी को वेदान्त विद्या या पदार्थ विद्या पढ़ाने की शक्ति है, उसी प्रकार हम यह भी कह सकते हैं कि योगसिद्ध महापुरुषों को सृष्टि–स्थिति प्रलय करने की क्षमता रहती है। अपेक्षित सृष्टि–स्थिति–प्रलय करने की क्षमता अल्पाधिक सब जीवों को ही होती है, प्रत्येक व्यक्ति ही किसी न किसी वस्तु का उत्पादन कर सकता है, किसी न किसी पदार्थ का विनाश कर सकता है एवं किसी न किसी पदार्थ का पालन कर सकता है। यही क्षमता योगसिद्ध महापुरुष में पूर्णता को प्राप्त हो जाती है। किन्तु ये सभी क्षमताएँ जीव के भीतर इष्वरीय शक्तियों के विकास है, एवं इन क्षमताओं का प्रयोग भी ईश्वर के विधान से ही होता है। ये सभी शक्ति और व्यवहार की बातें व्यावहारिक जगत् के ही विषय है, और व्यावहारिक जगत् के सभी कार्य ईश्वरेच्छा द्वारा नियन्त्रित होते है।

किसी व्यक्ति ने किसी शक्ति या ऐश्वर्य को अधिक मात्रा में प्राप्त कर लिया है, तत्वविचार में इन कथन का यही तात्पर्य होगा कि ईश्वर की ही वह शक्ति या ऐश्वर्य अधिक मात्रा में उसके भीतर से प्रकाशित हुई है, उसने उस शक्ति ओर ऐश्वर्य के भीतर से उस मात्रा में ईश्वर की ही उपलब्धि की है। जिसने भी धन में मान में, वीर्य मे, शौर्य में, विद्या में, बुद्धि में, तपस्या में या तितिक्षा में, जिस किसी भी शक्ति या ऐश्वर्य में साधारण लोगों की अपेक्षा कुछ विशेषतत्व प्राप्त किया है, उसी को समझना होगा कि, उसके भीतर

ईश्वर का ही कुछ विशेष विकास हुआ है।

श्री भगवान् कहते है,–

यद् यद् विभूतिमत्सवं श्रीमदृर्जितमेव वा।

तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोशसम्भवम्।।

पूर्णसिद्ध सर्वागंसिद्ध होता है

जो व्यक्ति शक्ति और ऐश्वर्य के साथ–साथ सत्यज्ञान की प्राप्ति करता है वह ज्ञान में इस तथ्य का प्रत्यक्ष रूप से अनुभव कर सकता है, एवं उसके चित्त में इस शक्ति की प्राप्ति से किसी प्रकार के अभिमान का उदय नहीं होता। किन्तु जिसने किसी विशेष शक्ति या ऐश्वर्य को प्राप्त करके उसके साथ यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति नहीं की, वह उस शक्ति और ऐश्वर्य को अपना समझकर अभिमान से मत्त हो जाता है, एवं उसके भीतर जिसका प्रकाश होता है, वह परमेश्वर उसके ज्ञान के अन्तराल में छिपा रहता है। वह भी अपनी उस शक्ति और ऐश्वर्य को ईश्वरेच्छा के प्रतिकूल अवश्य ही व्यवहार नहीं कर सकता, उसके अनजान में उसके भीतर से उस शक्ति और ऐश्वर्य का ईश्वरेच्छानुसार ही व्यवहार होता है। एव उससे ईश्चरेक्ष्छानुकूल फल ही प्रसूत होता है। अपनी अज्ञानतावश वह फल कभी उसको अपना इष्ट जान पड़ता है और कभी अनिष्ट, एवं तदनुरूप उनको सुख दुःख का अनुभव भी होता है। ज्ञानी की दृष्टि में अनिष्ट कुछ होता ही नहीं, सुतरां उसके कर्म की असिद्धि भी कभी नही हो सकती, इसीलिए उसको दुःख या ताप भी नहीं होता।

उत्तम भागवत

योगसिद्ध मुक्त पुरुष के भीतर ईश्वर की शक्ति और ईश्वर्य का पूर्ण विकास होता है। जिस प्रकार वह ज्ञान प्रेम और आनन्द

में ईश्वर के समान हो जाता है, ईश्वर के समान सर्वात्मभाव में प्रतिष्ठित हो जाता है, न्यायकर्ता होकर भी अकर्ता एवं भोक्ता होकर भी अभोक्ता हो जाता है, उसी प्रकार वह शक्ति और ऐश्वर्य में भी ईश्वर के समान हो जाता है, ईश्वर के समान ही सर्वशक्तिमान् और सर्वेश्वर्यसम्पन्न हो जाता है। किन्तु ऐसा होने से वह ईश्वर का सहायक या प्रतिद्वन्द्वी नहीं होता, एक स्वतन्त्र विशिष्ट संकल्पविकल्पयुक्त सृष्टि–स्थिति–प्रलयकारी रूप में आविर्भूत नहीं होता, नवीन रूप से सृष्टि स्थिति प्रलय करने में प्रवृत्त नहीं होता, ईश्वरेच्छा के प्रतिकूल अपनी शक्ति और ऐश्वर्य का प्रयोग करके सनातन विश्वविधान में एक विश्रृखला उत्पादन करने की कल्पना भी उसके मुक्त चित्त में नहीं उठती। क्योंकि ईश्वर उसके बाहर तो होता नहीं, ईश्वर तो उसके भीतर ही रहता है। अज्ञान व्यक्ति ही ईश्वर को अपने से बाहर रहने वाला अचिन्त्य ज्ञानैश्वर्यशक्ति समन्वित एक पृथक विराट् पुरुष समझता है और अपने को साढ़ेतीन हाथ के सीमित शरीर में आबद्ध, विशाल ब्रह्माण्ड के एक क्षुद्र अंश में अवस्थित, देशकाल अवस्था के आधीन, एक क्षुद्र प्राणी समझता है। ज्ञानी पुरुष सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्वैश्वर्यसम्पन्न अशेष प्रेममहार्णव सृष्टि स्थिति प्रलयकारी परमेश्वर को अपने भीतर ही अनुभव करता है, अपने को उनसे अभिन्न अनुभव करता है। श्रीमद्भागवद् में कहा है–

सर्वभूतेषु यः पश्यत् भगवद्भवमात्मनः।

भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तम्।।

सब भूतों में जो अपने भगवद्भाव का (भगवत्ता का प्रकाश) दर्शन करता है एवं सब भूतों को अपने में तथा भगवान् में दर्शन करता है, वही श्रेष्ठ भक्त है। सुतरां अपने भीतर की भगवत्ता का ही प्रकाश करके भक्त जीवजगत् समन्वित समस्त विश्वब्रह्माण्ड को अपने भीतर देखता है। उसकी आत्मा के भीतर अन्तर्निहित जो

ईश्वरीय ज्ञान, शक्ति, प्रेम और आनन्द गुप्त रूप से अनादिकाल से विद्यमान रहते है, उनका ही वह साधन द्वारा परिपूर्ण विकास करता है। उसके साधनलब्ध ज्ञान, प्रेम, आनन्द, शक्ति ऐश्वर्य वस्तुतः नित्यसिद्ध परमेश्वर के ही, ज्ञान, प्रेम, आनन्द, शक्ति और ऐश्वर्य है। उसकी इच्छा के भीतर से ईश्वरेच्छाका ही प्रकाश होता है उसके व्यवहारिक जीवन में अन्तर्यामी परमेश्वर की इच्छा के साथ सर्वथा एकीभूत स्वकीय इच्छा के अनुसार ही उसकी शाक्त और ऐश्वर्य आदि का प्रयोग और संभोग होता है। अर्थात् ईश्वर अपने स्वरूप में प्रकाशित होता है, इसीलिए ईश्वर तन्त्र होकर ही वह स्वतन्त्र या स्वाधीन होकर ही वह ईश्वर तन्त्र या ईश्वराधीन होता है। वस्तुतः वह ईश्वर के सब गुण, ऐश्वर्य और शक्ति को प्राप्त करके ईश्वर का ही एक विशेष विग्रह बनकर जगत् में विचरण करता है। परिपूर्ण मानवत्व के भीतर ही ईश्वरत्व का भी परिपूर्ण विकास होता है। इस प्रकार ईश्वरत्व प्राप्त हो जाने पर ईश्वर के ही समान मनुष्य सत्यसंकल्प, सर्वकर्मा, कामचारी, महाभोगी और महात्यागी होकर भी संकल्पविहीन, कर्मविहीन, कामविहीन, भोगविहीन, और त्यागविहीन, होकर विराजमान रहता है। तब उसकी शक्ति ब्राह्मीस्थिति में पर्यवसित हो जाती है, ऐश्वर्य माधुर्य में रूपायित हो जाता है।

भगवान् का आत्म संभोग

एक अद्वितीय नित्यसिद्ध नित्यमुक्त अशेष कल्याण गुणाकर विश्वब्रह्माण्डाधिपति योगीश्वर भगवान अपने असंख्य विकाशों के भीतर से अनन्तभावों में अपने स्वभाव सिद्ध, ज्ञान, प्रेम, शक्ति और ऐश्वर्य की उपलब्धि और सम्भोग करने के उद्देश्य से ही आपही अनेक होकर उस अनेक के बीच में ही अपनी भगवत्ता का संकोचन करके अपने को अविद्याग्रस्त असंख्य जीवरूप में प्रकाशित किए है।, तथा उनके कर्म, भोग और स्वरूपाभिव्यक्ति के उपयुक्त क्षेत्र

और उपकरण क सहयोग में इस जगत रूप में भी स्वयं प्रकट हुए है। उन्होंने विश्वविधान को इस प्रकार बनाया है एवं उसके द्वारा जीवजगत के सभी कार्यो को इस प्रकार सुश्रृखलरूप में नियन्त्रित करते है, जिससे प्रत्येक जीव अन्धतमसाच्छन्न हेयतम अवस्था से नानाप्रकार की अवस्थाओं में होता हुआ अनजान में भी क्रमशः भगवत्ता के मार्ग पर ही–ज्ञान, प्रेम, शक्ति, आनन्द और ऐश्वर्य के क्रमविकाश द्वारा अपनी अन्तर्निहित भगवत्ता की उपलब्धि करने के मार्ग पर ही – अग्रसर हो रहा है। प्रत्येक जीव के भीतर भगवान ही वस्तुतः साधक है तथा उन्हीं की स्वरूपभूता भगवत्ता की परिपूर्ण उपलब्धि ही साध्य है। मनुष्य के ही भीतर यह साधना विचापूर्वक तथा इच्छापूर्वक होती है। मुक्तपुरुषों में यही साधना सम्यक्सिद्धि में पर्यवसित हो जाती हैं सम्यक्सिद्ध मुक्तपुरुष के जीवन में भगवत्ता का परिपूर्ण विकाश होता है, वहाँ के भीतर भगवान की परिपूर्ण आत्मोपलब्धि होती है, परिपूर्ण संभोग होता है। सुतरां सम्यक्सिद्ध मुक्तपुरुष की सृष्टि में ही भगवान की सृष्टि प्रक्रिया की चरम सार्थकता है, वहाँ भी भगवान जीव के भीतर अपने को परिपूर्णरूप से प्रकट करके अपने को आपही परिपूर्णरूप से सृजन करने का सामर्थ्य प्रदर्शित करते हैं। वहाँ ही भगवान का 'बहुत होना' सम्यक्रुप से सार्थक होता है। यह सृष्टि तत्व का एक निगूढ़ रहस्य है। अतएव सम्यक्सिद्ध महापुरुष को जब सृष्टि–स्थिति–प्रलय करने में समर्थ कहा जाता है, तब इसी बात का निर्देश होता है कि, उनके भीतर ईश्वरीय शक्ति और ऐश्वर्य का पूर्ण विकास साधित हुआ है, वे मनुष्य देह में रहते हुए ही ईश्वरत्व में प्रतिष्ठित हो गये है वे मायाधीश भगवान के साथ अपने एकत्व का सम्यक्रूप से उपलब्धि कर लिए है, वे भगवान् की जीवसृष्टि की चरम सार्थकता के निदेर्शन स्वरूप हमारे सम्मुख उपस्थित रहते हैं इससे उनको भगवान का सहायक या प्रतिद्वन्दी कहना नहीं होता, ज्ञान और शक्ति में भगवान के साथ उनकी अभिन्नता ही

दिखाई जाती है। जीव जब परिपूर्णता प्राप्त कर लेता है, अपने साधन जीवन की चरम सार्थकता पर पहुँच जाता है, तो वह इस प्रकार की शक्ति और ऐश्वर्य को प्राप्त करके ईश्वरत्व में प्रतिष्ठित हो सकता है। महर्षि बादरायण ने ब्रह्मसूत्र के ४–४–५ सूत्र में इस बात का निर्देश किये है, महर्षि जैमिनि का भी यही सिद्धान्त है। किसी–किसी ऋषि को इसमें आपत्ति रहने पर भी उन्होंने ४–४–७ सूत्र में यही प्रकट किया है कि इस सिद्धान्त का उनके निज मत के साथ कोई विरोध नहीं।

योगीराज गम्भीरनाथ मानवजीवन की चरम सार्थकता को प्राप्त करके इसी प्रकार ईश्वरत्व में प्रतिष्ठित हो गये थे, ऐसा किसी–किसी तत्वदर्शी महापुरूष का कथन था और यह बात तो पहले ही कही जा चुकी है कि इस विषय में हमें कुछ कहने का अधिकार नहीं है। इस बात का भी निर्देश किया जा चुका है कि एक महापुरुष की आध्यात्मिक अवस्था का परिचय दूसरे महापुरुष के साक्ष्य पर ही प्राप्त होता है। किन्तु अपनी असीम शक्ति को वशीभूत रखने अर्थात अपने भीतर गुप्त रखने की उनकी शक्ति को तो हम लोगो ने अपनी ऑखो से प्रत्यक्ष देखा है। हमने यह देखा है कि, वे अपने ईश्वरत्व को अपने सब योगैश्यर्य को किस प्रकार माधुर्य में रूपायित कर दिये थे।

ऐसे अनेक महापुरुष देखे जाते है जो प्रचुर शक्ति प्राप्त करके उन शक्तियों के हाथ के यन्त्र बन जाते हैं अर्थात उन्हीं के द्वारा परिचालित होने लगते है। अपने अलौकिक शक्ति को सम्पूर्ण रूप से अपने भीतर धारण कर रखने की शक्ति अनेक शक्तिशाली महापुरुषों को भी नहीं होती; शक्ति की लीलाएँ मानो अपने आप उनके भीतर से प्रकट हो जाती है। कोई एक मदमत्त गजराज जिस प्रकार एक क्षुद्र जलाशय में घुसकर उसे उथल पुथल कर देता है, उसी प्रकार कोई अल्पाधिकारी योगी किसी विशेष योगविद्या

के अनुशीलन द्वारा जब कोई विशेष आलौकिक शक्ति प्राप्त कर लेता है, तो शक्ति ही उसे चञ्चल और बहिर्मुख बना देती है। जो लोग विशेष–विशेष योगांगों के अनुशीलन द्वारा विशेष–विशेष शक्तियाँ तथा विभूतियाँ प्राप्त कर लेते है, तथापि ज्ञानसाधना के अभाव कारण तत्वदृष्टि से वंचित रहते हैं, उनका अहंभाव विनष्ट न होने के कारण एवं ईश्वरेच्छा के साथ उनकी इच्छाओं का ज्ञानानुभूति में मिलन सम्पन्न न होने के कारण, वे उन शक्तियों तथा विभूतियों पर आसक्त हो जाते है, एवं बहिर्जगत् में विशेष–विशेष फलप्राप्ति की 'आशा से उनका प्रयोग करके कभी–कभी विषयी लोगों के स्वभाव को ही प्राप्त हो जाते है। ये सब कार्य भी अवश्य ही ईश्वर के विधानानुसार ही संघटित होते है। किन्तु इसमें अनेक अधिकार की अल्पता देखी जाती है, एवं यही बात प्रमाणित होती है कि, वे अपने भीतर ईश्वरत्व के क्रमविकाश के मार्ग पर अपनी लक्ष्य से बहुत दूर है।

वास्तविक गाम्भीर्य

साधक लक्ष्य के जितना ही निकटवर्ती होगा, उसके भीतर भगक्ता जितनी ही विकसित होगी, उतना ही उसे तत्वदृष्टि की प्राप्ति होगी, उतना ही परम मंगलमय विश्वविधाता के ज्ञान, प्रेम और इच्छा के साथ उसके ज्ञान, प्रेम और इच्छा का मिलन होगा, उसका अहंभाव उतना ही विश्वात्मा के परम् भाव में विलीन हो जायगा, उतना ही अपने तपोलब्ध अलौकिक शक्तियों और विभूतियों को किसी बाहरी उद्देश्यसिद्धि के लिये प्रयोग करने का अनिच्छुक हो जायेगा। जिसका अधिकार जितना ही ऊँचा होता है वह अपनी शक्तियों ओर विभूतियों को उतने ही अधिक परिमाण में अपने भीतर ही गुप्त रखने में सामर्थ होता है। अपने योगलब्ध अलौकिक ऐश्वर्य के रहने पर भी उन्हें प्रकट न होने देकर अपने भीतर ही वशीभूत करके रखने की शक्ति सब शक्तियों से बड़ी शक्ति है, एवं वह शक्ति अत्यूच्चाधिकार सम्पन्न परमार्थदर्शी नित्युक्त योगी को ही होती है बाबा गम्भीरनाथ के भीतर यह शक्ति पूर्ण मात्रा में जान

भी कभी किसी प्रकार के आलौक्तित्व का गन्ध भी नहीं मिलता था, इस सम्बन्ध में यदि कोई व्यक्ति कभी कोई प्रश्न भी पूछता तो दो एक बातों में साधारण समझदारी की भाषा में ही उसकी व्याख्या कर देते। योगिराजजी महासिद्धि प्राप्त होने के अनन्तर सर्वदा सहज अवस्था में ही रहते थे। सहज अवस्था ही माधुर्य की अवस्था ह। महासिद्ध गम्भीरनाथ ऐश्वर्य में सिद्धि प्राप्त करके माधुर्य में डूब गये थे, उनके अंग प्रत्यगं सर्वदा अपाकृतिक माधुय से अभिसिंचित रहते थे।

बाबा गम्भीरनाथ के व्यावहारिक जीवन का पर्यवक्षण करने से केवल दो प्रकार की आलौकिक शक्तियों का विशेष परिचय प्राप्त होता था। प्रथमतः सब प्रकार के अवस्थाधिपर्यय के बीच भी सर्वदा ब्रह्मीभाव में समाहित रहने की शक्ति– 'निर्द्वन्दों नित्यसत्वस्थो नियोंगक्षेम आत्मवान्'' होकर स्थित रहने की शक्ति; द्वितीय प्रेम की शक्ति, भूतानुकम्पा की शक्ति। सामान्य सामान्य कार्यो में उनकी अलौकिक शक्ति का सामान्य सामान्य परिचय जिनको जो कुछ प्राप्त हुआ है, भगवद्भवभावित महापुरुष के जीवप्रेम की शक्ति से ही उनके भीतर से वह खींचकर बाहर-किया गया है। भगवान उनके भीतर से जीव के प्रति कृपावितरण करने के लिए ही उनके जीवन में उतनी अलौकिक शक्ति का बाहर प्रकाश किये है।

गया में सुनियत तीव्र अभ्यासयोग समाप्त करने के बाद से योगिराज गम्भीरनाथ ज्ञान में, वैराग्य में, शक्ति में, माधुर्य में, आचार व्यवहार में अर्थात सब प्रकार की परिपूर्णता मे प्रतिष्ठित होकर रहने लगे, एवं अगुसंधित्सु मनुष्यों के सम्मुख मानव जीवन के एक सर्वागं सुन्दर आदर्श का प्रदर्शन करने लगे।

नवम अध्याय

ब्राह्मीस्थिति का आर्दश

योगसिद्ध जीवन्मुक्त महापुरुषों को दो श्रेणी में विभक्त देखा जाता है एक श्रेणी वैराग्य प्रधान होती है और दूसरी प्रेम प्रध ान। जिनके हृदय में पहले से ही वैराग्य के संस्कार ही अत्यन्त प्रबल रहते हैं, वे लोग वत्व साक्षात्कार के बाद व्यवहारिक जगत् के साथ फिर कोई विशेष सम्पर्क नहीं रखते, सदा–सर्ददा निःसंग अवस्था में समाधि में ब्रह्मानन्द के उपभोग में निरत रहते हैं, जितने दिन प्रारब्धवश उनका शरीर रहता है, उतने दिन वे ब्रह्मज्ञान में ब्रह्मध्यान में, ब्रह्म रसपान में ही डूबे रहते है, संसार का कोई भी खोज खबर नहीं रखते। जगत् उनके निकट केवल परमार्थिक दृष्टि से ही मिथ्या नहीं होता, व्यवहारिक हिसाब से भी तुच्छ और हेय हो जाता है। सुतरां उनके देह में जबतक प्राण रहता है, तब तक नित्यनिरन्तर आत्मसमाहित भाव में स्थित रहते हुये ब्रह्मानन्द का उपभोग करते हुए ही वे काल को अतिवाहित करते हैं। यही उनके व्यवहारिक् जीवन में एक मात्र कार्य रहता है। इसके बाद काल्क्रम से प्रारब्ध क्षय होने पर जब देहपात हो जाता है, तब वे विदेहमुक्त हो जाते है, ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करते हैं।

जीव प्रेम

जिनके चित्त में प्रेम के संस्कार प्रबल होते है, उनका हृदय अविद्याग्रस्त संसार ताप पीड़ित जीवों का दुःख देखकर करूणा से विगलित हो जाता। आत्मौपम्य दृष्टि से दूसरों के सुख दुःख को अपना ही सुख दुःख का अनुभव करना जिनका स्वभाव होता है, समाधि अवस्था से व्युत्थान अवस्था में अवतरण करते जिनका अन्तःकरण जीवों के दुःख के सम्बन्ध मे सजग हो जाता है, एसे जीवप्रमिक महापुरुषगण तत्व साक्षात्कार के बाद ब्रह्मज्ञान और

ब्रह्मभाव लेकर फिर लोक समाज में प्रकट होते हैं, व्यावहारिक जगत् के साथ फिर व्यवहारिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं, लोगों को अपने पवित्र संगलाभ की सुविधा प्रदान करके अनुगृहित करते हैं, मानव समाज के सम्मुख दुःखदैन्यादिशून्य परिपूर्ण मानव चरित्र का आदर्श उपस्थापित करके परम कल्याण का मार्ग प्रदर्शन करते हैं। जीव प्रेम ही उनके व्यक्तित्व को धनीभूत किये रखता है, सम्पूर्ण रूप से ब्रह्म में विलीन नहीं होने देता। वे तत्वतः अपने को सर्वकर्मविमुक्त जानते हुए भी जीव हित के लिए कर्मक्षेत्र में उतर कर यथाविहित कर्म करते हैं, स्वयं सर्वक्लेश परिमुक्त होकर भी जीवों के क्लेशों को निर्विकार तथा सुप्रसन्न चित्त से अपने ऊपर लेने को तैयार रहते हैं, निज मन साम्य में प्रतिष्ठित होने पर भी जीव जगत् के व्यावहारिक वैचित्र्य को अंगीकार करके 'बहुजन हिताय बहुजन सुखायच' देश काल पात्रानुरूप व्यवहार करते हैं, तथा दूसरों को भी निज और परके कल्याण के लिए उसी प्रकार का व्यवहार करने की शिक्षा देते हैं। जीवहित ही उनके व्यावहारिक जीवन का नियामक होता है। उनको किसी विषय में अभिमान नहीं होता, किसी धर्म की सिद्धि या असिद्धि में किसी प्रकार का विकार नहीं होता, निन्दा-प्रशंसा या मान-अपमान का उनके चित्त पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, तथापि विषय से, कर्म से, निन्दा-प्रशंसादि के स्थल से वे दूर भाग भी नहीं जाते। जीव कल्याण के लिए ही उनका जीवन होता है। इसके लिए कभी-कभी सामाजिक तथा राष्ट्रीय कोलाहल में भाग लेने में आनाकानी भी नहीं करते।

मनुष्य को आत्मगौरव के सम्बन्ध में सजग तथा आत्मानुशीलन में प्रवृत्त करने के ही उद्देश्य से भगवद्विधानुसार मनुष्य समाज के भीतर ऐसे महापुरुष जीवन यापन करते हैं; और उनके समक्ष इस बात का प्रत्यक्ष दृष्टान्त दिखलाते हैं कि मनुष्य अपने ज्ञान, शक्ति, प्रेम आदि के यथोचित अनुशीलन द्वारा किस हद तक परिपूर्णता प्राप्त कर सकता है, संसार में रहते हुए मनुष्य कैसे सब प्रकार की

मलिनता, संकीर्णता, भय, दुःख आदि के द्वारा अस्पृष्ट होकर रह सकता है, सब प्रकार के कर्मो को करता हुआ भी किस प्रकार सर्वकर्मातीत और सर्व बन्धन विहीन होकर परिपूर्ण आनन्दमय राज्य में विचरण कर सकता है।

योगिराज गम्भीरनाथ इसी दूसरी श्रेणी के महापुरुष थे। वे सिद्धि प्राप्त करने के बाद नित्यनिरन्तर गुफावासी होकर चित्तवृत्त निरोध पूर्वक निस्तरंग ब्रह्मानन्द सम्भोग में डूबे रह सकते थे, किन्तु जीवप्रेम उन्हें गुफा से बाहर खींच लाया। वे संसार और समाधि के मध्यस्थल पर अवस्थित रहकर मानव समाज को ब्राह्मी स्थिति के आदर्श की शिक्षा देने के लिए प्रकट हुए थे। वे लोक संग और लौकिक व्यवहार का सम्पूर्ण रूप से परित्याग न करके आत्मसमाहित अवस्था में स्वप्राविष्टवत् व्यवहार करने लगे। यदि वेदान्त और योग शास्त्र की परिभाषा में कहा जाय तो वे अधिकांश समय पंचमभूमि पर अवस्थित रहकर ही सारा व्यवहार करते थे, कभी–कभी चतुर्थ भूमि पर भी उतर आते थे। षष्ठ और सप्तम भूमि पर तो व्यवहार सम्भव ही नहीं होता। जिस समय लोकसंग का अभाव रहता, उस समय चित्तवृत्ति निरोध पूर्वक षष्ट और सप्त्म भूमि पर आरूढ़ होकर विशेष आनन्द सम्भोग करते थे।

वन्मुक्त पुरुषों में स्वभाव भेद

जिनसे जीवन्मुक्त महापुरुष बाहर आकर लौकिक व्यवहार में प्रवृत्त होते है, उन सबका आचरण-एक ही प्रकार का नहीं दिखता। उनके व्यवहार में देखा जाता है कि कोई–कोई ज्ञान रसिक, कोई–कोई ध्यानरसिक, कोई कोई भावप्रवण, तथा कोई कोई कर्मप्रिय होते हैं। कोई कोई महात्मा प्रेम में विगलित होकर नृत्य, गीत हास्य और रुदन करते रहते हैं :–

'हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकवाह्यः ।'

कोई कोई महात्मा स्थितप्रज्ञ होकर भी जड़, उन्मत, पिशाच के समान विचरण करते हैं। कोई–कोई प्रशान्त गम्भीर महाकाश के समान स्थित रहते हैं। कोई–कोई विचारमार्ग का अवलम्बन करके शास्त्र और युक्ति की सहायता से जिज्ञासुओं को तत्वज्ञान का उपदेश करते हैं। कोई–कोई स्वतः प्रवृत्त होकर विचार शक्ति द्वारा विरुद्धमतावलम्बियों को परास्त करके अपने मत की प्रतिष्ठा करते हैं। कोई–कोई महापुरुष साध्यसाधन विषयक पुस्तकों की रचना करके तत्वज्ञान का प्रचार करते हैं। कोई कोई महापुरुष धर्मार्थियों का शिष्यरूप में स्वीकार करके उनको तथा उनके सिलसिले से समाज को धर्म तथा कल्याण के मार्ग पर प्रवृत्त करते हैं। कोई–कोई महात्मा लोक समाज के सम्पर्क में आकर भी सदा सर्वदा अन्तर्मुख तथा ध्यान परायण रहकर अपने इस परम कल्याणकारी आचरण द्वारा ही मानव जीवन के श्रेष्ठ कर्तव्य की शिक्षा प्रदान करते हैं। किसी–किसी के लोक शिक्षा का क्षेत्र बहुत विस्तृत होता है और कोई–कोई बहुत छोटे दायरे में ही लोक संग्रह कार्य करते हैं, किसी किसी महात्मा का स्वभाव बहुत रूखा देखा जाता है, वे जिनके ऊपर कृपा करते हैं, उनके प्रति भी अनेक समय रूखा व्यवहार करते हैं; अर्थात् किसी के मन पर किसी समय किसी भी प्रकार का आघात नहीं पहुँचाते। किसी के व्यवहार में कथंचित् राजस या तामस भावोचित कार्य भी लक्षित होते हैं और किसी का व्यवहार विशुद्ध सात्विक भाव से परिपूर्ण रहता है।

जिन महापुरुषों को शास्त्र में और लोक समाज में जीवन्मुक्त स्वीकार कर लिया गया है, जो अपनी आत्मा के ब्रह्मस्वरूप और सर्वात्मकत्व की साक्षात् उपलब्धि करके सब भेदों का अतिक्रम कर गए हैं, उनके व्यावहारिक जीवन में इतना पार्थक्य क्यों देखा जाता है, इस विषय में निश्चित उत्तर प्राप्त करना कठिन है।

संस्कार और प्रवृत्तियाँ

शास्त्रीय युक्तिप्रणाली का अनुसरण करके हम इस प्रकार के सिद्धान्त पर पहुँच सकते हैं कि ध्यान योग में आत्म समाहित होने के पूर्व जिस साधक के चित्त में जिस प्रकार के संस्कार प्रबल रहते हैं, तदनुसार ही जीवन्मुक्त अवस्था में उसके व्यवहारिक जीवन के भाव और वृत्तियाँ नियमित होती हैं, एवं जैसे सम्प्रदाय और मत के अनुसार साधन भजन करके वह सिद्धि प्राप्त करता है, सिद्धावस्था में उसके द्वारा उपदिष्ट तत्व एवं साधनाप्रणाली भी प्रायः तदनुयायी ही होता है। पूर्वजन्मों के कर्मजनित संस्कार और अदृष्ट एवं वर्तमान जीवन में देश, काल, जाति, वर्ण, समाज, सम्प्रदाय, शिक्षा, दीक्षा और अन्यान्य पारिपार्श्विक अवस्थाओं के प्रकारभेद से साधकों की रुचि, बुद्धि और अभ्यास विशेष–विशेष आकारों में गठित होते रहते हैं। तीव्र पुरुषकार के साथ अन्तरंग साधन में निमग्न हाने पर वे सब संकीर्ण रुचि, बुद्धि और संस्कार प्रसुप्त होकर अन्तःकरण में सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहते हैं, उनसे उनके तत्वसाक्षात्कार में किसी प्रकार की बाधा नहीं होती। उनकी तत्वान्वेषिणी बुद्धि इन सब अनात्मभावों को श्रवण, मनन, धारणा, ध्यान और समाधि के प्रभाव से अतिक्रमण करके परमात्मा का साक्षात्कार प्राप्त करती हैं। जब तक चित्त को नित्यनिरन्तर तत्व में निमग्न रक्खा जाता है, तबतक ये सब संस्कार और प्रवृत्तियाँ जगने तथा स्थूलरूप में प्रकट होने का अवसर नहीं पाती।

जो वैराग्यप्रधान साधक हैं, वे आत्मसमाधान में नियुक्त रहते रहते ही देह से विदाई ग्रहण कर लेते हैं, एवं ये सब विचित्र संस्कार उनके जीवन में प्रकट होने का कोई अवसर ही नहीं पाते। किन्तु प्रेमप्रधान साधकगण तत्वसाक्षात्कार के बाद जीवन्मुक्त अवस्था में निर्विकार भाव से जब संसार में विचरण करते हैं, तब बुद्धि साम्य में प्रतिष्ठित होने के कारण एवं तत्व दृष्टि से शुभाशुभ उनके लिए

समान होने के कारण, वे किसी वृत्तिविशेष के निग्रह के लिए अथवा किसी वृत्तिविशेष के अनुशीलन के लिए, किसी प्रकार के पुरुषकार का प्रयोग करना आवश्यक नहीं समझते।

जीवन्मुक्त के काम

साधारणतः उनका अन्तःकरण विशुद्ध होता है, इस कारण उसमें शुभ और सात्विक भाव ही उदित होते हैं एवं उनके कर्म भी तदनुरूप होते हैं। जीवप्रेमी लोकशिक्षक महापुरुषगण स्वयं शुभाशुभ के परे रहते हुए भी जागतिक व्यवहार में शुभकर्म का ही सम्पादन करते हैं। क्योंकि मनुष्य समाज के आदर्श बनकर जीवनयापन करने के लिए, एवं मानवमण्डली को मानवजीवन के उच्च आदर्श की शिक्षा प्रदान करने के लिए ही उनका प्रेमप्रधान हृदय उनको समाधिजात आनन्द के अत्युन्नत शिखर से लौकिक व्यवहार के समतल क्षेत्र पर उतार लाता है। तथापि प्रारब्ध के प्रभाव से किसी–किसी पूर्वसंचित अशुभ संस्कार का सुप्त अवस्था से जाग्रत अवस्था में आकर अशुभ कार्य रूप में परिणत हो जाना उनके व्यावहारिक जीवन में नितान्त ही असम्भव नहीं होता। किन्तु उससे उस मुक्तपुरुष को फिर संसारबन्धन नहीं प्राप्त होता, उसके अन्दर किसी प्रकार की वासना न रहने से वह कर्म और उसका फल उसे स्पर्श नहीं कर सकता,– "हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निवध्यते"– इस सम्पूर्ण विश्वब्रह्माण्ड को ध्वंस कर डालने पर भी, न वह कुछ ध्वंस ही करता है, न उस कर्म के फल से आबद्ध ही होता है। ऐसे कर्मो के फल भोग के लिए जीवन्मुक्त पुरुष को फिर जन्म नहीं ग्रहण करना पड़ता। इसी हेतु तत्वज्ञानी महापुरुषों के कर्मो को 'अशुक्लाकृष्ण' कहकर वर्णन किया जाता है,– अर्थात् वह शुक्ल अर्थात् पुण्यजनक नहीं होता और कृष्ण अर्थात् पापजनक भी नहीं होता। उनके कर्म का कर्मत्व ही नष्ट हो जाता है। वे कर्म करके अकर्मा रहते हैं। गीता के "कर्मण्यकर्म यः पश्येत्"– श्लोक

में श्रीभगवान् इसी प्रकार के अशुक्ला कृष्ण कर्म का ही इंगित किये हैं।

महापुरुषों के लक्षण

अतएव व्यावहारिक जीवन के पार्थक्यमात्र को ही देखकर महापुरुषों को ऊँचा–नीचा समझना तत्व दृष्टि सम्मत नहीं है, क्योंकि यह पार्थक्य केवल बाहर का होता है, भीतर का नहीं। तथापि भीतरी लक्षणों के साथ बाहरी व्यवहारों को देखकर यदि कोई महापुरुषों के सम्बन्ध में किसी प्रकार का विचार करना चाहे, तो वह इसी सिद्धान्त पर पहुँचेगा कि, जो सर्वदा सब अवस्थाओं में ब्रह्मभावभावित रहता है, जिसका प्रेम सर्वव्यापी होता है, जिसकी शक्ति असीम और पूर्णतया अपने वश में रहती है, एवं साथ–साथ जिसकी वृत्तियाँ सम्यक् सत्वगुणमयी होती हैं, आपामर साधारण सब जीवों के प्रति जिसका व्यवहार अतिशय मधुर और स्त्रीग्ध होता है, जिसके भाव सदा ही प्रशान्त और गम्भीर होते हैं, मत उदार असाम्प्रदायिक तथा सार्वजनीन होता है, अर्थात् जीवन्मुक्तों के जैसे लक्षण उपनिषद् गीता आदि ग्रन्थों में वर्णित है उन लक्षणों के साथ जिनकी वृत्तियों की पूर्ण समानता होती है, वे ही सर्वोच्च श्रेणी के महापुरुष हैं।

ऐसी दृष्टि से बाहरी वृत्तियों को देखकर विचार करने पर भी योगिराज गम्भीरनाथ के सर्वोच्च श्रेणी का महापुरुष कहना ही होगा। वे जैसे सभी अवस्थाओं में ब्रह्म में स्थित रहते थे, उनके भाव, आचार, व्यवहार, कार्य आदि भी बहुत उत्कृष्ट होते थे। वे सर्वदा सभी अवस्थाओं में प्रशान्त गम्भीर निर्मल महाकाश के समान विराजमान रहते थे। उनके बचन, व्यवहार और कार्य कभी किसी के लिए किसी प्रकार के उद्वेग के कारण हो ही नहीं सकते थे। वे सभी के प्रति समदर्शी थे तथा सभी के प्रति अत्यन्त मधुर व्यवहार

करते थे। प्रत्येक व्यक्ति को यही अनुभव होता था कि मेरे ऊपर कितना प्रेम है। जो लोग थोड़ा गौर के साथ समीक्षण करते थे वे ही समझ जाते थे कि उनके प्रेम में कोई तारतम्य न था। उनके एक विशिष्ट भक्त और सेवक को कई वर्षो तक लगातार उनके साथ रहने तथा सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वे कभी–कभी कहते थे 'मैं जो इतने वर्षों तक उनके साथ रहा, तो भी बाबा जी का जो भाव मेरे प्रति था, वही एक कुत्ते के प्रति भी था, कुछ भी विषमता न थी।''

व्यवहार

उनकी प्रेमपूर्ण दृष्टि से, वचन से और व्यवहार से सभी लोग विमोहित हो जाते थे। दूसरे प्राणी, यहाँ तक कि हिंस्रजन्तु भी, उनके प्रेम से तृप्त होकर उनके अनुगत बन जाते थे। तथापि उनके प्रेम में कोई तरंग न था, उनके आनन्द में किसी प्रकार का चान्चल्य न था। एक ओर जिस प्रकार किसी ने कभी भी उनके मुख पर विषाद या रूखे भाव का दर्शन नहीं किया, दूसरी ओर उसी प्रकार किसी ने उनको जोर से हंसते हुए भी नहीं सुना। हास्य, नृत्य, क्रन्दन या जोर से बोलना उनके स्वभाव के विपरीत था उनके आचरण में तेज और दृढ़ता का प्रकाश पूर्ण मात्रा में होता था; तो भी उस तेज में कोई गरमी न थी, दृढ़ता में कोई रूखापन न था, सभी में माधुर्य भरा था। उनकी मुखश्री में प्रेम, आनन्द, शान्ति, तेज, दृढ़ता अंगांगिभाव में विराजमान रहकर एक माधुर्य मण्डित मूर्ति ग्रहण करके प्रकाशमान होते थे।

उपदेश

वे बिना पूछे साधारणतः किसी को किसी प्रकार का तत्वोपदेश भी नहीं प्रदान करते थे। 'नापृष्टः कस्यचिद् ब्रुयात्'– यह नीति तो मानों उनके स्वभाव का अंग थी। किसी के मन में किसी

प्रकार की जिज्ञासा का उदय होने पर, एवं वाक्य द्वारा तदनुरूप प्रश्न करने पर वे सुन्दर सुस्पष्ट युक्ति–युक्त भाषा में थोड़े ही शब्दों में सुन्दर उत्तर देकर उसका संशय दूर कर देते थे। उनक निकट निरर्थक प्रश्न करने का कोई साहस ही न करता था, एवं करके भी उनका स्वभाविक मौन न भंग कर पाता था। यदि बिना समझे बार–बार कोई वैसा ही प्रश्न किया करता, तो धीर गम्भीर स्वर में कह देते, "यह व्यर्थ प्रश्न है।" उनके प्रत्येक उपदेश सूत्राकार में एक–एक सिद्धान्त वाक्य थे। एक–एक उपदेश वाक्य को लेकर जितना ही चिन्तन आलोचना की जाय उतना ही उसके भीतर से जीवन नियमन के उपयोगी अनेक तथ्यों का आविष्कार होता था। जब प्रश्न और उत्तर जटिल होते, तो बीच–बीच में गल्पों द्वारा उपदिष्ट विषय को साफ कर देते थे।

साधन जीवन की समाप्ति के बाद भी कई वर्षों तक वे किसी को शिष्यरूप में ग्रहण करने के लिए राजी न हुए थे। नारद परिब्राजक उपनिषद् में मुमुक्षुओं के लिए उपदेश दिया गया है,–

न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान् नैवाभ्यसेदहून्।

न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत् कचित्।।

बहुत शिष्य नहीं करना चाहिए, बहुत ग्रन्थों का अभ्यास भी नहीं करना चाहिए, न शास्त्रों की व्याख्या में ही पड़ना चाहिए, और न नये कर्म ही आरम्भ करना चाहिए। साधनावस्था में तो वे इस नियम का पूर्णमात्रा में प्रतिपालन करते ही थे। यही इस प्रकार उनका स्वभाव बन गया था, कि सिद्धावस्था में भी वे इसके विरुद्ध न चल पाते थे।

आचरण में वे सनातन धर्म के विधानानुसार चलते थे। विधि निषेध के अतीत अवस्था में विराजमान रहते हुए भी लोकदृष्टि

के सम्मुख–लौकिक व्यवहार के क्षेंत्र में–वे शास्त्रीय विधि निषेध के प्रति कभी उपेक्षा नहीं दिखलाते थे।

पद्मपत्रमिवाम्भसा

वे जब भी जहाँ भी जाय, जहाँ भी रहे, उनके भाव तथा वृत्ति में कोई परिवर्तन नहीं होता था। प्रायः सर्वदा ही स्थिर आसन से बैठे रहते थे, दृष्टि सदा ही अन्तर्निबद्ध रहती थी। जब विचरण करना, कोई कार्य करना या उपदेश देना होता, तब भी ऐसा ही जान पड़ता था कि मानों उसकी अधैसुप्त अवस्था में ये सब कार्य अपने आप ही सम्पन्न हो रहे हैं। वे परिवर्तीकाल में शिष्यों को उपदेश देते थे कि,– "क्या हुआ, क्या होता है, क्या होगा, कुछ होगा या नहीं– इन बातों का ख्याल मत करो, बाहरी कर्म और साध्‍ान भजन सब केवल कर्तव्य बुद्धि से सम्पादन करते रहो।" उनके निजी जीवन में यही भाव परिस्फुट था। बाहर के किसी प्रकार के अवस्था–परिवर्तन से उनकी आन्तरिक अवस्था में कोई परिवर्तन न होता था। सुख–दुःख में, जाड़ा गर्मी में, सिद्ध–असिद्धि में, हानि लाभ में, केवल उनके अन्तर भाव में ही कोई वैलक्षण्य न आता हो, ऐसी बात न थी, अपितु उनके मुख पर, आँखों में बातचीत में कार्यो में भी किसी प्रकार का भावान्तर न होता था। उनको जब जहाँ जिस अवस्था में देखा जाता, देखने से स्वतः यही बात मन में आती कि, वे मानों सर्वदा ही किसी ध्यानलोक में, किसी सुदूर चिर प्रशान्ति के राज्य में, निराविल आनन्द से बिहार कर रहे हैं, बीच–बीच में केवल इस लोक के आकर्षण से, प्रेम के खिचाव से जीव कल्याणाकांक्षा की प्रेरणा से, यहाँ अवतरण करके हम लोगों को अनुगृहीत कर जाते हैं। मालूम होता था मानो इस जगत् के साथ सम्बन्ध विहीन होकर सर्वदा सच्चिदानन्दसरोवर में राजहंस के समान स्वतन्त्र रूप से विचरण करते हैं, इस विश्व के प्राणहिल्लीन से उसकी प्राणवायु अपने आप धीरे–धीरे स्पन्दित होती है, तथा

जड़ के घात–प्रतिघात से उनकी देह कुछ क्रियाशील है।

उनकी बाहरी क्रियायें किस प्रकार सम्पादित होती थी, दो एक सामान्य दृष्टान्त से उसका कुछ आभास दिया जा सकता है। सन्यास ग्रहण के पहले से ही उन्हें धूम्रपान का आभास था। उनकी सिद्धावस्था में यह धूम्रपान एक दर्शनीय व्यापार हो गया था। वे अन्तर्निहितदृष्टि होकर निजभाव में मग्न हैं, सेवक उनकी आँखों को थोड़ी खुली देखकर चिलम तैयार करके उनके आसन के सम्मुख रख गया; आँखे अवश्य खुली हैं, किन्तु उन खुली आँखों में दृष्टि कहाँ ? दृष्टि तो आत्मनिबद्ध है। तम्बाकू की चिलम उनकी दृष्टि को खींच न सकी। चिलम मानो कुछ काल तक उनके स्पर्धानुग्रह की प्राप्ति की आशा से सतृष्णभाव से प्रतीक्षा करती रही। किन्तु उसकी आशा व्यर्थ हुई अन्त में हताश होकर वह ठंडी हो गई। सेवक को भी तृप्ति न मिली, वह समझता है उन्हें तम्बाकू न पिला सकना उसकी सेवा में त्रुटि है। उसने फिर चिलम भरकर तैयार किया और सब ठीक–ठाक करके उनके हाथ में पकड़ा दिया। अभ्यासवश हाथ में चिलम पकड़े हैं अवश्य, किन्तु जो तम्बाकू सेवन करता है वह कहाँ। हाथ और मुख की दूरी को जो मिटा दे, वह मन कहाँ ? उनके अन्तःकरण के कार्य हो रहे हैं या नहीं, इसमें सन्देह है; यदि होते भी तो इस दुनिया में नहीं। चिलम हाथ में है, आग फिर बुझ गई, उनको कुछ पता नहीं, वे नीरव निष्पन्दभाव में जैसे थे, वैसे ही बने रहे। सेवक हाथ से चिलम निकाल ले गये, इसका भी ख्याल नहीं। किन्तु उनको चिलम पिलाना ही होगा। सेवक ने फिर चिलम तैयार किया, किसी प्रकार उनकी दृष्टि का बाहर आकर्षण किया और चिलम उनके हाथ में दे दिया। उन्होंने सुप्तोत्थिय के समान एक बार उधर देखा, अर्द्धबाह्य अवस्था में हाथ मुख के निकट ले जाकर एक तम्बाकू खींचा। खींचकर ही फिर ध्यानस्थ। मुख के निकट हाथ में बँधी हुई चिलम में से कुछ–कुछ धूम्र निकलने लगा, किन्तु उनका तो सम्पूर्ण शरीर है स्थिर,

निष्पन्द। सेवक कुछ देर बाद चिलम ले गया। इसी प्रकार क्रमशः तीन–चार चिलम तम्बाकू देकर उनके बहुकाल संचित धूम्रपान के अभ्यास को कायम रखना पड़ता।

अशान्ति के बीच प्रशान्त

साधनावस्था के बाद वे जब जहाँ भी रहते, उनके साथ प्रायः अनेक साधु भी रहते थे। उनमें बहुधा बहिर्मुख पर छिद्रान्वेषी, कर्कशस्वभाव, कलहप्रिय, साधु वेश धारी लोग भी आ जाते थे। वे बीच–बीच में नाना प्रकार की बाहरी विषयों की आलोचना करते, अनावश्यक परचर्चा में समय नष्ट करते, तर्क–वितर्क में उन्मत्त होकर कभी–कभी कलह, मारपीट, यहाँ तक कि रक्तपात तक भी कर डालते थे। महापुरुष के संग के प्रभाव का अतिक्रम करके भी उनके स्वभाव की कलुषता प्रकट होती थी, बाबा गम्भीरनाथ इन अवस्थाओं के बीच में भी निर्विकार चित्त में 'यथा पूर्व तथा परं' ध्यानाविष्टभाव में विराजमान रहते थे। न किसी प्रकार की शक्ति को प्रकाशित करते थे, और उन लोगो का संग ही त्याग करते थे।

प्रबल प्रारब्ध बिना थोड़ा बहुत भोग किये, नष्ट नहीं होते; प्रबल चित्तवृत्तियाँ, थोड़ा बहुत कार्यरूप में प्रकट हुए बिना, शान्त नहीं होती; हृदय में जलने वाली अशुभ भावों की दावाग्नि बिना धूम्र और लपटों की उदगिरण किए तथा ध्वंसलीला की बिना थोड़ा बहुत पूर्ति किए, बुझती नहीं;– शायद इसी नीति को दृष्टि में रखकर ही वे उन लोगों के भीतर के तामसभाव को थोड़ी बहुत मात्रा में बाहर प्रकट होने देते थे; सम्भवतः इसके द्वारा परिणाम में उनका कल्याण ही होता रहा हो, तथा इसी के भीतर महापुरुष के संग का प्रभाव भी उनके ऊपर कार्य करता रहा हो। जो भी हो, कार्यतः यही देखा जाता था कि उनके निकट एक नितान्त अशोभन कार्य किया जा रहा है, तथापि वे उदासीन, नीरव, निष्पन्द जड़ के समान अवस्थित हैं। उन लोगों का तामस भाव कुछ बाहर निकल पड़ा है, तथा

स्वाभाविक नियमानुसार उनका चित्त भी कुछ शान्त हो चला है; तब प्रायः दोनों ही पक्ष मीमसां के लिए उस समीपवर्ती प्रशान्तमूर्ति मौनवान् ध्यानलोक बिहारी महापुरुष के शरणापन्न होते थे। जबतक क्रोध के आवेश में वे लोग अपनी अपनी बातें कहते रहते, तबतक वे उसी प्रकार समाहित भाव में स्थिर रहते, मुख पर आँखो में कोई भावान्तर नहीं, यह समझना भी कठिन था कि, कोई बात उनके कानों में घुसी है या नहीं। जब उनके सब बातों का बयान समाप्त हो जाता, और कहते–कहते उत्तेजना भी बहुत कुछ शान्त हो जाती, उस अनुपम गम्भीरमूर्ति के निकट हृदय स्वयं लज्जावनत हो जाता, तब वे कदाचित् एक बार बोल देते, "अच्छा नहीं" अथवा "साधु लोगों को ऐसा काम अच्छा नहीं" किंवा इसी प्रकार की एक आध बातें कहकर या इंगितमात्र से उनके विवाद विषयक मीमांसा का पथप्रदर्शन कर देते। उसके बाद ही फिर ध्यानस्थ हो जाते। ऐसे सामान्य इंगितमात्र से ही अधिकांश स्थलों में उन लोगों के कलह की मीमांसा हो जाती थी, एवं परस्पर का विद्वेषभाव नष्ट हो जाता था। अवस्थानुसार अपराधियों को दण्ड देने की व्यवस्था भी करते थे।

इस प्रकार समाधि और संसार के बीच में रहते हुए बाबा गम्भीरनाथ ने लौकिक जगत् में प्रेमपूर्ण व्यवहार चलाने का तथा जनसमाज को परिपूर्णता प्राप्ति के मार्ग पर साहाय्य करने का ब्रत धारण किया। इसके बाद उनका जीवन इसी प्रकार बीतने लगा।

दसम अध्याय

साधनोपरान्त सहज जीवन

साधनोपरान्त कपिलधारा में ही ब्रह्मानन्द में विभोर योगिराज गम्भीरनाथ प्रायः ९–१० वर्ष रहे। बीच–बीच में अपना आश्रम छोड़कर निकटवर्ती पहाड़ी गुफाओं में जाकर समाधिमग्न हो जाते थे। कभी किसी विशेष पुण्ययोगादि के उपलक्ष्य में शास्त्र और समाज कें प्रति श्रद्धाप्रदर्शनार्थ वे तीर्थयात्रा के निमित्त बाहर भी चले जाते थे। इसी समय में एक गुफा के अन्दर भक्तप्रवर विजयकृष्ण गोस्वामी ने उनका प्रथम बार दर्शन किया था। धर्माचार्य गोस्वामीजी के निकट उनके प्रकट होने की घटना में एक महान् कार्य का सूत्रपात्र हुआ जिसके फलस्वरूप उत्तरकाल में समाधिनिमज्जनशील योगीराजजी अपनी समाधि के अतल गर्भ से किसी हदतक बाहर निकल कर लोकशिक्षा के क्षेत्र में उतरे, और बंगदेश के अनेकों धर्मपिपासु नरनारी उनसे दीक्षा प्राप्ति का तथा उनके चरणों पर आत्मसमर्पण करने का सौभाग्य प्राप्त किये।

ब्रह्मनिष्ठ साधक विजयकृष्ण महायोगी गम्भीरनाथ की आध्यात्मिक महिमा की उपलब्धि करके उनके प्रति ऐकान्तिक भाव से आकृष्ट हुए, एवं बाबा गम्भीरनाथ भी ऐसे प्रेमी भक्त तथा उच्चधिकारी साधक के प्रति विशेष स्नेह करने लगे। तभी से गोस्वामी महाशय बाबाजी के पास प्रायः आने जाने लगे। उनका हृदय बाबाजी के प्रति इतना आकृष्ट हो गया था कि कभी–कभी तो गम्भीर अर्धरात्रि के समय गुप्तरूप से वे दौड़कर बाबाजी के पास पहुँच जाते थे और उनके संग का आनन्द लेते थे। दोनों के बीच एक गम्भीर प्रेम का सम्बन्ध प्रतिष्ठित हो गया था।

सद्‌गुरु की कृपा प्राप्त करके उच्चकोटि की साधना द्वारा सत्य के धाम में प्रवेश पाने के पूर्व ही गोस्वामी महाशय शिक्षित

बंगाली समाज में एक अति उन्नत साधक तथा धर्माचार्य रूप में सुपरिचित हो चुके थे। कितने ही सुशिक्षित तथा अर्धशिक्षित धर्मपिपासु व्यक्ति उनकी भक्ति और प्रेम को देखकर मुग्ध हो गये थे, तथा उनके उपदेश की गम्भीरता से आकृष्ट होकर उनसे धर्मोपदेश प्राप्त करने के लिये उनके पास आते थे। स्वयं सद्‌गुरु की कृपा प्राप्त करने के बाद उन्होंने कितने ही धार्मिक व्यक्तियों को दीक्षा प्रदान किया। वे अपने शिष्यों के समक्ष बाबा गम्भीरनाथजी की महिमा का कीर्तन किया करते थे, तथा उन्हें बाबाजी के संग का लाभ प्राप्त करने का उपदेश प्रदान करते थे। कितनों को स्वयं ही बाबाजी के पास कई बार ले गये थे। उनसे तथा उनके शिष्यों से ही बंगाली समाज को बाबा गम्भीरनाथजी का विशेष परिचय प्राप्त हुआ था। गोस्वामी महाशय ने अपने अनेकों शिष्यों से कहा था कि, "बाबा गम्भीरनाथ के समान कोई दूसरा महात्मा हिमालय के नीचे नहीं देखा जाता।" उनके एक विशिष्ट सेवक और शिष्य श्रद्धाभाजन श्रीयुत शारदाकान्त बन्धोपाध्याय महाशय ने अपने श्रद्धेय गुरुभ्रातओं तथा बाबाजी के कई शिष्यों से प्रत्येक के वैयक्तिक अनुभवों को एकत्रित करके बाबाजी के सम्बन्ध में एक छोटी सी पुस्तिका प्रकाशित किया था। उससे बाबाजी के गयानिवासकाल तथा उसके परिवर्ती काल के कुछ घटनाओं का पता मिलता है।

ज्ञातृत्वाभिमान

गोस्वामी महाशय के शिष्य श्रद्धेय श्रीयुत् नवकुमार विश्वास ने कहा था, "जिस समय आकाश गंगा पहाड़ पर मुझे गोसाईंजी से दीक्षा मिली थी, उसी समय एक दिन गोसाईंजी ने कहा था, चलो बाबा गम्भीरनाथजी का दर्शन कर आवें।" गोसाईंजी के साथ मैं और वर्धमान के बाबाजी स्वामी देवप्रतिपालक चले। आश्रम पर हम दोनों के पहुँचने का खबर पाकर बाबा गम्भीरनाथजी ने दर्शन

दिया। गोसाईंजी दो एक बातें करने के बाद बोले, 'बाबाजी, दया करके कुछ धर्मोपदेश दीजिए।'' बाबाजी ने कहा, 'मैं कुछ नहीं जानता, किन्तु जानता, किन्तु यदि इच्छा हो, तो मैं जो कुछ करता हूँ मेरे भजनगृह में जाकर देख सकते हो।' मैंने फिर अनुरोध किया, बाबा, कुछ धर्मोपदेश।' बाबाजी उत्तर दिया, 'हम सच कहते हैं, हम कुछ नहीं जानते।'*

केनोपनिषिद् में लिखा है–

'' यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्माणो रूपम्।

.... यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।।''

अर्थात् यदि समझते हो कि तुमने ब्रह्म को अच्छी तरह समझ लिया है, तो वस्तुतः उसका स्वरूप तुमने कम ही समझा। जो समझता है कि ब्रह्म ज्ञान का विषय नहीं होता, उसका जानना ही वस्तुतः ठीक है, एवं जो समझता है कि, 'मैं ब्रह्म को जानता हूँ' वह वस्तुतः कुछ भी नहीं जानता। कर्तृत्वाभिमान और भोक्तृत्वाभिमान की अपेक्षा भी ज्ञातृत्वाभिमान और सूक्ष्म है, उससे भी मुक्ति प्राप्त करना आवश्यक है, नहीं तो ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं होता। जब तक अहंकार विनष्ट नहीं होता, तब तक अवांगमनसगोचर और सर्वज्ञानाश्रय ब्रह्म उपलब्धिगोचर नहीं होता। ब्रह्मसमाहितचित्त अंहलेश शून्य योगिराज गम्भीरनाथजी ने, जान पड़ता है, उपनिषदुक्त इस भाव की अनुभूति से ही कहा था, 'हम सच कहते हैं, हम कुछ नहीं जानते।' उपदेश प्रार्थीगण सुशिक्षित (या शिक्षाभिमानी) बंगाली थे, उन लोगों ने धर्मशास्त्रों का अध्ययन तथा धर्मोपदेशकों से अनेक प्रकार के धर्मोपदेशों का श्रवण किया था, तथा स्वयं भी अनेक ध र्मोपदेश दे सकते थे। सुतराँ अन्य धर्मोपदेशों की अपेक्षा बाबाजी का यह विनयमण्डित वाक्य ही सम्भवतः उन लोगों के लिए अधिक शिक्षाप्रद हुआ हो, तत्वज्ञान का विकास होने पर भाव कैसा हो जाता

है, इस बात का परिचय पाकर सम्भवतः उनका ज्ञानाभिमानपूर्ण हो गया हो, इस बात को हृययंगम किया हो कि अभिमान का त्याग ही धर्म की बुनियाद है।

विश्वास महाशय ने और भी लिखा है कि, ''इसके बाद बाबाजी ने हममें से प्रत्येक को एक–एक 'बजरंग का रोट' (एक प्रकार का विशेष खाजा) तथा दस–बारह गुजराती इलायची खाने को दिये। हम लोग प्रसाद खाकर आश्रम को लौट आये। आश्रम लौटने पर गोस्वामीजी ने किसी समय मुझसे पूछा, देखो तो बाबा गम्भीरनाथजी ने जो इलायची दिया था, क्या उसमें से कुछ बचा हैं? मैंने कहा, 'नहीं है, सब खा गये।' गोसाईंजी बोले, 'महापुरुष का दान रक्खे रहना चाहिये ओर बीच–बीच में खाना चाहिये।''

जीवन्मुक्त का भजनरस

बाबाजी बहुत बढ़िया सितार बजाते थे। उन्होंने सन्यास लेने के पहले ही सितार बजाना सिखा था। सितार संगीत उन्हें अति प्रिय था। सहजावस्था में प्रायः ही साथ में एक सितार रहता था। कभी–कभी पर्यटन के समय भी साथ में एक सितार ले जाते थे। कपिलधारा में कभी–कभी गम्भीर रात्रि में सितार का मनोहर संगीत सुना जाता था। सितार पर सुर देकर वे तन्मय हो जाते थे। अंगुली अपने आप तार के ऊपर चलती रहती थी। उस सुर के भजन को जिसने सुना है, वही मुग्ध हो गया है। गोसाईंजी कहते थे कि, जब वे आकाशगंगा पर्वत पर थे उस समय कई बार गम्भीर रात्रि के समय बाबा गम्भीरनाथ के सितार की ध्वनि जैसे ही उनके कान में पड़ती त्योंही वे बेसुध होकर बाबाजी के निकट दौड़ जाते थे। गोसाईंजी के भक्त शिष्य विश्वास महाशय कहते थे, ' आकाशगंगा के आश्रम में हम लोग सो रहे हैं; सभी ओर निस्तब्ध, नीरव, उजाली रात है। बीच बीच में दो एक बार पर्वत शिखर पर से किसी के सितार बजा कर भजन करने की आवाज सुनाई पड़ती है।

गोसाईंजी आकर हम लोगों से कहते, "वह सुनो, बाबा गम्भीरनाथ कितना मधुर भजन कर रहें हैं।" किसी–किसी दिन भजन सुनकर वे अकेले ही अर्धरात्रि के समय वहाँ दौड़ जाते थे। फिर दो एक घण्टे के बाद लौटते थे। एक दिन गुरुजी ने कहा, 'बाबा बड़े प्रमी हैं और खूब शक्तिशाली महात्मा हैं, हिमालय के नीचे ऐसा दूसरा सन्त देखने को नहीं मिलता। पहाड़ पर कितने बाघ, सांप और हिंस्र जन्तु हैं; बाबा की शक्ति से मुग्ध होकर कोई उनका अनिष्ट नहीं करता। बाबा इसी सितार बजाते–बजाते पहाड़ के एक शिखर से दूसरे शिखर पर चले जाते थे।" *

गोस्वामीदेव के एक शिष्य श्रद्धास्पद मनोरंजन गुहठाकुरता महाशय ने लिखा है, "जन्तुपूर्ण गया के पर्वत पर कपिलधारा के शिखर पर बैठकर गम्भीरनाथजी गंभीर रात्रि में सितार बजाकर भजन करते थे; और आकाशगंगा के पहाड़ से गोसाईंजी अपने साथियों को छोड़कर वन जंगल, कांटा कंकड़ का परवाह न करते हुए उन्मत्त होकर दौड़ते हुए वहीं चले जाते थे। यह किसका प्रेम था। किसका आकर्षण था। ये लोग किस प्रेम में बंध गए थे ? इस बन्धन का सूत्र कहाँ था ? किस माली ने बीच में आकर दो हृदयों को इस प्रकार बांध दिया था ? इस पुण्य कहानी के सुनने से भी धर्म की प्राप्ति होती है क्षणभर के लिए हृदय विस्मित और स्तम्भित हो जाता है। पैसा नहीं, कौड़ी नहीं, मानमर्यादा या रक्तमांस का कोई सम्पर्क नहीं; किसी चीज का सम्पर्क मनुष्य को इतना उन्मत्त कर देता है ? जो भगवान् से प्रेम करता है, उसके लिए भक्त प्राणों का भी प्राण होगा ही; और जो भक्त से प्रेम नहीं करता, भगवान् के प्रति उसका प्रेम होना कभी सम्भव नही। यह जो दो भक्तों का आलिगंन, इसी के भीतर भगवान् का साक्षात् प्रकाश है।"* ब्रह्मज्ञान तथा योगैश्वर्य में सुप्रतिष्ठित जीवन्मुक्त महापुरुष का यह सुमधुर भजनास्वादन एक अपूर्व लीला विलास है।

चार महापुरुष

बाबाजी के कपिलधारा में निवास करते समय वहाँ से थोड़ी दूर पर बराबर पहाड़ के ऊपर नाथ सम्प्रदाय के और भी दो साध्‍क निवास करते थे। बाबाजी ने स्वयं कहा था कि, वे दोनों भाई थे तथा दोनों ही अवघड़ थे, एवं दोनों ही अध्यात्म राज्य में खूब उन्नत सोपान पर अधिरूढ़ हो चुके थे। बाबाजी की जीवितावस्था में ही उन दोनों का देहान्त हो गया था। बाबाजी के साथ उन लोगो का विशेष प्रेम था। वे लोग कभी–कभी कपिलधारा आकर बाबाजी से मिलते थे, एवं कभी–कभी बाबाजी भी बराबर पहाड़ पर जाकर उन लोगों से मिलते थे। धनिया पहाड़ पर महात्मा बाबा ठाकुरदास भी उन् लोगों से घनिष्ठ रूप से परिचित थे। वे नानकपन्थी उदासी सम्प्रदाय के सन्त थे। वे भी कई साल पूर्व देहत्याग कर चुके थे। ये चार महापुरुषज्ञ कभी–कभी एक गुफा में बैठकर समाधि में डूबे रहते थे।

संन्यास और सेवा का आदर्श

उनके लौकिक व्यवहार में कुछ नियम दिखाई पड़ते थे। वे व्यवहार के क्षेत्र में कभी भी योगैश्वर्य का परिचय न देते थे। जिस प्रकार की शक्ति और ज्ञान के प्रकाश को साधारण लोग अलौकिक समझते हैं, उसे वे मानो बड़े यत्नपूर्वक गुप्त रखते थे। सन्यास के आदर्श की शिक्षा देने के लिए वे किसी गृहस्थ के घर नहीं जाते थे। राजदर्शन एवं राजा या जमीदार के दानग्रहण से बचकर चलते थे। साधारण श्रद्धाभाव दरिद्र व्यक्तियों का ही सेवा वे आदर के साथ ग्रहण करते थे। आश्रम में रहते समय आश्रम के नियम पालन, अतिथिसेवा आदि कार्यो पर उनकी सुतीक्ष्ण दृष्टि रहती थी। इस विषय में वे गृहस्थों के भी आदर्श थे। आश्रम सम्बद्ध कोई कार्य आ जाने पर आश्रम में किसी अतिथि के आ जाने पर वे अपनी सहज

समाधि से व्युत्थित होकर सेवकों को प्रयोजनानुरूप आदेश देते थे। यह नहीं समझ में आता कि उन्हें कैसे पता चल जाताथा। वे अपने स्वाभाविक ध्यानस्थ अवस्था में अपने आसन पर विराजमान हैं, दोचार साधु भक्त उन्हें घेरे बैठें हैं; सहसा आखें थोड़ा खोलकर किसी को एक दो शब्दों में ही कोई निर्देश देकर फिर आत्मस्थ हो जाते थे।

गोस्वामी महाशय के शिष्य विशेष श्रद्धाभाजन श्रीयुत वरदाकान्त वन्द्योपाध्याय बी०एल० गया में वकालत करते थे एवं बाबाजी का संग करने के लिए प्रायः उनके निकट आते जाते थे। उन्होंने लिखा है,—"बाबाजी असीम शक्ति सम्पन्न थे। उनके पास पर्याप्त योगैश्वर्य रहने पर भी उसे बिल्कुल प्रकट न होने देते थे। अपने को बहुत ही छिपाकर रखते थे। उनका चाल देखकर कोई सोच भी न सकता था कि वे इतने बड़े योगैश्वर्यशाली महापुरुष थे।"

निरभिमान और निष्काम सेवा

एक बार किसी एक गृहस्थ शिष्य और भक्त ने पर्याप्त अर्थ व्यय द्वारा तथा शारीरिक और मानसिक तत्परता के साथ उनकी सेवा की। उसने कई वर्षों से सुन रक्खा था कि गुरुदेव अपरिमित योगैश्वर्य सम्पन्न हैं, तथापि साधारणतः योगैश्वर्य का जो तात्पर्य समझा जाता है उसका परिचय तो गुरुदेव ने न उसी को कभी दिया न दूसरे ही किसी को। उसके मन में इस बात की तीव्र आकांक्षा उत्पन्न हुई कि गुरुदेव का कुछ योगैश्वर्य देखा जाय। एक दिन अवसर देखकर उसने गुरुदेव से बड़े विनम्र भाव से पर सन्तानोचित जिद के साथ अपनी प्रार्थना सुनाई। बाबाजी शिष्य का मानसिक भाव समझ गये और उसके प्रार्थना के उत्तर में मृदुगम्भीर स्वर में केवल एक आख्यायिका सुना दिये। योगिगुरु गोरखनाथ

जब योगसाधना में निमग्न थे, उस समय एक ब्राह्मण उनकी सेवा में तत्पर हो गया और कई वर्षो तक उनको खीर खिलाता रहा। गोरक्षनाथजी ब्राह्मण की सेवा से अत्यन्त प्रसन्न थे। उस ब्राह्मण के मन में एक वासना उत्पन्न हुई कि नाथजी के किसी योगैश्वर्य का दर्शन करूँ। नाथजी को अपनी सेवा से प्रसन्न जानकर उसने एक दिन अपने कौतूहलवश अपनी मानसिक प्रार्थना प्रकट कर दी। योगिगुरु सेवकवत्सल गोरक्षनाथजी सेवक के अभिमान को चूर्ण करके उसे सेवापराध से मुक्त करने के लिए प्रथम दिन से जितनी खीर खाये थे, वह वमन करके दूध और चावल अलग–अलग रख दिये। कहानी सुनते–सुनते शिष्य गुरुदेव के गुप्त तो भी तीखे फटकार को तथा शिक्षा को समझ कर आत्मग्लानि और लज्जा से मरने लगा। अब उसको यह बात समझ में आई कि सेवा करके उसके बदले में किसी वस्तु की चाह करना कितना भयंकर अपराध ा है। यद्यपि सेवा के बदले में कुछ प्राप्त करने की बात एक क्षण के लिए भी उसके मन में कभी न उत्पन्न हुई थी, न इस भाव से ही उसने प्रार्थना की थी कि सेवा के नाते मुझे ऐसा हक है, तथापि प्रच्छन्नरूप से उसके मन के अन्तराल में ऐसे अभिमान का वर्तमान रहना असम्भव न था। गुरुदेव के समक्ष अपने मनोभाव को प्रकट करके वह गुरुदेव के चरणों में गिर पड़ा और रोते हुए उनसे क्षमा माँगने लगा। बाबाजी ने निश्चय ही उसे पहले से ही क्षमा कर दिया था, केवल शिष्य को शिक्षा देने के लिए ही उन्होंने इस उपदेशपूर्ण आख्यायिका का वर्णन किया था। इसके बाद दो एक स्नेहभरे मधुर वाक्यों द्वारा शिष्य को सान्त्वना देते हुए बोले,– तुमने अवश्य ही जानबूझ कर सेवा के बदले में अथवा सेवाजनित विशेष अधिकार के अभिमान यह प्रार्थना नहीं की है; तथापि भविष्य में भी कभी ऐसी बुद्धि न हो, इसलिए सावधान करना पड़ा; मन में योगैश्वर्य देखने की वासना रखना भी उचित नहीं।'

महापुरुषों के न चाहने पर भी कुछ योगैश्वर्य क़ा प्रकट हो जाना स्वाभाविक है

श्रद्धेय बरदा बाबू ने लिखा है, "एक दिन मेरी बड़ी इच्छा हुई कि उनका सितार बजाना सुनूं, सबेरे उठकर उनके निकट गया, देखता हूँ, वे चारपाई पर बैठे और एक सितार मंगाकर बजाने लगे। अत्यन्त निपुण वादक के समान उन्होंने इतना सुन्दर सितार बजाया कि मैं तो मुग्ध और आश्चर्यचकित हो गया। उन्होंने मेरे मन की बात समझकर मेरी वासना को पूर्ण किया, इसके लिए कृतज्ञता के साथ उनको प्रणाम करके घर लौट आया। इस प्रसंग में और भी एक दिन की एक घटना का वर्णन करता हूँ। मैंने सुना था कि बाबा चाय बहुत बढ़िया बनाते हैं। एक दिन बड़े तड़के चाय पीने की इच्छा से जाकर बाबाजी के निकट बैठ गया, किन्तु किसी से कुछ भी न कहा। आश्रम में चाय नहीं बनती थी किन्तु मेरे बैठने के बाद ही बाबाजी ने पानी गरम करके चाय तैयार करने की आज्ञा दिया, और तैयार हो जाने बाद एक सेवक से बोले,– बाबू को ला दों'। सेवक जब पीतल के ग्लास में चाय लाया बाबजी ने कहा, 'नहीं ले जाओ, पत्थर के ग्लास में लाओं'। इस बात को मैने इसलिए कहा कि इससे इस बात की शिक्षा मिलती है कि महापुरुषगण किस प्रकार अत्यन्त साधारण गृहस्थों की भी मर्यादा की कैसे रक्षा करते हैं। यह आचार दर्शनीय और अनुकरणीय है। चाय पीने के बाद उन्होंने सेवक द्वारा सफाई करवा दी, मुझे हाथ धोने के लिए भी उठने न दिया।"*

अतिथि सेवा भक्ताकांक्षापूरण आदि के उपलक्ष में इस प्रकार छोटे–छोटे कार्य कई लोगो ने देखा था। किन्तु एंसे सभी कार्य वे ऐसी स्वाभाविकता के साथ सम्पन्न करते थे कि यह बात मन में भी न आती थी कि वे इच्छापूर्वक योगशक्ति का लेशमात्र भी प्रयोग कर रहें हैं। कोई एक उच्चकुलसम्भूत और उच्चशिक्षित विशिष्ट व्यक्ति

जब किसी कल्याणकारी उद्देश्य की सिद्धि के लिए अपना परिचय छिपाकर निम्न जातियों के अशिक्षित ग्रामीणों के साथ घनिष्ट मित्रता स्थापन करके समानरूप से हिलमिल जाने की चेष्टा करता है, तब यद्यपि स्वेच्छा से तथा विचारपूर्वक उन्हीं लोगों के समान सहज सरल ग्राम्य भाषा में बातचीत तथा ग्राम्यरीति में ही आचार–व्यवहार करने की चेष्टा करता है, तथापि जिस प्रकार बीच–बीच में उसके आलाप आलोचना और आचार–व्यवहार के बीच अलक्षित तथा अनिच्छा से ही उसके उच्चवंश और उच्च शिक्षा के अनुकूल सुसंसकृत भाषा और भाव अपने आप प्रकट हो जाते हैं, एवं जिस प्रकार ऐसी अवस्था में अपने वास्तविक स्वरूप के प्रकट हो जाने से यह आशंका होती है कि कहीं वे बेचारे दूर न हट जायँ, और तब वह समयानुरूप बात–चीत तथा कार्यकलाप द्वारा उसे फिर छिपा लेने का यत्न करता है; उसी प्रकार एक सर्वदर्शी, सत्यसंकल्प, योगैश्वर्यसम्पन्न, ब्रह्मलोकबिहारी महापुरुष जब साध ाारण अविद्याग्रस्त स्थूलबुद्धि मनुष्यों के प्रति प्रेम और करुणा से विगलित होकर, उनको कल्याण के मार्ग पर परिचालित करने के उद्देश्य से उनके साथ समान व्यवहार क्षेत्र में उतर आते हैं, तब वे अपना सर्वदर्शित्व, सत्यसंकल्पत्व आदि गुण और शक्तियों का यद्यपि पूर्णतया छिपाये ही रहते हैं, तथापि कभी–कभी उनके बात–चीत तथा कार्यकलापों में अनजान में और अनिच्छा से इन विभूतियों के साधारण आभास अपने आप ही प्रकट हो जाते हैं, एवं इसे देखकर जब लोगों के मन में कुतूहल उत्पन्न हो जाता है और वे लोग पूछताछ करने लगते हैं, तब इस भय से कि ये लोग मुझे देवता के आसन पर बैठाकर स्वयं दूर न हट जायँ और पुरुषार्थ से भ्रष्ट न हो जायँ, वह उनके समझने लायक भाषा और भाव द्वारा समझाकर फिर छिपा लेता है। श्री श्री योगिराज गम्भीरनाथजी का व्यावहारिक जीवन देखकर साधारण दृष्टि से ऐसा ही अनुमान होता था।

आदर्श संन्यासी

आदर्श संन्यासी बाबा गम्भीरनाथ संसारी लोगों के घर जाना कभी भी पसन्द न करते थे, इस बात का पहिले जिक्र हो चुका है। उनका अनुचर भक्त सेवक माधोलाल जिसने उनके लिये योग गुफा बनवा दिया था और सब प्रकार से उनकी सेवा करता था– उनको केवल एक बार के लिए अपने घर ले जाने की कितनी चेष्ठा की थी। किन्तु उनके निवास स्थान पर जाने के लिए वे किसी प्रकार राजी न हुए। उनके बगीचे में कभी–कभी दो एक दिन के लिए गये थे। जब वे कलकत्ता गये थे उस समय उनके किसी–किसी शिष्य और भक्त ने यह प्रार्थना की थी कि वे अपने पदार्पण द्वारा उनके घरों को पवित्र तथा उनको कृतार्थ कर दें। परन्तु दया और प्रेम के अवतार होने पर भी उन्होंने किसी की यह प्रार्थना पूरी न की।

वे तीर्थ भ्रमण के उपलक्ष में एक बार उदयपुर गये। उनके साथ ८–१० साधु थे। वहाँ एक निर्जन मैदान में धूनी जलाकर कई दिन तक वे रहे थे। साधुओं से सुनने में आया कि उस समय वहाँ एक विचित्र घटना घटी थी। वहाँ एक दिन बड़े जोर की वर्षा हुई और कितने ही स्थान जल में डूब गये। परन्तु जिस स्थान पर वे अपने साथी साधुगणों के साथ ठहरे थे वहाँ वृष्टि न हुई। वहाँ के लोगों ने इसको उनके अलौकिक प्रभाव का ही चमत्कार माना। क्रमशः लोगो में यह बात फैलने लगी कि एक असाधारण शक्तिसम्पन्न महापुरुष कुछ संगी साधुओं के साथ मैदान में निवास करते हैं तथा उनकी शक्ति से असम्भव भी सम्भव हो जाता है। कितने लोग दर्शन के लिए आने लगे। उदयपुर के राजा के पास यह संवाद पहुँचा। भक्तिवश हो, किसी कौतूहलवश हो, किंम्बा स्वार्थपूर्ति की भावना से ही हो, राजा भी उनके दर्शन की अभिलाषा करने लगे। उनको राजा के महल में ले जाने की कितनी ही चेष्टा की गई, किन्तु सब

व्यर्थ हुई। वे अपने स्वाभाविक समाहित भाव में बैठे रहे। उनकी तेजोमण्डित आकृति और अलौकिक अदृष्टपूर्व नित्ययुक्त ब्रह्मसमाहित भाव को देखकर उनके प्रति सब लोगों की श्रद्धाभक्ति बहुत बढ़ गई। राजा इन बातों को सुनकर स्वयं ही साधु के उपयोगी बहुत सा उपहार लेकर महापुरुष के दर्शन के लिए चले। निष्किन्चन के लिए राजदर्शन विहित नहीं हैं, इसीलिए संन्यास के आदर्श को अक्षुण्य रखने के विचार से आसन उठाकर प्रस्थान कर दिये। सुना जाता है कि जब उन्होंने काश्मीर की यात्रा की थी, उस समय एक बार काश्मीरनरेश का दर्शन भी इसी प्रकार वर्जन किया था।

एक मात्र गृहस्थ के घर गमन

योगिराज गम्भीरनाथ केवल एक बार अपनी इच्छा से एक गृहस्थ के घर पदार्पण किये थे एवं कुछ ऐश्वर्य भी प्रकट किये थे। गया में उनके प्रथम निष्काम सेवक अक्कू की बात पहले लिखी गई है। अक्कू तथा उसका सारा परिवार केवल साधुसेवा द्वारा अपने जीवन को धन्य करने की लालसा के हृदय से बाबाजी की सेवा करता रहा। उन लोगों के पास किसी प्रकार की सम्पत्ति न थी। समस्त परिवार का भरण–पोषण केवल अक्कू ओर मुन्नी दोनों भाईयों के मजदूरी पर निर्भर था। यह अक्कू एक बार मृतप्राय हो गया। जीवन के सभी लक्षण पूर्णतया लुप्त हो गये और उसके शव को श्मशान ले जाने का आयोजन होने लगा। किन्तु जिसकी सेवा में उसने अपना सम्पूर्ण जीवन लगा दिया था, उसको श्मशान यात्रा के पूर्व बिना एक बार खबर दिये, उसे संसार से बिदाई कैसे दिया जा सकता था। शोक में डूबा हुआ मुन्नी बेचारा दौड़ता हुआ बाबाजी के पास गया, अक्कू के मृत्यु की संवाद निवेदन कर उनके चरणों पर लेटकर आर्तनाद करने लगा, एवं कातर प्राणों से कृपा करने की प्रार्थना करने लगा। सेवक परिवार के इस घोर संकट के

समय निर्विकार महापुरुष निश्चल न रह सका। शव की श्मशान यात्रा करके मुन्नी को घर लौटा दिया एवं स्वयं भी थोड़ी देर बाद जाकर अक्कू के घर पर उपस्थित हुए। अक्कू के शव के निकट जाकर उसका स्पर्श किया एवं मुख में थोड़ा सा जल डाल दिये– अक्कू के भीतर चेतना आ गई। इसके बाद अक्कू के लिए खिचड़ी लाने की व्यवस्था करके वे अपने आश्रम पर लौट आये; तुरन्त ही अक्कू स्वस्थ हो गया। भक्त सेवक के प्रति कृतज्ञता और करुणा से आलुप्त होकर उन्होंने अपने व्यावहारिक जीवन के दो विशेष नियमों का उल्लंघन किया। वे जैसे अपने को अक्कू परिवार के निकट अपरिशोध्य ऋृणजाल में आबद्ध समझते थे। उनके परिवर्ती के जीवन में सर्वदा इस कृतज्ञता के निदर्शन मिलते रहे। बाबाजी के जीवनकाल में ही अक्कू की मृत्यु हो गई थी। गोरखपुर मन्दिर के उत्तरदायित्व के ग्रहण करने के बाद से ही वे जीवनभर अक्कू के पुत्र नन्हू को दस रूपया(१०) वार्षिक देते थे, वस्त्र और कम्बल आदि देते थे, गोरखपुर आने जाने का खर्घ देते थे, एवं और भी कितनी सहायता करते थे। अतिथि सेवा, आश्रम के नियमों का पालन, उपकारी का प्रत्युपकार आदि विषयों में गृहस्थों के आदर्श थे। यद्यपि उनके व्यवहारिक जीवन में घटनाओं की अधिकता न थी, तथापि उतने में ही अपने व्यवहारों द्वारा वे गृहस्थ और संन्यास आश्रमों के सभी लक्षणों श्रेणियों के मनुष्यों के लिए आदर्श छोड़ गये हैं।

दुष्टों के साथ व्यवहार

गया के पहाड़ पर जब लोगों का समागम होने लगा तो कभी–कभी चोरों तथा दुष्टों का उपद्रव भी हुआ करता था। इस विषय में हम दो घटनायें सुने हैं। बाबा गोकुलनाथ जी कहते थे कि, एक दिन अर्धरात्रि के समय दुष्टों का एक दल आकर आश्रम के ऊपर पत्थर फेंकने लगा। उस समय गोकुलनाथजी वहाँ उपस्थित

थे एवं कुटिया के बाहर कम्बल ओढ़कर सो रहे थे। उनके ऊपर एक ढेला पड़ा और वे चिल्लाकर उठ पड़े। आवाज सुनकर बाबा नृपत्नाथ बाहर निकले। योगिराजजी भी शोर सुनकर आसन छोड़कर बाहर निकल आये। हालत देखकर सर्वजीव प्रेमी निर्विकार महापुरुष दुर्वृत्तों के निकट जा पहुँचा और बोला,– 'तुम पत्थर क्यों फेंक रहे हो ? यहाँ जो कुछ है, इच्छा हो तो ले जा सकते हो।' गुरुजी की आज्ञा पाकर सेवक नृपत्नाथ ने आश्रम की कुटिया खोल दी। चोर लोग विस्मित होकर, वहाँ साधारण बर्तन, कपड़ा, चावल, दाल, कम्बल आदि जो कुछ था, लेकर चलने लगे। जाते समय उन लोगों ने उस करुणामय महापुरुष को प्रणाम किया तथा आशीर्वाद माँगा। बाबा गम्भीरनाथ ने करुणा भरे शब्दों में कहा, "जब तुम्हें कमी होगी तो १०–१० दिन के बाद फिर यहाँ आ जाना, आज जो मिला उस समय भी वही मिलेगा, लोगों के ऊपर व्यर्थ उपद्रव मत करना।" दुर्वृत्तगण ऐसा करुणापूर्ण व्यवहार और उपदेश पाकर लज्जा से मस्तक झुकाये हुए सामग्री लेकर चले गये। दूसरे दिन माधोलाल आकर फिर सब कपड़ा–लत्ता, चावल, दाल, लोटा, कम्बल आदि खरीदकर ले आया। तभी से वे लोग शान्त स्वभाव धारण करके कभी–कभी आश्रम पर आते थे, एवं दया के आधार गम्भीरनाथ भी उनको अभावग्रस्त देकर तथा सम्भवतः उनके चरित्र के ऊपर साधुता का प्रभाव डालने के उद्देश्य से अपने आश्रम से उनकी आवश्यकता की चीजें दे दिया करते थे। माध ोलाला फिर नया बन्दोबस्त कर देता था। इस प्रकार माधोलाल का पैसा खर्च होते देखकर एक दिन बाबाजी ने गया परित्याग का विचार किया। महापुरुष सेवक माधोलाल इस परीक्षा में सहज ही उत्तीर्ण हो गया। उसने कहा, "बाबाजी, ये गरीब बेचारे कितना लेंगे।"

चोरों की सेवा

एक दिन बाबाजी के आश्रम के निकट चोर आया। उस समय उनके साथ कई आगन्तुक साधु भी थे। उस समय चारों की आशा पूर्ण करने लायक कोई वस्तु बाबाजी के पास न थी। उन्होंने अपना एक मात्र काला कम्बल उन्हें देकर कहा, तुम लोगो के काम में आने वाली और कोई वस्तु तो मेरे पास है नहीं यही कम्बल ले जाओ। चोरों ने कुछ सोच विचार कर महापुरुष का कम्बल लेना पसन्द न किया। वे लोग अपनी यात्रा को निष्फल समझकर जब लौट गये, उसी समय एक साधु बोल पड़ा कि सौभाग्य से मेरा रूपया बच गया। सुनते ही बाबाजी ने आदेश दिया, "अभी दौड़कर चोरों को रूपया दे आओ।" साधुगण उनकी आज्ञा अमान्य करने में असमर्थ होकर अगत्या चोरों के निकट जाकर रूपया दे दिया। चोर भी इस प्रकार रूपया पाकर चकित होकर चले गये।

पागल की सेवा

बाबा शुद्धनाथ के मुह से सुना है कि गया में शुन्नूलाल झाड़ी वाला नामक एक ग्याली पागल था। वह गया में सभी जगह रास्ता, घाट, पहाड़ों पर दौड़–दौड़ कर पागलपना किया करता था और लोगों के ऊपर अत्याचार किया करता था। कितनी बार कपिलधारा आदि स्थानों पर जाकर साधुओं के ऊपर उपद्रव करता था उसके ऊपर बाबाजी की कृपा दृष्टि पड़ी। वह एक दिन आश्रम में आया और साधुओं के ऊपर अत्याचार करने लगा। बाबाजी ने उसको पकड़कर दोनो गालों पर जोर से दो तमाचे लगाये। उसका पागलपना न केवल उस एक दिन के लिए निवृत्त हुआ, बल्कि वह बिलकुल अच्छा हो गया; उसके उन्माद रोग की ही निवृत्ति हो गई। उसके बाद कई वर्षो तक वह स्वस्थ रहा, अपने गद्दी का कामकाज करता रहा, और अन्त में देहत्याग किया।

हिंस्र पशुओं पर प्रभाव

शुद्धनाथजी से तथा और दूसरे साधुओं और सज्जनों से मालूम हुआ है कि बाबाजी जब कपिलधारा में निवास करते थे, उस समय एक बाघ कभी–कभी उनके पास आता था तथा कुछ देर तक उसके पास बैठकर उनकी प्रदीक्षणा करके चला जाता था। साधारणतः वह ऐसे ही समय आता था जब वहाँ कोई न हो। एक दिन उनके पास कई सज्जन बैठे थे और कई साधु उपस्थित थे। उसी समय बाघ आकर उपस्थित हुआ। उसको देखकर सभी लोग स्वभावतः ही घबड़ा उठे तथा भय चकित और हतबुद्धि होकर भागने को उद्यत हो गये। बाबाजी ने प्रशान्तभाव से हाथ उठाकर उन लोगों को रोक दिया एवं अपने स्वभाविक मृदुगम्भीर स्वर में बोले, "ये एक सन्त हैं, बाघ के वेष में आये हैं, किसी का कोई अनिष्ठ नहीं करेंगे, कोई डर नहीं है आप लोग बिलकुल स्थिर होकर बैठे रहें।" सभी लोग चमत्कृत होकर बैठे रहे। बाघ भी निकट ही बैठ गया, कुछ देर तक प्रशान्तभाव से बाबाजी की ओर स्थिर नेत्रों से ताकता रहा, और दर्शन करके धीरे–धीरे चला गया। इसके अतिरिक्त और समय भी बाबाजी के पास बाघ बैठा हुआ देखा गया था, और यही जान पड़ता था कि बाबाजी बाघ पालते हैं। गोरखपुर में भी मन्दिर के चिड़ियाखाने में एक बाघ था, एवं जान पड़ता था वह बाबाजी का पाला हुआ था उसके आहार आदि की उचित व्यवस्था थी। कभी–कभी वह पिंजड़े से निकल कर बाहर आ जाता था। तुरन्त बाबाजी को खबर दी जाती, वे बाघ के पास जाकर मृदु शब्दों में कहते कि तुम्हारे बाहर निकलने से साधुगण डर के मारे भागने लगते हैं, तुम अपने स्थान पर जाओ, कोई उपद्रव न करो। ऐसा कहते–कहते बाघ का कान पकड़ कर फिर पिंजड़े में घुसा देते थे, बाघ भी मस्तक झुकाकर उनकी आज्ञा का पालन करता था। यह बात बड़े आश्चर्य की ही है कि बाबाजी के महासमाधि के

मुहूर्त पर ही बाघ ने भी देहत्याग कर दिया।

अंहिसा प्रतिष्ठा

योगिराज गम्भीरनाथजी प्रेम और अहिंसा की उच्चभूमि पर प्रतिष्ठित थे, इसलिए सभी हिंस्र जन्तु उनके निकट अपना हिंस्रभाव त्याग देते थे, एवं उनके प्रेम से सभी उनके वश में हो जाते थे। रेशम का वस्त्र तैयार करने में अनेकों कीड़ों की हत्या होती है, इसीलिए उन्हें रेशमी वस्त्र पहनना पसन्द न था, तो भी लोग उन्हें रेशमी वस्त्र उपहार देते थे, तो वे इस विचार से वापस न करते थे कि कहीं भक्त के हृदय पर चोट न लगे, इसीलिए अपने न व्यवहार करने का कारण भी न बतलाते थे। गोरखपुर में एक दिन बातचीत के प्रसंग में उन्होंने अपने एकान्तिक सेवक और शिष्य श्रीयुत् बरदाकान्त बसु से इस कारण को व्यक्त किया था। जब उन्हें इस बात का पता मिलता कि कुटी के निकट सांप रहता है तो उसके लिए दूध रख देते थे। कभी–कभी चूहों को अपने हाथ से रोटी खिलाते थे। सब जीवों में ब्रह्म का दर्शन करने वाला यह महापुरुष व्यवहारिक जीवन में भी सब प्रकार के जीवों की सेवा करते थे। परन्तु यह सब वे इस प्रकार करते थे किसी को इसमें किसी प्रकार की असाधारणता का अन्दाज भी न लगता था। यह उनका सहज जीवन था।

एकादस अध्याय

तीर्थ पर्यटन

पर्यटन साधकों के साधन का एक अंग है, इसी कारण बाबा गम्भीरनाथ ने अपनी साधनावस्था में अनेकों स्थानों का पर्यटन किया था, इसका वर्णन पहले हो चुका है। सिद्धावस्था में भी प्रंम प्रधान महापुरुषगण बिना प्रयोजन अथवा लोककल्याण रूप प्रयोजन से नाना स्थानों पर विचरण करके तीर्थो का महात्म्य बढ़ाते हैं, लोगों को मानव जीवन का आदर्श दिखलाते हैं, एवं नाना प्रकार से जीवों का कल्याण करते हैं। वे लोग,–

"तीर्थोकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृदा।" नित्यपुक्त योगी बाबा गम्भीरनाथ भी बहुत तीर्थो में गमन करके अपनी आध्यात्मिक शक्ति के प्रभाव से उनके तीर्थत्व की वृद्धि करते थे। उनका चित्र नित्यनिरन्तर ब्रह्म में समाहित रहता था। वे जहाँ भी जाते थे, उनके भीतर से आध्यात्मिक किरण विकीर्ण होकर समस्त वायुमण्डल को ब्रह्मभाव से भावित कर देते थे। वे जिस तीर्थ में गये थे उन सबका समय निर्देशपुर्वक धारावाहिक तालिका देना सम्भव नहीं। वार्तालाप के सिलसिले में विभिन्न साधुओं से जिस–जिस तीर्थयात्रा का विवरण प्राप्त हुआ है, उन्हीं के सम्बन्ध में यत्किचित उल्लेख किया जा सकता है। सिद्धावस्था में जहाँ–जहाँ वे आते जाते थे, तहाँ ही उनके साथ प्रायः साधुओं का एक जमायत रहता था। कभी–कभी ८–१० कभी–कभी २०–२५ और कभी कभी १००–१५० तक साधु उनके साथ होते थे। उनके आश्रय में रहने से उन साधुओं को आहार आवास की कोई विशेष असुविधा न होती थी।

उनके नर्मदा परिक्रमा एवं उदयपुर और काश्मीर यात्रा का उल्लेख पहले किया जा चुका है। वे विशेष स्नान आदि योग पर

कुरुक्षेत्र, पुष्कर, काशी, गंगासागर आदि तीर्थों की यात्रा करते थे। उन्होंने बद्री, केदार, द्वारका, रामेश्वर ओर पुरी इन चारों धामों का पर्यटन किया था। हिन्दुओं के लिए जैसे चार धाम प्रसिद्ध तीर्थ है, उसी प्रकार चार प्रसिद्ध सरोवर भी है; – नारायण सरोवर, रावल सरोवर,- मानस सरोवर और पम्पा सरोवर। नारायण सरोवर कच्छ देश में है। रावल सरोवर उत्तराखण्ड पार्वत्य प्रदेश में, ज्वालामुख तीर्थ से ६४ मील पूर्व है यहाँ जल में दिखाई पड़ने वाले पर्वतखण्ड के ऊपर शिवमन्दिर विद्यमान है। पम्पा सरोवर दक्षिणात्य में है। मानस सरोवर की बात तो सभी लोग जानते हैं। बाबा गम्भीरनाथ इन चारों सरोवरों की यात्रा किये थे। इन सभी तीर्थ यात्राओं में बाबा नृपत्नाथ उनके साथ थे। ज्वालामुखी पंजाब का एक प्रसिद्ध तीर्थ है। वहाँ पैदल चलकर १२ दिन में वे रावल सरोवर पहुँचे थे। रावल सरोवर से दुर्गम पार्वत्य मार्ग द्वारा उत्तर दिशा में बहुत दूर जाकर मनोमहेश नामक स्थान पर पहुँचे थे। बाबाजी नेपाल राज्य के भीतर पशुपतिनाथ, मुक्तिनाथ, दामोदरकुण्ड (गण्डकी नदी का उत्पत्ति स्थान जहाँ शालग्रामशिला उत्पन्न होते हैं) आदि तीर्थों का दर्शन करते हुए बिकट और बरफ के ढके हुए पर्वतीय मार्ग से कैलाश और मानस सरोवर की यात्रा किये थे। वे कहते थे कि कैलाश और मानस सरोवर के मध्यमार्ग में महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी के साथ उनकी भेंट हुई थी। जब मानस सरोवर से कैलाश की ओर जा रहे थे उसी समय गोसाईंजी कैलाश से मानस सरोवर की ओर आ रहे थे। बाबाजी के दो शिष्य शान्तिनाथ और निवृत्तिनाथ जब १६१६ ई० में उनकी अनुमति लेकर कैलाश और मानस सरोवर का दर्शन करने गये थे, उस समय उन दोनों से वहाँ जाने के दो मार्गों का विस्तृत विवरण तथा रास्ते में जिन तीर्थस्थानों का दर्शन करके जाया जाता है उन सबका विवरण प्रदान किये थे। इस सब विकट शीत–प्रधान बरफावृत स्थानों पर पर्यटन करते समय भी उनके पास केवल एक कम्बल छोड़कर कोई दूसरा

आवरण न था। अपने दोनों शिष्यों से भी उन्होंने कहा था,– "एक कम्बल बहुत है।"

चन्द्रनाथ

कैलाश के रास्ते में चन्द्रनाथ नाम का एक तीर्थ है। श्रीमन् शान्तिनाथजी और श्रीमन् निवृत्तिनाथजी जब उस रास्ते से गये थे, उस समय बाबा समुद्रनाथ नामक एक नाथयोगी उस स्थान के महन्त थे। महन्तजी ने इन लोगों से कहा था कि, वे जब उस मन्दिर में पुजारी का कार्य करते थे उसी समय योगिराज गम्भीरनाथ वहाँ गये थे और वहाँ एक महीना समाधिनिरति अवस्था में विराजमान थे। उस समय समुद्रनाथजी ही उनकी भोजन सामग्री प्रस्तुत करते थे तथा और सेवा करते थे। जिस प्रस्तर खण्ड पर उन्होंने आसन लगाया था उसको भी महन्तजी ने इन लोगों को दिखलाया था।

अमरनाथ और सारंग कोट

अमरनाथ एक और दुर्गम तीर्थ है। स्थान प्रायः सम्पूर्ण वर्ष बरफ से ढका रहता है। रावलपिण्डी से श्रीनगर होते विपत्तिमय पार्वत्य मार्ग से वहाँ जाना पड़ता है। तीर्थयात्री साल में केवल एक दिन वहां जा सकते हैं। वहाँ के महन्त और गवर्नमेन्ट उस समय यात्रियों के लिए विशेष बन्दोबस्त करते हैं। बाबा गम्भीरनाथ उस समय तीर्थ को गये थे। अमरनाथ से लौटकर जब वे सारंगकोट आए उसी समय बाबा गोकुलनाथ को उनका प्रथम दर्शन प्राप्त हुआ था। गोकुलनाथजी की अवस्था उस समय १२–१३ वर्ष की थी। वे कहते थे, "मेरे पूर्व पुरुषगण वंश परम्परा से सारंगकोट के योगियों के शिष्य थे। १८६० ई० में अपने पिता के साथ सारंगकोट के पीर इलाचीनाथ के भण्डार में जाकर सुना कि एक 'राजा योगी' अमरनाथ से आये हैं। मैं भी अपने पिता के साथ राजा योगी का दर्शन करने गया। उस भण्डारे में १२०० साधु उपस्थित थे। उनके

बीच बाबाजी को देखकर मैंने भी उन्हें राजायोगी ही समझा।''

माणिकरण, यमुतोत्री, गंगोत्री आदि तीर्थ भ्रमण, का भी थोड़ा बहुत विवरण पाया जाता है। इनके अतिरिक्त छोटे, बड़े, प्रसिद्ध अप्रसिद्ध अनेकों तीर्थों में उन्होंने पर्यटन किया था। उन सबका कोई विशेष विवरण नहीं मिलता। सर्वत्र तीर्थयात्री साधु तथा गृहस्थगण उनके ध्यानगम्भीर ज्योतिर्मय मूर्ति का दर्शन करके किसी एक अमृत लोक की झाकीं प्राप्त करते थे।

प्रयाग के कुम्भ में

वे कुम्भ मेला में भी योगदान करते थे। गोस्वामी महाशय के शिष्य श्रद्धेय मनोरंजन गुहठाकुरता ने १३०० बंगाब्द (१८६३ ई०) के प्रयाग के कुम्भ मेला के सम्पर्क में एक छोटी सी पुस्तिका लिखी थी। उसमें उन्होंने बाबाजी के सम्पर्क में लिखा है,– ''जिस प्रकार आँखों से देखकर जरा सा सर हिलाने के इशारा मात्र से वे प्राणों के शीतल कर देते हैं, उसका वर्णन नहीं हो सकता। ये अत्यन्त अल्पभाषी हैं। साधु लोग इन्हें एक सिद्ध पुरुष मानते हैं। ये अनेक शिष्यों के साथ मेला स्थल पर उपस्थित थे। एक दिन एक धनी व्यक्ति इनके आसन के पास ५०० कम्बल रख गया। बाबा गम्भीरनाथ ध्यानस्थ थे। कुछ देर बाद आंखे खुली तो देखा कम्बलों की राशि लगी है। बायें हाथ की अंगुली थोड़ा हिलाकर बोले, ''जिनको दरकार हो, उन लोगों को यह सब दे दो।'' उसी समय सब वितरण कर दिया गया।

श्रद्धास्पद श्रीयुत शारदाकान्त बन्द्योपाध्याय द्वारा संकलित 'बाबा गम्भीरनाथजी' नामक ग्रन्थ में मनोरंजन बाबू के कथन का एक विशाल अंश उद्धृत किया गया है। उसी का कुछ अंश यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ। ''बंगाली १३०० सन् के माघ में प्रयाग क्षेत्र में पूर्ण कुम्भ का महाधिवेशन हुआ था। उसी क्षेत्र में श्रीगुरुदेव हम

लोगों को विभिन्न श्रेणी के कई साधु, योगी, संन्यासी और भक्तों का परिचय दिये थे। इन्हीं लोगों का विषय अवलम्बन करके मैंने "प्रयाग क्षेत्र कुम्भ मेला" नामक पुस्तक की रचना की थी। उसी पुस्तक में बाबा गम्भीरनाथजी की संक्षिप्त कहानी और चित्र दिया गया है। बड़ी इच्छा थी कि कुछ दिन बाबाजी के पास रहकर, बाद में उनके आचार व्यवहार तथा नित्य कर्म के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से लिखूँगा। केवल कुछ बड़ी–बड़ी घटनाएँ तथा अलौकिक कार्यो को लिखकर ही महापुरुषों का परिचय नहीं दिया जाता, वह तो बहुत कुछ फोटोग्राफ के समान ही होता है। जीवन्त नहीं होता। छोटे–छोटे कार्य और मामूली घटनाओं के भीतर से ही उनका असाधारणत्व प्रकट होता। उनका चलना, फिरना, सोना, आहार, विहार, बातचीत, व्यवहार आदि सभी कुछ साधारण लोगों के कार्यों की अपेक्षा भिन्न होता है। अकृत्रिमता, अमायिकता, सत्य, सरलता और निर्भीकता एवं प्रेम और पवित्रता उनके सभी कार्यो में सब अनुष्ठानों में, भरा रहता है। बिना उनका संग किए इस सबका प्रत्यक्ष परिचय नहीं प्राप्त होता। उनके साथ रहने का सौभाग्य मुझे नहीं प्राप्त हुआ।

उसी १३०० सन् के कुम्भ मेला में जब गुरुदेव के साथ साधु दर्शन के लिए जाते हुए बाबा गम्भीरनाथ के निकट उपस्थित हुआ, उस समय साधु लोग चाय पी रहे थे। बाबाजी ने अपने हाथ से मुझे एक ग्लास चाय दिया, मैंने उनके हाथ से ग्रहण किया, आज भी वह कांसे का ग्लास, एवं चाय की खुशबू और बढ़िया स्वाद मानों मेरे नेत्र, नासिका और रसना में व्याप्त हैं। उन वस्तुओं में जैसे साधुता लिपटी हुई हो। उस पवित्र हाथ का कितना स्नेह भरा दान। जब ग्लास लेकर मैं अन्यमनस्क होकर प्रतीक्षा कर रहा था, उस समय उनका ईषत् नेत्र भंगिमा करके जरा सा मस्तक हिलाकर मुझे चाय पीने का इशारा करना,– वह कितना मधुर था, मैं व्यक्त नहीं कर सकता। निःसंग सन्यासी, किसी वस्तु या व्यक्ति

के लिए आसक्ति नहीं, तथापि प्रेम से परिपूर्ण अनासक्त, जीवन्मुक्त, आत्माराम, तथापि विश्वप्रेमी महापुरुषों के संग का स्वाद जिसने नहीं लिया, उसने भारत के माता अमूल्य रत्नों में से कुछ भी नहीं देखा। पहिले गुरुदेव की कृपा से जब इन लोगों का दर्शन मिला, उस समय यही जान पड़ा कि, मानो भारत भूमि का एक अपूर्व और अमूल्य भण्डार मेरे समक्ष प्रकाशित हो गया –

प्रेमावतार श्रीमन् महाप्रभु ने कहा है,–

"जिनका संग होने पर अपने आप मुख में कृष्ण नाम आ जाय उसी को सच्चा वैष्णव समझना।" आश्चर्य की बात है, कि जो सद्गुरु के शिष्य हैं, किसी प्रकार का साधु संग होते ही उनका दीक्षामन्त्र जैसे गाड़ी के पहिए के समान अपने आप चलने लगे,– हठात् रोकने की शक्ति ही न रह जाय। बाबा गम्भीरनाथ के संसर्ग में बहुतो ने इस बात का अनुभव किया था।

"श्री कबीर साहब ने कहा है"–

अलख पुरुष की आरसी साधू ही की देह।

लाख जो चाहे अलख को उनही में लख नेह।।

वह, अर्थात ब्रह्म, हैं अलक्ष्य पुरुष, साधुओं के देह ही उनके दर्शन के लिए दर्पण के समान है। जो कोई उस अलक्ष्य को लक्ष्य करना चाहता है, तो साधु के भीतर ही उसका दर्शन करना होगा।

यिशु ख्रिष्ट ने कहा, – 'जिसने पुत्र को देखा उसने पिता को देख लिया।'

'उपनिषद् कहता है,– 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।'

"अतएव असली साधुओं के दर्शन से, ध्यान से, पूजा से और परिचर्या से ईश्वर की ही पूजा होती है। बाबा गम्भीरनाथ इस

श्रेणी के पूज्यवाद महात्मा थे।

साधुओं का उपद्रव

साधुओं से सुना जाता है कि प्रयाग में उस कुम्भ के अवसर पर एक विशेष घटना घटी थी। कुम्भ मेला में विभिन्न श्रेणी के साधु समाज में कभी–कभी झगड़ा–बखेड़ा हो ही जाता है। प्रयाग के कुम्भ में एक बार वैष्णव सम्प्रदाय के नागा साधु किसी कारण वश उत्तेजित होकर योगि सम्प्रदाय के साधुओं के ऊपर भयंकर अत्याचार और मारपीट करने लगे। इससे कई योगियों का सर फूट गया। योगिसम्प्रदाय के श्रेष्ठतम पुरुष बाबा गम्भीरनाथ घटना स्थल के निकट ही विराजमान थे। उनके नेत्र थे, अन्तर्निबद्ध, देह निस्पन्द, बदनमण्डल निर्विकार और सुप्रसन्न। बाहर क्या हो रहा है, इस ओर उनका बिल्कुल ख्याल ही न था। उनके संगी साधुगण बार–बार आकर चीत्कार करके कहते थे,–महाराज, देखते नहीं हैं, क्या हो रहा है ? किन्तु महाराज तो इस लोक में हैं ही नहीं, उनका शरीर मात्र उपस्थित है। वैष्णव नागागण मारपीट करते–करते बाबाजी के अत्यन्त निकट आ पहुँचे। योगिगण संख्या में बहुत कम थे, इसीलिए उन्हें रोकने में असमर्थ थे। तब एक योगी बाबाजी के आसन के निकट आकर भयानक चीत्कार करके बोला, "महाराज देखिए, देखिए, सर्वनाश।" तब बाबाजी की समाधि भंग हो गई। वे इस हालत को देखकर थोड़ा उच्च स्वर से बोले, "बस, शान्ति करो, शान्ति करो।" यह कहते ही अकस्मात् अत्याचारियों का जैसे खून ही ठंडा पड़ गया, वे लोग मन्त्रमुग्धवत् अत्याचार से निवृत्त होकर वापस चले गए।

आत्माराम योगिवर सुन्दरनाथ

इस उपलक्ष में योगि सम्प्रदाय के एक और महापुरुष की बात का स्मरण हो आता है उनका नाम था बाबा सुन्दरनाथ। वे

साधारणतः बद्रिकाश्रम अथवा गंगोत्री में रहते थे, या कभी–कभी आबू पहाड़ पर आते थे, एवं कुम्भ मेला आदि के उपलक्ष में कभी–कभी मेलों में भी दर्शन देते थे। वैराग्यप्रधान जीवन्मुक्त पुरुष थे। सदा सर्वदा समाधिमग्न रहते थे। जगत् के साथ किसी प्रकार का लौकिक सम्पर्क नहीं रखते थे। उनके समान सर्वकर्म परित्यागीं, नित्यनिरन्तर समाधि मग्न महापुरुष विरला ही देखा जाता है। योगिगण कहते हैं कि, वे सदा सर्वदा षष्ठभूमि पर विहार करते थे। एक बार कुम्भ मेला के झगड़े में नागा लोग उन्मत होकर उनका सर फोड़ दिये और उनके सर से रक्तपात होने लगा। वे अपने आसन पर समाधिमग्न थे, झगड़े की उन्हें कोई खबर न थी; सर फट जाने से अविरल रक्तधारा बह रही थी, इसका भी उन्हें कुछ होश न था– अर्थात इससे भी उनकी समाधि भंग न हुई। दूसरे साध ुगण आकर रक्तपात रोकने तथा घाव का उपचार करने लगे। वे समभाव तथा निर्विकार चित्त से समाहित अवस्था में ही विराजमान रहे। सुना जाता है कि उन्हें एक ही समय कई स्थानों पर देखा गया था। बाबा गम्भीरनाथजी के साथ उनकी विशेष घनिष्ठता थी। वे बाबाजी का संग करने के लिए दो बार गोरखपुर आये थे। पश्चिमोत्तर भारत में आत्माराम योगिवर सुन्दरनाथ के अनेक भक्त हैं, किन्तु किसी को भी उन्होंने शिष्य नहीं बनाया।

सन् १३०३ अर्थात् १८६६ ई० में श्रावण मास में वे गोदावरी के कुम्भ मेला में गये थे। वहाँ से पञ्चवटी (नासिक) गयें थे। पंचवटी से जबलपुर होते हुए काशी आये। काशी में गोरखपुर के महन्त दिलवरनाथ के मृत्यु का समाचार पाकर साधुओं के अनुरोध से वे गोरखपुर आकर कुछ दिन रहे।

पुरी यात्रा

१३०७ बंगाब्द अर्थात् १६०० ई० में कलकत्ता के निकटवर्ती दमदमा के गोरखबंशी के साधुगण बाबाजी को वहाँ ले गये थे। वहाँ

से वे गंगासागर गये थे फिर दमदमा से लौटकर वहाँ से उन्होंने पुरी की यात्रा की थी। इन सभी यात्राओं में उनके साथ बहुत साध ु थे। वे जगन्नाथ क्षेत्र में पहुँचकर एक पण्डा के मकान पर ठहरे थे। महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी के पुत्र और शिष्य महात्मा योगजीवन गोस्वामी योगिराज गम्भीरनाथजी के आगमन का सम्वाद पाकर तुरन्त उनका दर्शन करने आये और उनको तथा उनके साथ के साधुओं को अपने नरेन्द्र सरोवरस्थ आश्रम पर ले गये। गोस्वामी महाशय के शिष्यों ने मन, वाणी और कर्म से उनकी तथा उनके सहचर साधुओं की सेवा की। वे वहाँ (जटिया बाबा के समाधि ा मठ में) ६ दिन निवास किये थे।

उक्त मठ के ऐकान्तिक सेवक श्रद्धास्पद श्रीयुत शारदाकान्त बन्धोपाध्याय ने लिखा है,– "यह मेरा परम सौभाग्य था कि एक बार पुरी धाम में गुरुदेव भगवान् विजयकृष्ण गोस्वामीदेव ने नरेन्द्र सरोवरस्थ समाधिमठ में मुझे उनका दर्शन प्राप्त हुआ था। उस समय जो उनका दर्शन मिला था, वह उनकी ही कृपा से मेरे हृदय पर चिरकाल के लिए अंकित हो रहा है।

आश्रम का सेवाकार्य सम्पन्न करके कभी–कभी संध्या के पूर्व उनके निकट जाकर बैठ जाता था। उनके निकट बैठते ही अनुभव होता था कि, मेरा गुरु प्रदत्त नाम हृदय में धारारूप में अपने आप प्रवाहित हो रहा है। कुछ देर के बाद बाबा कह देते थे, 'जाओ अब सेवा कार्य पर जाओ।' तब मैं जाकर श्रीमत् गुरुदेव की आरती करता, बाबा खड़े होकर दर्शन करते रहते थे। दादा स्वर्गीय योगजीवन गोस्वामीजी को जब यह मालूम हुआ कि वे पुरी में आकर पण्डा के घर में ठहरे हैं, तब वे बड़े यत्न के साथ उन्हें मठ में ले आये, और अर्थाभाव रहने पर भी कर्ज लेकर बड़े भक्तिभाव के साथ उनकी सेवा किये। हम लोग उनके साथ एक पंक्ति में बैठकर आहार करते, और वे हम लोगों को प्रसाद वितरण करते थे। इस

स्थान पर बाबाजी को देखा था, उनमें धर्म का कोई बाहरी आडम्बर न था, एक सादी धोती पहनते थे और एक सादा चादर ओढ़ते थे। किसी के साथ अधिक बार्तालाप न करते थे, निरन्तर साधन में मग्न रहते थे। बीच–बीच में सहचरों के साथ श्री श्रीजगन्नाथदेव का दर्शन करने जाते थे। संध्याकाल के थोड़ाबाद धूनी के पास बैठकर संगी साधुओं के सायंकाल भजन में योग प्रदान करते थे, और कभी–कभी सितार बजाकर स्वयं भजन गाते थे। वे दया करके ३ दिन इस मठ में रहे।"

बाबाजी पुरी से यात्रा करके साक्षी गोपाल, भुवनेश्वर आदि स्थानों का दर्शन करते हुए गया को लौट आए।

इस प्रकार सर्वबन्धन परिशून्य आत्मानन्द परिपूर्ण योगीश्वर महापुरुष मुक्त विहगराज के समान नाना तीर्थो में बिचरण करते थे। उनका स्थायी आसन गया में ही था। घुम फिर कर गया में ही आकर विश्राम करते थे।

कपिलधारा आश्रम का परिवर्तन

उनके कपिलधारा निवास के अन्तिम भाग में परमहंस रतन गिरि नामक एक और महापुरुष वहाँ आकर निवास करने लगे थे। वे भी एक प्रभावशाली साधु थे। सुना है कि वे स्वनामधन्य महापुरुष भास्करानन्द स्वामी के गुरु भाई थे। पहले वे पटियाला में रहते थे। कपिलधारा में भी बहुत लोग उन्हें श्रद्धाभक्ति करते थे। बाबाजी जब अधिकांश समय गया में अनुपस्थित रहने लगे तब परमहंस जी अपने धनी भक्तों की सहायता से भवन निर्माण कराकर आश्रम की बहुत कुछ बाहरी उन्नति किये। आश्रम का स्वरूप ही बदल गया। अब यह आश्रम सर्वत्यागी निष्किचन साधक की गहन साधना के लिए उतना उपयुक्त स्थान न रह गया। गुफा, वेदी आदि सुरक्षित हैं सही, किन्तु बाहरी आडम्बर में वे सब ढक गए। आश्रम की

बाहरी आकृति में राजसिक भाव की प्रधानता हो गई।

कपिलधारा के आश्रम का रूप जब इस तरह बदल गया, तब बाबा जी गया पहुँचने पर कपिलधारा में रहना पसन्द न करते थे। उनके एकान्तिक भक्त सेवक माधो लाल ने बामनी घाट के ऊपर एक निर्जन स्थान में उनके एकान्त बास के उपयोगी एक बगीचा बनवा दिया। तभी से बाबाजी जब भी गया जाते थे तो साधारणतः उस बगीचे के गृह में ही आसन लगाते थे।

द्वादश अध्याय

गोरखपुर में मठाध्यक्ष

मठाध्यक्ष का कर्तव्य

भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रदेशों में एवं भारतवहिर्भूत बहुत से स्थानों पर गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित नाथयोगी सम्प्रदाय के असंख्य मठ अभी तक विद्यमान हैं, इस बात का उल्लेख पहले ही किया गया है। प्रत्येक मठ के अध्यक्ष रूप में एक महन्त रहता है, वह उस स्थान में गोरक्षनाथ का एक विशेष प्रतिनिधि होता है, और उसको उस पद के उपयुक्त सम्मान दिया जाता है। साधारणतः साधुगण महन्त पद की प्राप्ति को एक विशेष सौभाग्य की बात समझते हैं। प्रत्येक मठ के पास थोड़ी बहुत अपनी सम्पत्ति होती है। यह सब सम्पत्ति देवोत्तर अर्थात् देवसेवा साधुसेवा और दीन दुःखियों की सेवा के लिए समर्पित होती है। कोई व्यक्ति विशेष इन सब देवोत्तर सम्पत्तियों का मालिक नहीं होता, कोई भी पुरुष परम्परा से इसे भोग करने का अधिकारी नहीं होता, किसी के व्यक्तिगत भोग विलास के लिए इन सम्पत्तियों में से एक पैसा भी खर्च होना अपव्यय माना जायेगा, तथा जो व्यक्ति ऐसा व्यय करता है, वह देवता के निकट सम्प्रदाय के निकट, दरिद्रनारायण के निकट और समय समाज के निकट अपराधी है। देवोत्तर सम्पत्ति के तत्वाधान के लिए जो नियुक्त होता है वह सेवक होता है, सम्पत्ति का मालिक नहीं होता। इस सम्पत्ति की आय द्वारा देवसेवा, साधुसेवा और दरिद्रनारायण की सेवा का सुचारु बन्दोवस्त करने का अधिकारी होता है और उसके लिए उत्तरदायी होता है। अपरिहार्य प्रयोजन के अतिरिक्त किसी भी अन्य कारण से अपने लिए उसमें से एक कौड़ी भी खर्च करने का वह धर्मतः और न्यायतः अधिकारी नही है। इन सब सम्पत्तियों का मालिक होता है देवता।

यथार्थ भगवत्सेवा

प्रत्येक मठ का महन्त उस मठ की सम्पत्ति का तत्वावध ायक होता है। उसको अर्थसंग्रह की व्यवस्था करनी चाहिए; इस बात का बन्दोवस्त करना चाहिए कि जब तक साधुगण मठ में निवास करें, भोजन वस्त्र के विषय में निश्चिन्त रहें, ताकि निश्चिन्त रूप से साधन भजन में नियुक्त रह सकें; यदि कोई भूखा प्यासा व्यक्ति आ जाय तो उसको भोजन प्रदान करें, किसी दरिद्र या निराश्रय रोगी के उपस्थित होने पर पथ्य और शुश्रूषा आदि द्वारा उसे यथोचित सेवा और सहायता प्रदान करे, और इस बात की उचित व्यवस्था करे कि आश्रम में रहने वाले लोग आश्रम के नियम पद्धति का पूर्ण रूप से पालन करें, और जिसके द्वारा आश्रम में जिस समय, जिस उपलक्ष्य में जिस तरह, जो कार्य सम्पन्न होना चाहिए, वह उसको यथाविधि अनुष्ठित करे। यदि देश और देश के कल्याण के लिए किसी निकट स्थान पर किसी सत्कर्म का अनुष्ठान होता हो तो उसमें यथाशक्ति अर्थदान करें, दुर्भिक्ष महामारी आदि के समय, अन्न, वस्त्र, औषधपथ्य, रुपया पैसा सेवकों द्वारा दुःखियों के दुःखनिवारण का यथा साध्य प्रयत्न करें। यह सब भी देवसेवा अंग है। इन कार्यो को भी उसे देवता की ही सेवा बुद्धि से करना चाहिऐ।

श्रीमद्भगवत में स्वयं श्रीभगवान् कहते हैं,–

अह सर्वेषु भूतेषु भूतात्मा वस्थितः सदा।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चा विडम्बनम्।। ३।२६।२१।।

यो माँ सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्।
हित्वाचाँ भजते मौढ्यात् भस्मन्येव जुहोति स ।। ३।२६।२२।।

अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे।

नैव तुष्येऽर्चितोर्चायां भूत ग्रामावमानिनः ।। ३ । २६ । २४ ।।

अथ माँ सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्।

अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चषुषा ।। ३ ।२६ ।२६ ।।

मैं अन्तरात्मा रूप से सब भूतों में सर्वदा अवस्थित रहता हूँ। उस (सर्वभूतों में अवस्थित) मेरा निरादर करके जो मनुष्य केवल मात्र मन्दिर आदि में मेरी पूजा करता है, वह तो पूजा की विडम्बना मात्र हैं अर्थात् केवल पूजा का अनुकरण है, यथार्थ पूजा नहीं है। जो व्यक्ति मूढ़तावश सब प्राणियों के भीतर आत्मस्वरूप से विराजमान ईश्वर का परित्याग करके (प्राणियों की उपेक्षा करके) विग्रह आदि की अर्चना करता है, वह प्रज्वलित अग्नि को छोड़कर भस्म में ही घृताहुति डालता है। जो व्यक्ति जीवों का निरादर करता है वह यदि नाना प्रकार के उपचारों से मेरी अर्चना करता है तो भी उससे मैं सन्तुष्ट नहीं होता। अतः सब जीवों पर मैत्री का भाव रखकर और सर्वत्र ही भेद बुद्धि का त्याग करके, दान और मान द्वारा सब भूतों के देह में निवास करने वाले मुझे भूतात्मा स्वरूप की अर्चना करनी चाहिए।

महन्थ के कर्तव्य

स्वयं भगवान् भगवदर्चना का जो आदर्श इन उपदेशों में उपासकों के सम्मुख उपस्थित किये हैं, उसी आदर्श के अनुसार देवार्चना करने का अधिकार और दायित्व ग्रहण करके ही देवसेवक महन्त गण देवमन्दिर ओर देवोत्तर सम्पत्ति की व्यवस्था का अधि ाकार प्राप्त करते हैं। इस प्रकार की सेवा में तत्पर रहने के लिए ही महन्त पद की सृष्टि हुई है।

जिनका मोह नष्ट हो गया हो, वे ही महन्त नाम के तथा महन्त पद के योग्य होते हैं। जिनके अन्दर मोह है देह में आत्म

बुद्धि है, देह सम्बद्ध वस्तुओं या व्यक्तियों के प्रति आसक्ति है, देह और इन्द्रियों को तृप्त करने की तृष्णा है, यशमान की आकांक्षा है, काम, क्रोध, लोभ की अधीनता है, स्वार्थबुद्धि अर्थलिप्सा और कार्पण्य है, ऐसे लोग महन्त पद के अयोग्य होते हैं। जिन्हें देवता के प्रति भक्ति नहीं, मनुष्य के प्रति प्रेम नहीं, साधुओं के प्रति श्रद्धा नहीं आर्त और दीन दुःखियों की वेदना को जो स्वयं अनुभव नहीं करता, वह महन्त पद की मर्यादा की रक्षा न कर सकेगा। त्यागी, भक्त, प्रेमी, तितिक्षु, बिचारशील, लोककल्याणव्रती और कार्यदक्ष साध ु ही महन्त पद पर अधिष्ठित होने के लिए उपयुक्त पात्र होता है और इस प्रकार का आदर्श साधु देखकर ही गृहस्थ तथा साधुगण सभी लोग उसी की श्रद्धाभक्ति और पूजा करते हैं।

नाथ सम्प्रदाय के जितने मठ हैं, उन सबका कर्मक्षेत्र समान नहीं है, मर्यादा समान नहीं है, धन दौलत समान नहीं है, सुतंरा सब मठों के महन्तों की पदमर्यादा भी समान नहीं होती। गोरखपुर का मठ गोरखनाथ की तपो भूमि में उन्हीं के आसन के ऊपर प्रतिष्ठित है, इसीलिए उसकी विशेष मर्यादा है, उसका कर्मक्षेत्र भी विशाल है वित्तसम्पत्ति भी पर्याप्त है। गोरखपुर का महन्त भी एक श्रेष्ठ महन्त माना जाता है।

बाबा गम्भीरनाथ ने जब नाथ–सम्प्रदाय में प्रवेश किया था उस समय उनके गुरु बाबा गोपालनाथजी गोरक्षनाथ–मन्दिर के महन्थ के आसन पर अधिरूढ़ थे, यह बात पहले कही जा चुकी है।

बाबा गोपालनाथ के देहान्त के बाद उनके शिष्य एवं बाबा गम्भीरनाथ के ज्येष्ठ गुरुभ्राता बाबा बलभद्रनाथजी महन्त हुये और उन्होंने १८८० से १८८६ ई० तक अर्थात् ६ वर्ष तक इस भार का बहन किया। इसके बाद उनके शिष्य बाबा दिलवरनाथ ने उनका स्थान ग्रहण किया। वे १८८६ से १८९६ ई० तक अर्थात् ७ वर्षो तक मन्दिर की सेवा करते रहे तथा इसी समय के बीच पक्की इमारत

बनवाना आदि मन्दिर की पर्याप्त उन्नति किये। १८६६ ई० के १४वीं अगस्त को उनका देहान्त हो गया।

महन्त पद का अस्वीकार

इस समय योगिराज गम्भीरनाथजी साधु समाज में सम्प्रदाय के सर्वश्रेष्ठ महासिद्ध महापुरुष माने जाते थे। कुम्भ मेला में सभी श्रेणी के साधुगण उनके अनन्य साधारण तेज गम्भीर्य प्रेम और नित्यसमाहित भाव का दर्शन करके मुग्ध हो गये थे। कितने महापुरुषों ने अपने सम्प्रदायों में एक असीम शक्तिशाली महापुरुष कहकर उनकी ख्याति की थी। यदि एक इस कोटिका महन्त नाथ सम्प्रदाय के एक प्रधान क्षेत्र गोरखपुर के गोरखनाथ–मन्दिर का सेवा भार ग्रहण करे, तो यह क्षेत्र का गौरव, मन्दिर का गौरव और सम्प्रदाय का गौरव होगा।

सम्प्रदाय के साधुओं ने बाबाजी को महन्त पद स्वीकार करने के लिए पर्याप्त अनुरोध किया, एवं नाना प्रकार की युक्तियों की अवतारणा करके इसी समीचीनता का प्रतिपादन किया। किन्तु बाबा गम्भीरनाथ ने गम्भीरता के साथ कहा,–'नहीं'। अगत्या बाबा बलभद्रनाथ के अन्यतम शिष्य एवं बाबा दिलबर नाथ के गुरुभाई बाबा सुन्दर नाथ जी महन्त पद पर अभिषिक्त हुए। पहले से ही इस बात का सन्देह होने के कारण विद्यमान था कि वे मन्दिर सेवा का गुरुभार बहन करने में समर्थ होंगे या नहीं, एवं महन्त पद की मर्यादा सम्हाल सकेंगे या नहीं। जो भी हो, योगिराज जी ने उन्हें महन्त के पद पर बैठाकर और यथोचित उपदेश देकर कुछ दिन के बाद अपनी तपोभूमि गयाधाम को लौट गये। कोई–कोई साधु कहते थे, कि गोरखनाथ महन्त की गद्दी सुनी रखना रीतिविरुद्ध था। इसीलिए बाबा दिलबर नाथ के महासमाधि के बाद तुरन्त ही उपस्थित साधुगण और गण्य मान्य लोग कोई और अधिक योग्य व्यक्ति न पाकर बाबा सुन्दरनाथ को ही महन्त की गद्दी पर बैठा

दिए। बाबाजी के आते ही बाबा सुन्दर नाथ ने स्वयं ही आसन से उठकर अपनी पगड़ी बाबा जी के चरणों के निकट रख कर कहा– ''इस महन्त पद के योग्य आप ही हैं, आप कृपा करके इसे ग्रहण करें।'' साधुगण तथा और गणमान्य लोगो ने महन्त जी के प्रस्ताव का समर्थन किया। और बाबाजी को गद्दी ग्रहण करने के लिए बिबश करने लगे। परन्तु उन्होंने किसी प्रकार भी यह प्रस्ताव स्वीकार न किया।

जिन्हें महन्त की गद्दी मिली, उन्होंने थोड़े ही दिनों में अपने आचार व्यवहार तथा कार्यो से अपनी अयोग्यता को प्रमाणित कर दिया।

गोरखनाथ के तपस्याक्षेत्र, नाथ सम्प्रदाय की केन्द्रभूमि साधु सज्जनों का आश्रय स्थान, देवता का मन्दिर नाना प्रकार से अमर्यादित होने लगा।

गोरखपुर प्रत्यागमन

बाबा गम्भीरनाथ को इन बातों की खबर दी गई, साधुगण जाकर उनके शरणापन्न हुए, गोरखपुर के संभ्रान्त नागरिक चिट्ठियाँ लिखने लगे। जिस गहन आनन्द के राज्य में वे सदा सर्वदा विहार करते थे, वहाँ ये संवाद पहुँचते ही न थे। व्यावहारिक जगत् में उनकी दृष्टि को खींचकर लाना भी कठिन ही था। अन्त में उन्हें विशेषरूप से पकड़ा गया। उनको बतलाया गया कि, यदि वे आकर ठीक व्यवस्था नहीं करते तो गोरखनाथ मन्दिर, उनके गुरुदेव का स्थान बिल्कुल नष्ट हो जायगा और यही बात उन्हें बार–बार समझायी गयी। उस समय वे पुरी आदि तीर्थो का भ्रमण करके गया में लौटकर आये थे। उन्होंने यहाँ आना स्वीकार किया। यद्यपि उनकी दृष्टि में महन्त पद की प्रतिष्ठा और निर्जन वन में अज्ञातवास, दोनों ही समान थे, यद्यपि उनके निकट राजप्रसाद और

पर्वतीय गुफा में कोई पार्थक्य न था, यद्यपि वे किसी अवस्था को हेय और किसी को उपादेय न समझते थे, तथापि निर्जन में निष्किन्चन भाव से लोक कोलाहल के बाहर नित्य अविच्छिन्न ६ यानानन्द का उपभोग करना ही उनका स्वभाव था, उनके लिए लोककोलाहल तथा लौकिक व्यवहार के बीच आकर निवास करना उनके स्वभाव के प्रतिकूल था, इस बात को स्वीकार करना ही पड़ेगा इसी कारण पहले वे लोककोलाहल के बीच आने को राजी न हुए। किन्तु उनका स्वभाव था प्रेमप्रधान वे थे सर्वभूतहितेरत। जिस समय लोकसमाज के कल्याण के लिए उनका आह्वान होता, तभी उन्हें अपनी अविराम समाधि सम्भोग की आसक्ति भी छोड़नी पड़ती थी। इस कार्य का उपलक्ष्य करके भगवान् का विधान उनको कर्मक्षेत्र में खींच लाया। उन्होंने आजतक गुरु का आसन, आचार्य का आसन ग्रहण नहीं किया था। उनका शिष्य बनने के लिए कई धार्मिक व्यक्तियों ने आग्रह भी किया था, एक बार दीक्षा देने के लिए बहुत तंग किये जाने पर उन्होंने कह दिया था,– 'क्या पल्टन करेंगे ?" किन्तु उनकी प्रकृति, उनका प्रारब्ध, भगवान् का विधान, ये सभी मानो उनके ही द्वारा एक आध्यात्मिक पल्टन की सृष्टि करने का ही अवसर खोज रहे थे। यदि वे लोकालय से दूर, पहाड़ों पर जंगलों में, दुर्गम तीर्थों में ही घूमते रहते, तो वह कार्य सम्पन्न होता कैसे ? उनकी देह को जनसमाज के नेत्रों के सम्मुख किसी एक प्रधान और सुगम तीर्थक्षेत्र में बाँधकर रखने की आवश्यकता थी,– जहाँ पर रहकर वे गृहस्थों को गृहस्थाश्रम का आदर्श सिखलाते, साधुओं को साधु का आदर्श दिखाते, कृपाप्रार्थियों पर कृपा वितरण करते और संसार ज्वालापीड़ित शान्ति पिपासु संसारी जीवों को आश्रय और भरोसा प्रदान करते।

आश्रम प्रबन्ध

ये सभी कार्य उनकी अपेक्षा कर रहे थे, इसीलिए जान

पड़ता है कि एक ऐसी अवस्था की सृष्ठि हुई जिससे उनके दैहिक जीवन के बचे हुए समय में गोरखपुर मन्दिर में उनके नियतवास की व्यवस्था हुई। यह रहस्य साधारण बुद्धि के अगोचर होता है कि भगवान् का विधान और जीव का प्रारब्ध किस मार्ग से अपने को चरितार्थ करेगा। अवश्य ही महापुरुष जानबूझकर स्वेच्छा से उसमें योग प्रदान करते हैं। १६०१ ई० में वे गोरखपुर आये। स्थान का वातावरण बदल गया। उनके समक्ष महन्त महाराज का मस्तक अपने आप झुक गया। बाबाजी केवल साक्षी रूप से रहने लगे। अधिकांश कार्य तो वे 'हाँ' 'अच्छा' 'नहीं' आदि इंगितों से ही चला देते थे; कभी-कभी दो चार शब्द बोल देते थे, नहीं तो सर्वदा ही अन्तर्मुल रहते थे। तथापि जटिल विर्गय भी उनके सानिध्य में सरल हो जाते थे, सहज ही सब समस्याओं की मीमांसा हो जाती थी। आश्रम में यथोचित रीति से साधुसेवा, अतिथिसेवा, दीनसेवा, जीवसेवा आदि का सुन्दर बन्दोबस्त हो गया एवं देवकार्य भी विधिवत सुसम्पन्न होने लगा। धार्मिक गृहस्थगण दर्शन करने के लिए आने लगे। योगीश्वर महापुरुष के मंगलमय दृष्टिपात से सभी दिशा में सुव्यवस्था हो गई।

बहुत से साधु तथा स्थानीय विशिष्ट भद्र पुरुष महन्त को पदच्युत कर देना चाहते थे। किन्तु पदच्युति की बात तो दूर रही, बाबाजी ने महन्त के सम्मान को रंचमात्र भी घटने न दिया। महन्त पद का सम्मान और पूजा महन्त ही पाते थे। बाबाजी स्वयंसेवक रूप में मन्दिर के तत्वाधान में तत्पर रहते थे। बाबा गम्भीरनाथ ने सम्पत्ति की व्यवस्था के लिए सुनिपुण तथा विश्वासपात्र कर्मचारी नियुक्त किया एवं योग्य साधुओं के ऊपर आश्रम के विभिन्न विभागों का भार अर्पण किया। वे स्वंय उपद्रष्टा और अनुमन्ता होकर अपने भाव में विराजमान रहते थे।

आश्रम कार्य जब सुचारु रूप से चलने लगा, तब वे फिर

गया में जाकर निर्जन वास करने लगे। बीच–बीच में कर्मचारियों और साधुओं के आग्रह से गोरखपुर आकर देख सुन जाते थे। उनकी अनुपस्थिति में आश्रम में फिर विश्रृखंला उत्पन्न हो गई। आश्रमस्थ साधुगण कर्मचारीगण एवं स्थानीय प्रतिष्ठित व्यक्तिगण फिर योगीराज गम्भीरनाथ के शरणापन्न हुए ओर एक प्रकार से उनको विवश करके १६०६ ई० में उनको फिर आश्रम में ले आये। उनके आगमन से महन्त महाराज का मस्तक अवनत हो गया। तब सब लोगों ने मिलकर महन्तजी को एक इकरारनामा लिख देने के लिए बाध्य किया। उनके अनुसार मन्दिर के किसी कार्य में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने का उनका अधिकार न रहा। किसी को दीक्षा देने के अधिकार से भी वे वञ्चित हो गये। उनको केवल महावारी नियत खर्चा मिलने लगा तथा साम्प्रदायिक कार्यो में महन्त पदोचित कर्तव्य सम्पादन और सम्मान प्राप्ति मात्र में उनका अधि िकार रह गया। उन्होंने जो अपराध किये थे, बाबाजी ने अवश्य ही उनको क्षमा कर दिया, एवं आश्रम और सम्प्रदाय की मर्यादा की रक्षा के लिए उनके अधिकार को जितना संकुचित करना नितान्त आवश्यक समझा गया, उससे अधिक कुछ भी करने को राजी न हुए।

विक्षोभ में प्रशान्ति

सब कार्य फिर सुश्रृखंल रूप से चलने लगा। साधुओं तथा भक्तों के अनुरोध से बाबाजी भी तभी से गोरखपुर में ही स्थायी रूप से रहने लगे। उस समय जान पड़ा मानों, वे अपनी निर्जनप्रियता के स्वभाविक होने पर भी, बाध्य होकर पूर्णतया प्रारब्ध और भगवद्विध ाान के निकट आत्मसमर्पण करके जनसमाज के बीच रहना स्वीकार कर लिया। महाभारत में एक अवधूत ने कहा,–

नाभिनम्दाभि मरणं नाभिनन्दामि जीवितम्।
कालमेव प्रतीक्षुऽहं निर्देशं मृत्युको यथा।।

अर्थात् में मरण का भी अभिनन्दन नहीं करता, जीवन का भी अभिनन्दन नहीं करता; सेवक जिस प्रकार स्वामी के आदेश की प्रतीक्षा किया करता है, मैं भी उसी प्रकार प्रकार काल की प्रतीक्षा करता हूँ योगिराज गम्भीरनाथ भी तभी से व्यवहारिक क्षेत्र में इसी भाव का अवलम्बन करते रहते थे। विश्वगुरु की विद्या शक्ति या गुरुशक्ति की प्रेरणा से कृपापरवश होकर अविद्यान्ध लोगों को मानवजीवन का आदर्श दिखलाने के लिए तथा ज्ञानचक्षु प्रदान करने के लिए यह जो वे लोक समाज के बीच उपस्थित हुए, एवं उनको जो आगे सद्गुरु का आसन ग्रहण करके अनेक धार्मिक व्यक्तियों के ऊपर प्रकट रूप से कृपा करना होगा, ये बातें यद्यपि उनकी निरावण दृष्टि से छिपी न थी, तथापि उनका व्यवहार देखकर इसका कोई आभास मिलना भी सम्भव न था।

प्रायः देखा जाता है कि जो महापुरुष ज्ञानधर्मामृत वितरण करने के लिए लोकसमाज में निवास करते हैं, उनके जीवन में कभी-कभी विशेष संकटपूर्ण घटनायें संघटित हो जाती हैं। जान पड़ता है कि यह करुणामय विश्वविधाता का एक विशेष विधान है। महापुरुषमण लोकचक्षु से अतीत पर्वत गुफा आदि में निवास करते हुए किस प्रकार का साधन भजन करते हैं। किस प्रकार जीवन यापन करते हैं, एवं इससे किस प्रकार की अवस्था प्राप्त करते हैं, इस सम्बन्ध में साधारण लोगों को कोई विशेष जानकारी नहीं हो सकती एवं इसी कारण धर्ममय जीवन के वैशिष्ट्य और माधुर्य की उपलब्धि भी नहीं कर पाते। किन्तु जैसे संकट पूर्ण सांसारी परिस्थिति में पड़कर विषयी लोगों की बुद्धि चकरा जाती है और वे नाना प्रकार के नीति विरुद्ध कार्य करने में भी संकोच नहीं करते, उसी प्रकार की परिस्थिति में धर्मजीवन साधुगण किस प्रकार धीर स्थिर निर्बिकार रहते हैं; एवं किस प्रकार धर्मानुगत व्यवहार द्वारा ही उस संकट को पार करते हैं, इसको देखकर वे लोग महापुरुषों के माहात्म्य को हृदयंगम करने में समर्थ होते हैं, एवं अपने जीवन

परिचालन के सम्बन्ध में भी पर्याप्त शिक्षा प्राप्त करते हैं। साधारण लोगों के समक्ष धर्म की महिमा का प्रचार करके उनको कल्याण के मार्ग पर आकर्षण करने के लिए ही, जान पड़ता है, करुणामय विश्वगुरु भगवान् की यह व्यवस्था होती है। ऐसी बिपत्त्यिों में महापुरुषगण क्यों पड़ जाते हैं, यह प्रश्न करना व्यर्थ है; अपितु देखने का विषय यह है कि ऐसी विपत्तियों में पड़कर भी वे किस प्रकार का व्यवहार करते हैं। साधारण लोग जिसको भयंकर विपत्ति समझते हैं, धर्म में प्रतिष्ठित व्यक्ति उसको विपत्ति नहीं मानता, बल्कि संसार का कोई भी झंझाबात उसकी प्रशान्तवाहिनी चित्तनदी में किसी प्रकार विक्षोभ नहीं उत्पन्न कर सकता, संसार के सभी प्रकार के कोलाहलों में रहते हुए भी वे सर्वदा संसार से ऊर्ध्व विराजमान रहते हैं, जिसे देखकर मनुष्य को इस बात का ज्ञान होता है कि निराविल शान्ति का उद्‌गम कहाँ है।

जीव कल्याण के लिए क्लेश स्वीकार

जो लोग वैराग्यवान् विषय विमुख निष्कपट साधक हैं, जिनको ब्रह्मज्ञान, ब्रह्मध्यान ओर ब्रह्मानन्द रसपान का किंचित् मात्र भी स्वाद मिल गया है; जो लोग लौकिक व्यवहार मात्र को ही ब्रह्मानन्द सम्भोग में विघ्न समझते हैं, ऐसे लोग योगिराजजी मठाध्यक्ष पद के स्वीकार करने का क्या कारण हो सकता है, इस बात पर विस्मित हो। जिन्होंने पर्वत की गुफाओं में जीवन का अधिकांश समय निविड़ समाधि के अभ्यास में बिताया था, ब्रह्मभाव में विभोर रहना जिनका स्वभाव बन गया था, जिनको मृत्युक्षण तक निरन्तर निराबिल ब्रह्मानन्द सम्भोग में डूबा रहना ही अभीष्टतम जान पड़ता था, वे लोग उस अतुलनीय आनन्द सम्भोग को त्याग कर जीवों के कल्याण के लिए जन समाज में आकर विषम कर्मो में प्रवृत्त हुए, वही उन लोगों को अत्यन्त विस्मयजनक जान पड़ा। वे केवल विषम कर्मो के संस्पर्श में आये हो, ऐसी बात न थी, बल्कि तत्सम्बन्ध

ी बाद–बिवाद और अशन्तिजनक अनेक घटनाओं के उपस्थित होने पर भी, सम्प्रदाय के आश्रमस्थ साधुओं के तथा जनसाधारण के कल्याण के अनुरोध से उस सम्पर्क का त्याग न करके, उसके बीच में ही रहने लगे। जिस विषय के लिए उनको रंचमात्र भी अभिमान और ममता न थी, उसके साथ युक्त होकर और उसी के सम्बन्ध में अनेंकों झंझटों के भीतर वे निरुपाय दीन मनुष्यों के समान सब कुछ सहन करने लगे, विक्षेप, अपमान और बखेड़ों से बचने के लिए दूर नहीं भग गए। वे यह बात सूक्ष्मदर्शी साधकों को बहुत आश्चर्यजनक जान पड़ने लगा। वे विस्मित होकर बिचार करने लगे कि, जीव के प्रति उनका प्रेम इतना गम्भीर है कि समाधि के आनन्द की उपेक्षा करके जीव के कल्याण के लिए क्लेश स्वीकार करना उनको इष्टतर जान पड़ा। किन्तु गुफा निवास छोड़कर व्यावहारिक जीवन ग्रहण करने से एक ओर जिस प्रकार लोक समाज के प्रति उनका सुगम्भीर प्रेम जाहिर होता है, दूसरी ओर उसी प्रकार विषय कर्मो के साथ ब्रह्मानन्द सम्भोग का वैषयिक को कोलाहल के साथ गुणातीत भाव में स्थिर रहने का अर्थात् समाधि के साथ संसार के सामंजस्य की सम्भावना की शिक्षा भी लोकसमाज को प्राप्त होती है। और भी आश्चर्य की बात यह है कि जिसका योगैश्वर्य असीम था, वे इन वैषयिक कार्यो में अपनी योगशक्ति का लेशमात्र भी परिचय न देते थे, सभी कार्य साधारण प्राकृत मनुष्य के समान ही करते थे; साधारण धर्मनिष्ठ बुद्धिमान लोग जैसी अवस्था में जिन उपायों का अवलम्बन करते हैं, उसी प्रकार वे भी करते थे। उनका असाधारणत्व प्रकट होता था केवल एक विषय में और वह था सब प्रकार की अवस्थाओं में उनका स्वभाव में विराजमान रहना, मुखारबिन्द का नित्य निर्लिप्त निर्विकार सुप्रसन्न रहना, सभी प्रकार के झंझटों के बीच आवाध ब्राह्मी स्थिति का बना रहना। इन सब कोलाहलों के बीच अपने आसन पर विराजमान उस प्रशान्त गम्भीर मूर्ति के उपर दृष्टि डालने से ही ऐसा जान पड़ता था कि मानों प्रबल झंझाबात

से विक्षुब्ध अशान्त समुद्र के उत्ताल तरंगों के बीच एक विशाल पर्वतराज मस्तक उठाये हुए निर्विकार निश्चिन्त उदासीन भाव से अपने मौज आसीन है, तरंगमालयें उसकी मूर्ति से बार–बार टकरा कर स्वयं चूर–चूर हो जाती हैं, उसे इन आघातों की स्पर्शानुभूति भी होती है इसका कोई लक्षण नहीं दिखाई देता। उनके योगैश्वर्यो में से यह एक ऐश्वर्य सर्वदा ही प्रकाशित रहता था।

इस समय से जीवन के अन्तिम क्षण पर्यन्त गोरखपुर के गोरक्षनाथ मन्दिर में ही बाबा गम्भीरनाथ का आसन स्थायी रहा। महन्त न होने पर भी वे मन्दिर के सर्वे सर्वा थे। वे आश्रम के अध्यक्ष थे। कार्यरतः आश्रम सम्पत्ति के मालिक थे, प्रजागण के लिए उनके 'मां–बाप' थे, गृहस्थों के समान साधु–सेवक और अतिथि सेवक थे। एक विशाल कर्मक्षेत्र के केन्द्रस्थल पर उनका आसन स्थापित हुआ। नाथ सम्प्रदाय के नेतृत्व पद पर आसीन हुए। असंख्य साधुओं और गृहस्थों की दृष्टि उन पर पड़ने लगी। उनकी अध्यक्षता में मन्दिर में फिर शान्ति प्रतिष्ठित हुई, साधुगण और कर्मचारीगण स्वच्छन्द चित्त से अपने–अपने कर्तव्य पालन में तत्पर हुए और गृहस्थ धार्मिकज्जन अवसर के समय मन्दिर में आकर देवता और महापुरुष का दर्शन तथा पादस्पर्श प्राप्त करके अपने तप्त चित्त को शीतल करने लगे। प्रजागणों में सन्तोष और शान्ति आ गई। कहीं भी किसी प्रकार की विश्रृखंल न रही।

कोलाहलों के बीच में निर्विकार

जिनके नेतृत्व में एक इतना बड़ा विराट संसार इस प्रकार सुश्रृंखल रूप से परिचालित हो रहा था, उनकी तरफ जब भी दृष्टि डाली जाती तो वे दिखलाई पड़ते थे आत्मस्थ, बाहर की ओर उनकी दृष्टि ही नहीं। वे मानों एक निर्विकार शान्ति की अर्थात् तरंग विहीन परिपूर्ण आनन्द की एक प्रतिमूर्ति के समान विकारमय संसार में प्रतिष्ठित थे। कर्मचारीगण आते थे, अपने–अपने काजकर्म

का निवेदन करते थे, यही जान पड़ता था मानो पुजारी देवमूर्ति के समक्ष अपनी बात कह रहा है। सारी बात कह जाने के बाद वे केवल 'हाँ' या 'नहीं' किम्बा 'अच्छा' अथवा आवश्यकतानुसार दो एक शब्द उच्चारण करके उन लोगों के लिए कर्तव्य का निर्देश कर देते थे। इस प्रकार कभी भृत्य आकार आदेश की प्रतीक्षा करता है, कभी कोई दरिद्र भिक्षुक सहायता की प्रार्थना करता है, कभी आश्रम में कोई अतिथि आ गया है, कभी साधुगण वाद–विवाद करके फैसले के लिए शरणापन्न हुए हैं, एक ही समय सम्भव है, विभिन्न श्रेणी के लोग उपस्थित हों। वे अपनी अर्धवाह्य अवस्था में ही मृदुभाव से एक दो बातें कहकर, जिससे जो वक्तव्य हो वह कहकर, जिसे जो दातव्य हो देकर, अतिथि अंभ्यागतों की सेवा की यथोचित व्यवस्था करके; फिर आत्मस्थ हो जाते थे। तथापि इतने से ही सभी विषयों का सुन्दर बन्दोवस्त हो जाता था। वे आश्रमवासियों को जिस प्रकार के आदेश या उपदेश देते थे, इससे यही प्रकट होता था कि आश्रम सम्बन्धी कोई भी कार्य उनकी दृष्टि से बचकर न हो सकता था, सबके प्रति सबके कर्तव्यों के प्रति उनकी दृष्टि निरन्तर जागरूक रहती थी। तथापि उनकी ओर दृष्टिपात करने से प्रायः यही देखा जाता कि उनके नेत्र निमीलित या अर्धनिमीलित।

गुणातीत और गुणमय का समन्वय

भगवान् के सगुण और निर्गुण दोनों ही स्वरूपों का शास्त्रों में वर्णन है। उनके समान संसारी भी कोई नहीं है और संसारत्यागी भी कोई नहीं है। अनन्त जटिलतामय विश्वब्रह्माण्ड के यावतीत कार्यों के वे एकमात्र कर्ता हैं, तथापि वे कोई कर्म नहीं करते, कोई कर्म या कर्मफल उन्हें स्पर्श नहीं करता। वे जगत् के अनन्त गुणों के विकारों के, अनन्त भावों के अध्यक्ष ओर आश्रय हैं, तथापि गुणातीत, भावातीत, विकार लेश शून्य तथा नित्य आत्मस्परूप में विराजमान रहते हैं। वे हैं 'विश्वतश्रंक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत

विश्वतस्पात्', फिर वे ही हैं 'निष्कलं', निष्क्रिय शान्तंनिरवद्यम् निरञ्नम्'। एक ओर तो 'स एवेदं विंश्वंकर्म' 'स विश्वकृत् विश्वविद्', संसार मोक्षस्थितिबन्धहेतु:' दूसरी ओर 'न तस्य कार्य करणं च विद्यते' 'साथी चेताकेवलों निर्गुणाश्रच'। वे पूर्णरूप से संसारी भी हैं और पूर्णरूप से असंसारी भी। यह किस प्रकार सम्भव होता है; किस प्रकार इतने बड़े विराट् संसार के सभी कर्म सुचारु रूप से विहित विधानानुसार सम्पन्न करके भी भगवान् नित्य आत्मस्थ निर्विकार निष्क्रिय अवस्था में विराजमान रहते हैं इस रहस्य का आभास बाबा गम्भीरनाथ के कर्मजीवन को देखकर थोड़ा बहुत कुछ समझ में आता था। जिस प्रकार श्री भगवान् विश्वातीत स्वरूप में नित्य विराजमान रहते हुए भी अनादि अनन्तकाल से इस विश्व संसार का संचालन करते आ रहे हैं, उसी प्रकार सर्वकर्मातीत आत्म–स्वरूप में विराजमान रहते हुए भी बाबा गम्भीरनाथ अपने कर्मजीवन में मठाध्यक्ष रूप से सब कर्मों का सम्पादन कर गये हैं।

त्रयोदश अध्याय

जीवन्मुक्त का आश्रम परिचालन

वेशभूषा

गोरखनाथ-मन्दिर में मठाध्यक्ष से प्रतिष्ठित होने के साथ बाबा गम्भीरनाथ का वेश भी परिवर्तित हो गया। वे जब जिस प्रकार की पारिपार्श्विक अवस्था में रहते थे, तब उनकी वेशभूषा भी तदनुरूप ही होती थी। इस विषय में यद्यपि उनका ख्याल न रहता था तथापि अवस्थानुसार व्यवस्था हो जाती थी। साधु समाज में हो अथवा गृहस्थों के बीच हों, कहीं भी वे वैशिष्ठ्य द्वारा किसी की दृष्टि का आकर्षण करना न चाहते थे। जब वे निर्जन कुटीर या गुफा में रहकर साधन भजन में रत रहते थे, उस समय वे एक कौपीन मात्र पहनते थे, जिस समय परिब्राजक रूप में पर्यटन करते थे, उस समय एक वस्त्र आच्छादन के लिए और भी रखते थे। लोक संसर्ग में आकर लोकसमाज की मर्यादा की रक्षा के लिए शरीर को आवृत रखने लगे। इसके अतिरिक्त उनके सम्बल में तीन चीजें और थी, अर्थात् एक कम्बल, एक फौरी ओर एक खप्पर। उनके मस्तक पर जटा थी, मुखमण्डल घनी मोक्ष ओर दाढ़ी से आवृत था। देह साधारणतः विभूतिलिप्त रहता था। वे प्रथम बार जब गोरखपुर आकर गोरक्षनाथ-मन्दिर के तत्वावधान के प्रति निगाह रखने के लिए बाध्य हुए, तब लंगोटी के ऊपर एक धोती पहनने लगे। साध‍ु सेवकों ने तेल, खरी, दही, आदि मिलाकर उनके जटामार को ध‍ोते-धोते साफ किया और इसी प्रकार के प्रसाधनों द्वारा जटाग्रन्थि को सुरझा दिये। इसके बाद जब गोरखपुर से चले गए ओर गया में जाकर माधोलाल के बगीचे वाले मकान में रहने लगे, तब वेश में कोई विशेष परिवर्तन न हुआ। यदि अधिक समय बाहर रहते, तो अवश्य ही केश फिर जटा में परिणत हो जाते और कौपीन ही सम्बल होता। जब से वे गोरखपुर के मठाध्यक्ष हुए, तभी से उनकी

वेशभूषा देखने से यही जान पड़ता था कि एक प्राचीन सामान्य गृहस्थ सज्जन को देख रहा हूँ। कौपीन के ऊपर एक साफ धोती पहनते थे; एक चद्दर ओढ़े रहते थे, पैरों में काठ का खड़ाऊँ मुखमण्डल पर सुघन सुलम्बित श्वेतकृष्ण दाढ़ी, मूछ और मस्तक पर था आस्कन्ध विलम्बित अर्धपक्व केशजाल। तभी से वे एक तख्त पर कम्बल बिछाकर उसी पर बैठने तथा सोने लगे। उनके बंगाली शिष्यों को उनके इसी वेश का दर्शन मिला।

निवास

महन्त के निवास के लिए जो पुराणा द्वितल भवन था, उसी के नीचे वाले भाग के एक किनारे की एक छोटी सी कोठरी में वे निवास करते थे। वह कोठरी ही उनके बैठने का, शयन करने का आफिस का तथा, जिज्ञासुओं को उपदेश देने का स्थान था। उस घर में एक खाट थी, उसी के ऊपर अधिकांश समय वे आसनस्थ होकर अर्धवाह्य अवस्था में विराजमान रहते। नीचे एक दरी बिछी रहती थी; साधुगण, भक्तगण, कर्मचारीगण तथा आगन्तुक सज्जनगण उसी पर बैठते थे, एवं प्रयोजनानुसार अपना–अपना वक्तव्य निवेदन तथा आदेश या उपदेश ग्रहण करते थे।

दिनचर्या

सर्वबन्धननिर्मुक्त महापुरुष की दिनचर्या यथोचित रीति और नियमबद्ध रूप से सम्पादित होती थी। वे रात्रि में तीन बजे के समय शय्या पर उठकर बैठ जाते थे। यह नहीं कह सकते कितना समय सोते थे। तीन से पाँच बजे तक शय्या के ऊपर ही योगासन में बैठकर वे गम्भीर समाधिजनित विशेष आनन्द का सम्भोग करते थे। ५ बजे के उपरान्त मलमूत्र त्याग करने के बाद एरण्ड की एक हाथ लम्बी दातून काटकर दाँत साफ करते। दातून करते–करते वे पूरी लकड़ी गले के भीतर उदर तक कई बार प्रवेश करते ओर बाहर

निकालते थे। इसको कहते हैं ब्रह्मदातून। इसके बाद पवित्रता के साथ हाथमुँह धोकर थोड़े समय के लिए बाहर आते थे, एवं गोरक्षनाथ मन्दिर के सामने एक समाधि मन्दिर के खुले चबूतरे के एक कोण पर बैठ जाते थे। साधारणतः उस समय वे अकेले ही बैठते थे, तथापि यदि किसी को कोई विशेष बात कहना आवश्यक होता, तो वह आकर निवेदन करता। इसके बाद वे फिर अपनी कोठरी में जाकर आसनस्थ अवस्था हो जाते, ८ बजे से १० या ११ बजे तक उसी कोठरी में लोग आते जाते रहते थे। वे अपने आसन पर स्वभावसिद्ध प्रशान्त गम्भीर अन्तर्मुख अवस्था में ही बैठे रहते थे, जिसको जो कुछ कहना होता ओर सुनना होता, वह अपनी बात कह जाता और सुन जाता।

इसके बाद उनका स्नान और आहार होता था। श्रीनाथजी का भण्डारा तैयार हो जाने पर, सामग्री दूसरे साधुओं के लिए बनती थी, ठीक वही उनके लिए भी होती थी, और उसी का वे आहार करते थे और महन्तों के समान अपने लिए किसी विशेष पाक की व्यवस्था वे पसन्द न करते थे। जब किसी को दीक्षा देना होता तो स्नान के बाद ही देते थे, और इसके बाद आहार करते थे। आहार के बाद ३ या ३।। बजे तक विश्रांम करते थे। उस समय कोई भी उनके पास न जाता, न कुछ कहता था। गर्मी के दिनों में पंखा चलाने के लिए कोई एक सेवक वहाँ रहता था। ३।। बजे के बाद फिर उसी खुली जगह पर अर्थात् समाधि मन्दिर के चबूतरे पर, हाथ मुँह धोने के बाद, जाकर आसन ग्रहण करते थे। उस समय अनेकों दर्शनार्थी दर्शन और प्रणाम करने के लिए आते थे। उस चबूतरे के ऊपर एक दरी बिछ जाती थी, उसी पर उपस्थित साधगण ओर सभ्यगण आकर बैठते थे। इस समय उन लोगों के साथ दो चार बातें भी करते थे। क्रमशः विशेषतः बंगालियों के समागम के बाद, उन लोगों के आन्तरिक आग्रह पर वे सामान्य रूप से थोड़ा वार्तालाप करने का अभ्यास कर लिये थे। लोग उनकी वाणी सुनने

के लिए आग्रहपूर्ण चित्त से उनके मुख की ओर ताकते रहते थे, कभी–कभी वे भावविष्ट अवस्था में ही कुछ सत्प्रसंग की चर्चा करते थे।

सन्ध्या के समय गोरक्षनाथ मन्दिर के आरति की घण्टा बजता था। मन्दिर में प्रायः दो घण्टे तक मधुर आरति होती रहती थी। उस समय सभी लोग नीरव रहते हैं। वे भी उस समय आत्मसमाहित होकर विराजमान रहते थे। आरती के बाद आश्रमस्थ सभी साधुओं का एक साथ मन्दिर का सात बार प्रदक्षिणा करना नियम है। वे भी साधुओं के साथ मिलकर मन्दिर की प्रदक्षिणा करते और साम्प्रदायिक नियमानुसार श्री श्री नाथ जी के आसन के सम्मुख प्रणाम आदि करते थे। इसके बाद अपने गुरु श्री गोपाल नाथजी के समाधि मन्दिर की प्रदक्षिणा ओर प्रणाम करते थे। फिर आकर उसी आसन पर कुछ देर नीरव बैठे रहते थे। उस समय आश्रम बासी साधुगण श्री श्रीनाथजी को और महन्त जी को प्रणाम करने के बाद आकर उनको प्रणाम करते थे। बाहर के जो सज्जन उस समय वहाँ उपस्थित होते थे, वे लोग भी मन्दिर और बाबाजी को प्रणाम करके घर चले जाते थे। इस प्रकार दो घण्टे से अधिक रात्रि बीत जाने के बाद वे फिर अपनी कोठरी में वापस चले जाते थे।

जाड़े से भिन्न समय वे प्रायः रात्रि में कमरे के भीतर नहीं सोते थे। बरामदे में ऐ छोटी सी चारपाई पर सोते थे। तब तो आरती के बाद लौट कर फिर कमरे के भीतर नहीं जाते थे, बराम्दे में चारपाई के ऊपर ही बैठ जाते थे। आश्रम के भोजनादि कार्य पूरन हो जाने तक बैठे ही रहते थे। शिष्यों तथा भक्तों के लिए उनका उपदेश प्राप्त करने का एवं अपने–अपने साध्य साधन विषयक संशय और भ्रान्ति को दूर कर लेने का यही उत्तम समय होता था। आश्रम कार्य पूरा हो जाने पर वे सबको आराम करने का उपदेश

देकर स्वयं भी शयन करते थे। उस समय सेवा परायण भक्तों को समय–समय पर उनका हाथ पैर दबाने का सुयोग प्राप्त होता था।

उनको घड़ी व्यवहार करते कभी नहीं देखा। तथापि उनका जिस समय का जो कार्य होता, वह ठीक समय पर सम्पादित होते देखा जाता था। वे समय के सदव्यवहार का और निर्दिष्ट कार्य सम्पादन का आदर्श दिखला गए हैं।

समाचार पत्र श्रवण

देश तथा जगत् की घटनाओं का खबर रखना और उस सम्बन्ध में आलोचना करना विचारशील व्यक्ति मात्र का ही एक विशेष कर्तव्य है, इस बात का प्रदर्शन करने के लिए ही, जान पड़ता है, वे जब अपराह्न में बाहर चबूतरे पर आकर बैठते थे, तब अखबार पढ़ने वाले सज्जनों से सामयिक विशेष विशेष वृत्तान्तों को सुनते थे और उनके सम्बन्ध में अपनी राय भी कभी–कभी प्रकट करते थे। यूरोपीय युद्ध के समय श्रीयुत हेमन्त बिहारी घोषाल नामक उनके एक इलाहाबाद निवासी बंगाली भक्त शिष्य (वे उस समय गोरखपुर में रेलवे पुलिस विभाग में चाकरी करते थे) अनेकों अंग्रेजी अखबारों से विशेष–विशेष वृत्तान्तों को यत्न पूर्वक संग्रह करके रोज अपराह्न में लाकर उनको उर्दू भाषा में सुनाते थे। वे बीच में 'हाँ' 'हूँ' उच्चारण करके कभी–कभी एक आध प्रश्न भी पूछ देते थे, कभी–कभी अपना एक आध मन्तव्य भी प्रकाशित कर देते थे, वक्ता का उत्साह वर्धन करते थे। उस समय वहाँ बहुत से साधु ओर गृहस्थ उपस्थित रहते थे। सभी लोग सब सम्बाद बड़े आनन्द के साथ सुनते थे। कभी–कभी देश की सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक विशेष–विशेष घटनाओं का उनके समक्ष वर्णन करके उनकी निजी राय पूछी जाती। तब वे अपनी अंगुलियों को ईषत् संचालित करके अत्यन्त सुमधुर सुललित सहज हिन्दी भाषा में उस सम्बन्ध में दो चार शब्दों में उपदेश प्रदान करते थे। इस प्रकार वे देश के

और जगत् के समष्टिगत जीवन के साथ हमारे व्यक्तिगत जीवन का योग कायम रखने की शिक्षा देते थे।

व्यावहारिक उदारता

जब कोई याचक यथार्थ अभाव लेकर उनके निकट उपस्थित होता तो कभी भी उसको विमुख न जाने देते थे। अर्थ द्वारा, वस्त्र द्वारा, आहार की व्यवस्था द्वारा, जिस प्रकार एक गृहस्थ या मठाधीश को अर्थियों की प्रार्थना की पूर्ति करना उचित है, उसी प्रकार वे याचकों के प्रयोजनानुरूप व्यवस्था कर देते थे। प्रजागणों के जीवन में किसी प्रकार का अभाव या संकट उपस्थित होने पर, वे लोग बाबाजी के पास दौड़कर उसी प्रकार पहुँच जाते, जैसे बालक अपने पिता के पांस पहुँचता है, और अपनी इच्छा पूर्ति के लिए अड़ जाता है; और बाबाजी के समक्ष वे लोग अपनी आवश्यकता निवेदन करते थे। बालक जैसे पिता के ऊपर इच्छापूर्ति का हक रखता है, उसी प्रकार इन प्रजागणों का भाव बाबाजी के प्रति था। यद्यपि वे सर्वदा ही अन्तर्मुख रहते थे, एवं प्रायः उनकी बातों का उत्तर प्रत्युत्तर न देते थे, तथापि जब वे उन लोगों की ओर ताकते थे, तब उस दृष्टि के भीतर से एक–एक ऐसी स्नेह और करुणा की धारा प्रवाहित होती कि, उससे ही वे लोग प्लावित हो जाते, उनकी अभाव की ज्वाला घट जाती, और इस सम्बन्ध में उन्हें कोई भी सन्देह न रह जाता कि, हमारे अभाव और दिक्कतों के कारण अब नष्ट हो जायेंगे। वे भी इस प्रकार की व्यवस्था कर देते थे कि प्रजागण के दुःख घट जांय तथा सन्तोष और शान्ति बढ़ जाय।

डाकखाना या तारघर का चपरासी जब मनीआर्डर या तार लेकर आता, तभी वे उन लोगों को प्रति बार ही एक या दो आना बकशीश देते थे। एक बार उन्होंने एक उपस्थित भक्त को आदेश दिया; 'उसको दो आना दे दो'। भक्त एक आधुनिक शिक्षा में शिक्षित सज्जन थे। वे प्रतिवाद करके युक्ति द्वारा बाबाजी को समझाने का

प्रयत्न करने लगे कि, ये लोग इस कार्य के लिए सरकार से उचित मासिक वेतन पाते हैं। इस कार्य को ईमानदारी के साथ सम्पादन करने के लिए ये लोग कानून से बाध्य हैं, इसमें पुरस्कार योग्य तो कुछ नहीं है। यदि एक व्यक्ति उसे उपहार दे और दूसरा न दे, तो न देने वाले के प्रति इनके कर्तव्य पालन में अवहेलना आ सकती है, इत्यादि। उनका वक्तव्य बाबाजी ने अपने स्वभावसिद्ध मौनभाव में सुन लिया, एवं अपना कथन समाप्त करके जब वे नीरव हुये और बाबाजी का आदेश सुनने के लिए ताकने लगे, तब बाबाजी उसी प्रकार मृदु भाव से फिर बोले, 'दो आने दे दो।' भक्त बेचारा अप्रतिभ होकर बाबाजी के पैसे में से दो आना निकालकर डाकिये को दे दिया। डाकिया प्रणाम करके चला गया। तब भक्त ने अपनी धृष्टता के लिए क्षमा मांगी। बाबाजी ने धीर भाव से अपना उद्देश्य उन्हें समझा दिय कि, ये लोग सरकार से जो वेतन पाते हैं वह उनकी आवश्यकता की तुलना में, परिश्रम की तुलना में और दायित्व की तुलना में बहुत ही कम हैं। ये बेचारे दरिद्र हैं, जो लोग सम्पन्न हैं, उनसे कुछ मिलने को इनकी आशा रहती है, कुछ पाने से अपने कर्तव्य पालन में इनका उत्साह बढ़ता है, अभाव के कष्ट से ही एवं परिश्रम और दायित्व के अनुपात में अर्थ न पाने से ही प्रायः काम में शिथिलता आती है, भय से कार्य करने की अपेक्षा उत्साह के साथ कार्य करने पर कार्य भी सुन्दर होता है, अपना भी कल्याण होता है।

साधुओं और ब्राह्मणों को भोजन कराकर तृप्त कर देने में उन्हें विशेष आनन्द मिलता था। उत्सव आदि के उपलक्ष में वे उनको भोजन कराकर वस्त्र आदि दान करते थे। जब कभी उन्हें आश्रम से बाहर जाना होता था, तो वे यात्रा मंगल के अंगरूप में साधु और ब्राह्मणों को तृप्तिपूर्ण भोजन कराते थे और दरिद्रों को पैसा बाँटकर तब यात्रा करते थे। कभी–कभी तो साधु ब्राह्मणों को

तृप्त करने का ही एक उत्सव मनाते थे। जिस ऋतु में जो फल अथवा खाद्य सामग्री प्रचुर मात्रा में पायी जाती है, वही वस्तु साध ु और ब्राह्मणों को खूब खिलाने के लिए प्रायः ऋतुओं में एक ऐसा ही उत्सव मनाते थे। गोरखनाथ मन्दिर के संश्लिष्ट कई आम के बाग हैं और उनमें बहुत आम होता है। जब भी मन्दिर में अधिक आम आ जात, वे एक विशेष भोज की व्यवस्था करते थे, इसके अतिरिक्त बहुत लोगों को आम बाँटते भी थे।

साधु ब्राह्मण आदि के निमन्त्रण के समय वे बड़ी सावधानी के साथ इन बातों पर दृष्टि रखते थे कि उनके भोजनादि कार्यो में कोई विघ्न न पड़े, उनकी तृप्ति में किसी प्रकार का व्याघात न हो, कोई भी व्यक्ति अभुक्त या अर्धभुक्त अवस्था में ही न लौट जाय, किसी के आद सत्कार में किसी प्रकार की त्रुटि न हो जाय, और ऐसे समय आवश्यकता पड़ने पर कभी–कभी ऐश्वर्य का भी प्रकाश कर देते थे।

ऐश्वर्य प्रकाश

इसी सम्बन्ध में दो एक घटनायें सुनी गई हैं। एक बार मन्दिर में भोजन के लिए ब्राह्मणों को निमन्त्रित किया गया। निमन्त्रित ब्राह्मणों की संख्या के अनुसार चीजें तैयार की गई। किन्तु आहार के समय देखा गया कि जितने ब्राह्मणों के लिए आयोजन किया गया था, उससे दुगुने की अपेक्षा भी अधिक ब्राह्मण आकर उपस्थित हुए। जिनके ऊपर इस कार्य की व्यवस्था का भार था, वे लोग तो देखकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। ब्राह्मणों को बिना खिलाये लौटा देना तो अकल्पनीय था, तथापि भोजन सामग्री तो सीमित ही थी, सबके लिए पूरा पड़ना भी असम्भव था। दूसरा कोई उपाय न देखकर लोग दौड़कर बाबाजी के पास पहुँचे और उपस्थित घटना का निवेदन किये। उन्होंने इस संकट की व्यवस्था की विवेचना करके एक नवीन चद्दर खोलकर उसी से खाद्यसामग्री

को ढक दिये और एक किनारे से परोसने का आदेश दिये। अन्त में देखा गया कि सभी अभ्यागत भोजन करके तृप्त होकर चले गये, तथापि पर्याप्त सामग्री बची रही।

और भी एक बार आम के मौसम में केवल आम खाने के लिए निमन्त्रण दिया गया। उस दिन भी अभ्यागतों की संख्या अप्रत्याशित रूप से इतनी बढ़ गई कि, जितना आम घर में था उतने से उन सबको तृप्त करना सम्भव न था। बाजार से खरीदकर मंगाने के लिए समय न रह गया था। सभी लोग घबड़ा गये। 'स्थिरबुद्धिरसंमूढ़:' महापुरुष तब धीरभाव से आदेश दिया कि, सब आम लाकर इस खाट के नीचे रख दो। जब आम आ गया तो उन्होंने उनको एक कपड़े से ढक दिया एवं एक किनारे से खर्च करने का आदेश दिया। उस दिन भी सब लोग खूब खाकर तृप्त हो गये, और अन्त में पर्याप्त मात्रा में बच भी गया।

इस प्रकार अतिथि सेवा में कोई त्रुटि न हो, इस विचार से कभी कभी अपने व्यावहारिक जीवन के साधारण नियमों का किसी हद तक उल्लंघन करके उन्होंने इस बात की शिक्षा दी थी कि सेवा धर्म कितना महान् है।

सेवा धर्म

विद्यार्थियों को विद्याध्ययन में सहायता करना एक प्रधान कर्तब्यकर्म है, इसलिए वे ऐसा आचरण करने के लिए शिक्षा देते थे। उनकी सहायता से कितने ही गरीब विद्यार्थी पढ़ रहे थे। जब भी कोई विद्या का सच्चा इच्छुक बालक या युवक सहायता के लिए उनके निकट उपस्थित होता तो वे अन्न, वस्त्र अर्थादि द्वारा यथासाध्य (लौकिकरूप से) उनके अध्ययन की सुविधा कर देने की चेष्टा करते थे। अतिथि सेवा में वे जिस प्रकार के आग्रह और पटुता का प्रदर्शन कर गये हैं, वैसा तो विशेष धर्मनिष्ट कर्तव्यपरायण

गृहस्थों के बीच में भी कदाचित ही देखा जाता है। जब कोई अतिथि गोरखनाथ मन्दिर में आता था, तो उसको किस समय किस वस्तु के प्रयोजन होनें की सम्भावना होगी, इसकी व्यवस्था वे पहले से ही किये रहते थे। नित्य निरन्तर समाहित भाव में अवस्थित रहने पर भी उनकी सुतीक्ष्या दृष्टि से यह बात छिपी न रह पाती थी कि, कहाँ किस अतिथि को कौन सी असुविधा हो रही है, अथवा किस समय किसको किस वस्तु की आवश्यकता उपस्थित हुई। अपनी अन्तर्मुख अवस्था में ही वे बीच–बीच में हठात् किसी सम्मुखस्थ भक्त या सेवक को आदेश देते कि आश्रम के अमुक स्थान पर कुछ लोग हैं उनको शीघ्र ही अमुक–अमुक वस्तु दे आओ अथवा अमुक विषय का बन्दोवस्त कर दो। कभी–कभी स्वयं जाकर अतिथियों की सुविधा असुविधा की जिज्ञासा करते एवं अनेक प्रकार से उनको सन्तुष्ट करते थे। एक ही समय जीव विभिन्न स्थानों से आने वाले, विभिन्न जाति के बहुत से अतिथि आकर आश्रम में उपस्थित हो जाते थे, तब भी उनमें से प्रत्येक को यही अनुभव होता था कि मठाध्यक्ष बाबा गम्भीरनाथ की आतिथ्यपूर्ण सयत्न दृष्टि मेरे ही ऊपर है। इस विषय में प्रयोजन आ जाने से कभी–कभी वे अपनी अलौकिक शक्ति का भी परिचय देते थे।

कुछ बंगाली भक्त सपरिवार आश्रम में आ गये, मन्दिर के पीछे बगीचे में उन्हें ठहराया गया, भण्डार से चावल, दाल, तरकारी, मसाला, लकड़ी आदि सब चीजें उनके पास भेज दी गईं, उन लोगों ने भोजन बनाना आरम्भ कर दिया। बाबाजी भक्तों के साथ अपनी कोठरी में बैठे हैं सहसा उन्होंने दो सेवकों को बगीचे में थोड़ी सी अच्छी सूखी लकड़ी पहुँचा देने की आज्ञा दी। वे तो बिचारे चकित होकर उसी समय सर पर लकड़ी का बोझा लेकर बगीचे में पहुँचे तो देखा कि पहले की लकड़ी गीली थी, इसलिए उन लोगों को भोजन पकाने में असुविधा हो रही थी। ऐसी ही घटना कई बार देखी गई थी।

श्रीयुत शारदाकान्त बन्धोपाध्याय द्वारा संगृहीत 'बाबा गम्भीरनाथजी' ग्रन्थ में श्रीयुत् अभयनारायण राय महाशय ने बाबाजी की अतिथि सेवा का एक उज्जवल विवरण लिपिबद्ध किये हैं।

'बाबा गम्भीरनाथ के गोरक्षपुर आश्रम में स्वर्गीय योगजीवन गोस्वामी आदि के साथ मैं एक बार गया था। हम लोगों का जिस प्रकार स्नेह और आदर के साथ उन्होंने सेवा की थी, वैसी मैने कहीं भी नहीं देखी। गृहस्थ लोग उस प्रकार से सेवा करना जानते भी नहीं और कर भी नहीं सकते।'

जिस समय से उन्होंने बंगाली सज्जनों को दीक्षा देना आरम्भ किया, उसके बाद से ही अनेकों भद्र बंगाली परिवार के दल उनके पास आते रहते थे। उन सबके आहार आदि की व्यवस्था वे अपने ही भण्डार से करते थे, और इस बात पर हमेशा दृष्टि रखते थे कि उन लोगों को किसी प्रकार की असुविधा न हो। उनके कई शिष्य इसमें थोड़ा संकोच अनुभव करके सीधा आदि बाजार से खरीद कर अपने भोजन की व्यवस्था कर देने की इच्छा प्रकट किये; किन्तु बाबाजी ने इस बात का अनुमोदन नहीं किया। उन्होंने कहा, 'आप लोग मेरे अतिथि हैं, आपकी सेवा करना मेरा अवश्य कर्तव्य है वे अवश्य ही गृहस्थों को साधु सेवा के लिए समर्पित सामग्री प्रतिदिन दिये बिना ग्रहण करने का उपदेश न देते थे। वे अपने शिष्यों को साधुओं को खिलाने के लिए भण्डार देने एवं नाना प्रकार से साधु सेवा करने का उपदेश देते थे।

आश्रम के पशुपक्षी कीटपतंगो के आहार आदि की ओर भी उनकी दृष्टि रहती थी। आश्रम के चिड़ियाखाने में अनेक पशु थे। उनमें एक बाघ भी था, जिसके विषय में पहले उल्लेख हो चुका है। अनेक लोग गाय आदि पशु मन्दिर में उपहार चढ़ाते थे। उन के आहार और सुविधा की व्यवस्था तो वे करते ही थे, कीटपतंगो को

खिलाने की व्यवस्था भी करते थे। उनके विशेष कर्तव्यों में यह भी एक कर्तव्य था कि वे बीच–बीच में आश्रम के गौ शाले में जाकर जानवरों की देखरेख और आदर यत्न करते थे।

उत्सव आदि के उपलक्ष में जो ज़ो निर्दोष आमोद–प्रमोद के रिवाज बहुत दिनों से चले आते थे, उन सबको वे क़ायम रखते थे एवं स्वयं भी उनमें योगदान करके सबका उत्साह बढ़ाते थे और उनके भीतर एक पवित्र भाव का संचार करते थे। आश्रम में एक हाथी था। हाथी उनका विशेष वाहक था। दशहरा के दिन वे हाथी के पीठ पर चढ़कर गोरखनाथ के मेला में रामलीला देखने जाते थे। उनके साथ बहुत लोग जाते थे। वे दोनों तरफ पैसा लुटाते हुए जाते थे और दरिद्रगण उसे लूटते थे।

वे गोरक्षनाथ की ज़मीदारी में रहने वाले प्रजागण की अवस्था अपनी आँखो से देखने के लिए तथा उन लोगों के सब प्रकार के झगड़े बखेड़े को निपटा करके और दुःख कष्ट का निवारण करके उनके चित्त में सन्तोष और प्रसन्नता उत्पन्न करने के लिए, दो महीना देहात में निवास करते थे। उनकी उपस्थित से ही सवत्र शान्ति विराजने लगती थी। प्रजागणों का दल उनके दर्शन के लिए आता एवं दर्शन और प्रणाम करके कृतार्थ हो जाता था। प्रजागण स्वभाव से ही उनके प्रति अत्यन्त अनुरक्त थे। आज भी वे लोग गोरखपुर आने पर बाबाजी के समाधि मन्दिर के सामने खड़े होकर उनकी मूर्ति के समक्ष अपने प्राणों की सारी वेदना निवेदन करके उनकी महिमा का कीर्तन करके आँसू बहाते हैं। उनके तिरोधान पर गाँवों के दरिद्र प्रजागण अपने को पितृहीन समझते थे।

चतुर्दश अध्याय

शिष्य समागम

योगिराज गम्भीरनाथजी की यद्यपि एक महासिद्ध महाज्ञानी शिवस्वरूप महापुरुष के रूप में सर्वत्र प्रसिद्धि और मर्यादा थी, तथा अपने आलोक सामन्य जीवनवृत्ति द्वारा सर्वत्र आध्यात्मिक प्रभाव का विस्तार करते थे, तथापि शिष्य बटोरना न चाहते थे। दीक्षा प्रदान करना तो दूर रहा, मौखिक उपदेश प्रदान करने में भी वे अनिच्छा ही जाहिर करते थे। धर्मपिपासु लोग उनकी अनन्य साधारण वृत्ति, भाव और आकृति को देखकर स्वभावतः ही उनकी ओर आकृष्ट हो जाते थे, उनके स्निग्ध मधुर दृष्टिपात से गम्भीर सहानुभूति व्यक्त होती थी, किन्तु वे किसी को शिष्यरूप में ग्रहण तो करते ही न थे, और यहाँ तक कि आचरण के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से उपदेश देने में भी संकोच ही करते थे। अनेको दीक्षा प्रार्थियों का उन्होंने प्रत्याख्यान कर दिया था। पहले यह बात लिखी जा चुकी है कि, पूज्यपाद विजयकृष्ण गोस्वामी महाशय कई भक्तों के साथ उनके निकट जाकर उनसे धर्मोपदेश देने की प्रार्थना किये, ओर उन्होंने यही उत्तर दिया कि, 'हम कुछ नहीं जानता।'

१८६६ ई० में बाबाजी जब ग्रहण के उपलक्ष्य में काशी गये थे, उस समय बाबा ब्रह्मनाथजी काथीवार से सद्‌गुरु की खोज में घूमते–घूमते उनका दर्शन प्राप्त किये, एवं उनके साथ रहकर मन, वाणी और शरीर से उनकी सेवा करने लगे। सेवा कार्य में उनकी दक्षता और तत्परता देखकर अनेकों साधु चम्त्कृत हो जाते थे, कई वर्षो के बाद बाबाजी ने कृपा करके ब्रह्मनाथजी को चेला बनाकर संन्यास प्रदान किया। उन्होंने सर्वप्रथम ब्रह्मनाथजी को ही संन्यासी चेला बनाया था। महन्त सुन्दरनाथ के देहान्त के बाद वे गोरक्षनाथ मन्दिर के महन्त पद पर अभिशिक्त थे। सन् १९३५ ई० में उनका देहत्याग हुआ था।

कालीनाथ ब्रह्मचारी की सेवा

बाबाजी के प्रथम बंगाली सेवक थे स्वर्गीय कालीनाथ ब्रह्मचारी। वे विक्रमपुर के कामारगाँ ग्राम के निवासी थे, एवं नाम था काली किशोर चक्रवर्ती। वे पुलिस विभाग में काम करते थे। नाना प्रकार की अशान्ति को भोगकर उन्होंने नौकरी छोड़ दिया और सद्गुरु की खोज करने के लिए बाहर निकल पड़े। घूमते–घूमते गया में पहुँचे एवं बाबाजी के भक्त श्रीयुत् वरदाकान्त बन्द्योपाध्याय महाशय के शरणापन्न होकर उनकी सहायता से बाबाजी के निकट उपस्थित हुए। बाबाजी ने उनको कृपा करके सान्त्वना और उपदेश देकर काशी भेज दिया। बाबाजी के प्रति उनका असाधारण अनुराग था। बाबाजी जब गोरखपुर आकर मठाध्यक्ष का पद स्वीकार कर लिये, उसके कुछ ही काल बाद कालीनाथ गोरखपुर आ गये एवं अपना समस्त देह, मन, प्राण उनको समर्पण करके उनकी सेवा में प्रवृत्त हो गये। उनकी सेवा भी अनन्य साधारण थी। मां जिस प्रकार छोटे बच्चे की सेवा करती है, वे भी उसी प्रकार वात्सल्य भाव से बाबाजी की सेवा करते थे। बाबाजी अपने देह के सम्बन्ध में तथा दैहिक आवश्यकताओं के सम्बन्ध में बहुत कुछ एक बालक के ही समान थे। उनके लिए न कुछ इष्ट था न अनिष्ट, न था तिक्त न मधुर ग्रहण भी न था, वर्जन भी न था, अपनी देह की रक्षा के तरफ उनका ध्यान ही न था; अपने सम्बन्ध में वे सम्पूर्ण रूप से उदासीन थे। उनके लिए जीवन–मरण दैहिक आराम और क्लेश समान थे।

'सर्वत्र समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु'– उनके लिए स्वभावसिद्ध था। कालीनाथ ब्रह्मचारी ने उनकी सेवा का ब्रत लेकर उनके शरीर के देखभाल करने का भार उठा लिया। वे भोजन बनाने में बहुत प्रवीण थे। अपनी कोठरी में अपने शौक से नाना प्रकार की चीजं बनाकर बाबाजी को आहार कराते थे। यदि इसमें बाबाजी कभी कोई आपत्ति उठाते तो वे नाराज हो जाते थे,

कभा–कभी मीठी–मीठी बातें कहकर उन्हें छोटे बच्चे की तरह समझाने लगते थे; कभी–कभी दो एक कड़ी फटकार भी सुना देते थे। और कभी–कभी रूठकर स्वयं ही खाना पीना बन्द कर देते थे। बाबाजी एक बालक के समान जैसे डर के कारण उनकी मर्जी के अनुसार आहारादि कर लेते थे। कभी–कभी ऐसा होता कि बाबाजी भोजन करने बैठे हैं। (भोजन के समय उनके कमरे में किसी को न रहने का नियम था), एवं ब्रह्मचारी सम्भवतः अपने कमरे में बैठकर और लोगों से बातचीत कर रहे हैं या तम्बाकू पी रहें हैं, सहसा दो हरे मिर्चे लेकर दौड़कर बाबाजी के कमरे में पहुँचे। उनको सहसा ख्याल आ गया कि किसी एक विशेष तरकारी के साथ हरी मिरच मिलाकर खाने से बहुत स्वादिष्ट होता है। वे बाबाजी के पात्र में मिरच डालकर उनकी तरकारी के साथ मिलाकर खाना खिला देते। वे किसी काल में किसी भी कार्य में व्यस्त होते, किन्तु उनकी दृष्टि मानो सर्वदा ही इस बात की ओर निबद्ध रहती थी कि, बाबाजी को किस समय क्या प्रयोजन हो सकता है। वे अपने हाथ से बाबाजी का बिस्तरा लगाते थे। चारपाई के ऊपर एक–एक कम्बल बिछाकर उसको हाथ से और तकिये से रगड़ कर खूब चिकना कर देते थे। बाबाजी के सेवा सम्बन्धी छोटे–छोटे कार्यो के ऊपर भी वे इसी प्रकार सतर्क रहते थे। सेवा का भार ले लेने के बाद से वे नौकर को भी विशेष कार्य नहीं करने देते थे। ऐसा वात्सल्य भाव की सेवा शायद ही कोई दूसरा शिष्य या भक्त कर सका हो।

निकट भविष्य में बहुत से बंगाली शिष्यों को लेकर बाबाजी का जो एक वृहत् परिवार गठित होने वाला था, कालीनाथ ब्रह्मचारी उसी परिवार के अग्रदूत बने। परवर्तीकाल में जितने बंगाली नर–नारियों ने बाबाजी के चरणों का आश्रय लिया, उन सबको वे अपना भाई बहन समझते थे, आदर यत्न करते थे, सेवा करते थे

और भर्त्सना भी करते थे। वे सबके ही 'ब्रह्मचारी दादा थे।

सन् १९०६ ई० से बाबाजी दो एक बंगालियों को शिष्यरूप में स्वीकार करना आरम्भ किया। वर्तमान युग के शिक्षित बंगाली धार्मिकगण प्रधानतः महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी के जीवन और उपदेश के प्रभाव से सद्‌गुरु के आश्रय ग्रहण की आवश्यकता अनुभव किये थे।

सद्‌गुरु शरणागति

सभी शास्त्रों का यही उपदेश है कि, तत्वज्ञानपिपासु मुमुक्षुओं के सद्‌गुरु के शरणापन्न होना अति आवश्यक है। उपनिष्द् का वाक्य है,–

तद्विज्ञानार्थ स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।'

अर्थात् तत्वज्ञान प्राप्ति के उद्देश्य से मुमुक्ष को समित्पाणि होकर शास्त्रज्ञानसम्पन्न ब्रह्मनिष्ठ गुरु के शरणापन्न होना चाहिए। गीता में श्री भगवान् कहते हैं,–

तद्विद्वि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेच्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्व दर्शिनः।।

अर्थात् तत्वदर्शी महापुरुषों के शरणापन्न होकर प्रणिपात, सेवा और प्रश्नजिज्ञासादि द्वारा उस ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति करो; वे तुम्हें ज्ञान का उपदेश करेंगे। इस श्लोक के भाष्य में ज्ञानी गुरु शंकराचार्य ने लिखा है,– 'ये सम्यगदर्शिनस्तैरूपदिष्टम् ज्ञानं कार्यक्षमं भवति, नेतरदिति भगवती मतम्।' अर्थात् जो सम्यदर्शी हैं, उनका उपदिष्ट ज्ञान ही कार्यक्षम होता है, दूसरा (पुस्तकपाठदिजनित) ज्ञान नहीं, यह भगवान् का मत है। वेदान्ताचार्य शंकर ने और भी स्पष्टरूप से अपने 'तत्वोपदेश' नामक ग्रन्थ में लिखा है,–

आत्मा प्रकाशमानोऽपि महावाकयैस्तथैकता।

तत्वर्मोध्यतेऽथापि पौर्वानुसाण्तः।।

तथापि शक्यते नैव श्रीगुरोः करुणां विना।

अपरोक्षयितुं लोके मूढैः पण्डितमानिभिः।।

यद्यपि आत्मा स्वयं प्रकाशमान् है, एवं वेदान्त वाक्यों का पौर्वापर्य विचार करके 'तत्वमसि' आदि महावाक्यों के तात्पर्य का अनुसन्धान करके विचारवान साधक जीव और ब्रह्म को अभिन्नता हृदयंगम कर ले सकता है, तथापि श्रीगुरु की करुणा के बिना कोई भी अविद्याग्रस्त व्यक्ति अपने पाण्डित्य के बल से आत्मा के अपरोक्ष साक्षात्कार करने में समर्थ हो सकता। विवेक चूड़ामड़ि में उन्होंने लिखा है,–

उपसीदेद् गुरुं प्राज्ञं यस्माद् बन्धविमोक्षणम् ।

श्रीत्रियोऽवृजिनोऽकामहदो यो ब्रह्मवित्तमः ।।

ब्रह्मण्युपरतः शान्तो निरिन्धन इवानलः ।

अहैतुक दयासिन्धुर्वन्धुरानमतां सताम् ।।

तभाराध्य गुरुं भक्त्या प्राह्वप्रश्रयसेवनैः ।

प्रसन्नं तमतुप्राप्य पृच्छेद् ज्ञातव्यमात्मनः ।।

अर्थात् जो शास्त्रमर्मार्थदर्शी, पापगन्धविहीन, वासनालेश शून्य, ब्रह्मविद्बरिष्ट, सदा ब्रह्मभावभावित, निरिन्धन अग्नि के समान प्रशान्त एवं अहैतुक कृपासिन्धु और शरणागतवत्सल हो, ऐसे भवबन्धन मोचनकारी प्राज्ञ गुरु के निकट जाकर उनके शरणापन्न होना चाहिये; एवं भक्ति के साथ प्रणाम, विनय सेवा, सृश्रूषा आदि द्वारा गुरु की आराधना करके उन्हें प्रसन्न करके अपने ज्ञातव्य विषय की उनके निकट जिज्ञासा करनी चाहिये। हठयोग प्रदीपिका में स्वात्माराम

योगीन्द्र कहते हैं–

"दुर्लभौ विषयत्यागो दुर्लभं तत्वदर्शनम्।

दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विनां।।"

सद्गुरु की कृपा के बिना विषय वैराग्य, तत्वदर्शन एवं समाधि दुर्लभ है।

सभी शास्त्र और ज्ञानी महापुरुषगण सद्गुरु शरणागति को तत्वज्ञान और पराशान्ति की प्राप्ति के लिए अत्यावश्यक बतलाते हैं।

योगिराजजी का सद्गुरु रूप में लोकशिक्षा कार्य सन् १९०६ ई० से धीरे–धीरे आरम्भ हुआ। यह कार्य पहले गोस्वामी महाशय के शिष्यों के आत्मीयों तथा धार्मिक बन्धु–बान्धाओं में ही आरम्भ हुआ। गोस्वामी महाशय के एक शिष्य की अत्यन्त वृद्धा श्वश्रू की निरतिशय कातर प्रार्थना पर योगिराजजी ने उसके लिए कृपा किया। बाबा शान्तिनाथजी को भी उसी वर्ष दीक्षा मिली थी। उसी वर्ष और भी कई भक्तों को उनकी कृपा प्राप्त हुई थी। क्रमशः प्रतिवर्ष ही २०–२५ भक्तों के ऊपर उनकी कृपा होने लगी।

शिष्यों का अलौकिक रूप से आकर्षण

कितने लोगों को किन–किन अलौकिक उपायों से उनका पता मिला था और कैसे उनके प्रति आकृष्ट हुए थे, इन बातों का विशेष रूप से वर्णन करने का कोई उपाय नहीं है। कितनों की बातों का तो पता ही नहीं, कितनों की बातों को खोलकर लिखने का अधिकार नहीं है। उनका नाम तथा परिचय जानने के बहुत पूर्व किसी–किसी को स्वप्न में उनका दर्शन मिला और वे तभी से उनके प्रति आकृष्ट हो गये। किसी–किसी को दर्शन के पूर्व स्वप्न में उनसे दीक्षा भी प्राप्त हो चुकी थी। इस प्रकार अपने आश्रित जनों को खींचकर चरणापरान्त में एकत्रित करने लगे।

एक बालक नोआखाली जिला के किसी सुदूरवर्ती छोटे से गाँव में रहता था। बाल्यकाल से ही वह धार्मिक प्रवृत्ति का था। किन्तु महात्माओं के विषय की बाते सुनने का सुयोग उसे प्राप्त नहीं हुआ था। नितान्त अप्रत्याशित रूप में उसने स्वप्न में बाबाजी का दर्शन किया और उनके प्रति आकृष्ट हो गया। किन्तु उसको इस बात का बिलकुल ज्ञान न था कि, स्वप्न में जिनको उसने देखा था, वे कौन थे और कहां रहते थे। सुतराँ उन्हें जानने और प्राप्त करने के लिए उसकी व्याकुलता बढ़ती ही गई। बहुत दिनों के बाद कार्यवश उसको फेनीनगर में जाना पड़ा, वहाँ पहुँचकर उसने एक धार्मिक मित्र को अपने स्वप्न का वृतान्त सुनाया और स्वप्न में देखे हुए पुरुष का वर्णन किया। तब उसके मित्र ने कहा कि, सम्भवतः वे गोरखपुर के बाबा गम्भीरनाथ होंगे। फेनी में बाबाजी के कुछ शिष्य थे। उसको एक शिष्य के घर ले जाकर बाबाजी का चित्र दिखलाया गया, देखते ही उसका संशय मिट गया, एवं आनन्द और उत्कण्ठा से वह अधीर हो उठा। बालक बिचारा नितान्त दरिद्र था, यात्रा का खरच वहन करने में असमर्थ था, तथापि व्याकुलता तीव्र थी। पाथेय संग्रह करके फेनी से ही चल पड़ा। तीसरे दिन रात्रि में ३ बजे के समय गोरखपुर स्टेशन पर पहुँचा, और इक्का करके गोरखनाथ मन्दिर पहुँचकर देखा कि , बाबाजी एक चारपाई पर बैठें हैं और पास में एक दीपक जल रहा है। प्रणाम करते ही उन्होंने इतने स्नेह के साथ सम्बोधन किया, कुशल पूछा और शयन आदि कि व्यवस्था कर दिया कि, उसको यही जान पड़ा कि मानों उसके लिए ही वे रोशनी जलाकर बैठे हुए प्रतीक्षा कर रहे थे, और पहले से ही शयन आदि का बन्दोवस्त कर रक्खे थे। गुरुदेव के तिरोधान के बाद वह सन्यास ग्रहण करके हिमालय में जाकर योग साधना में निमग्न हो गया। वे महात्मा बहुत साल यावत् उत्तर काशी और गंगोत्री के योगाश्रम प्रतिष्ठा करके योगसाधननिरत रहते हैं, और बाबा प्रज्ञानाथ नाम से प्रसिद्ध हैं। उनके बहुत

भक्त भी हैं।

मयमनसिंह निवासी एक बालक एक बंगाली योगी पुरुष का अनुगत था, एवं उनके शिष्यों के साथ मिल जुलकर धर्मचर्चा और साधन भजन किया करता था। ध्यान अभ्यास करते–करते उसके हृदयपट पर अदृष्टपूर्व और अश्रुतपूर्व महापुरुष की मूर्ति प्रकट हुई। उसको इस बात की भी जानकारी न थी कि इस प्रकार का कोई महापुरुष जीवित है या नहीं। किन्तु घटनाओं के सिलसिले में बाबाजी के एक शिष्य के घर पर अपने ध्यान में देखी हुई मूर्ति का फोटो देखकर वह चकित हो गया। जब उसे मालूम हुआ कि ये गोरखपुर के महात्मा हैं, तब उनके चरणों में आश्रय प्राप्त करने के लिए वह व्याकुल हो उठा, एवं उनके दो एक शिष्यों का पता पाकर उनसे भी अनुरक्त हो गया। नितान्त बालक होने के कारण उसके लिए अकेले गोरखपुर यात्रा करना सम्भव न था। कुछ काल प्रतीक्षा करने के बाद बाबाजी के कृपापार्थी अपने एक शिक्षक के साथ गोरखपुर जाकर उसने अपने अभीष्ट महापुरुष का आश्रय प्राप्त कर लिया। यह बालक भी गुरुदेव की तिरोधान के बाद संसार का सम्बन्ध त्याग करके साधना में लीन हो गया।

कुमिल्ला के एक डाक्टर ने स्वप्न में देखा कि, मानों वह एक नये स्थान पर आ गया है, एवं वहाँ पर एक महानपुरुष बड़े स्नेह के साथ अपने साथ बुलाकर ले गये हैं। स्वप्न में भी उन्हें दीक्षा मिली। तब उन्हें इस बात की चिन्ता शुरु हुई कि, वे महापुरुष कौन हैं, कहाँ रहते हैं, और किस प्रकार का दर्शन हो सकता है। गोस्वामी महाशय के एक शिष्य उनके धार्मिक मित्र थे। वे एक दिन उस डाक्टर के घर पर गये और बेचैन देखकर बेचैनी का कारण पूछने लगे। डाक्टर ने उनको अपने स्वप्न का सारा वृतान्त सुनाया तब सारा वर्णन सुनकर उनके मित्र ने कहा कि सम्भवतः ये गोरखपुर के महात्मा बाबा गम्भीरनाथ, होगें, आप उनके निकट चले

जाइये। किन्तु हाथ में पैसा न होने के कारण उनको वहाँ जाने का कोई उपाय न सूझता था। हठात् अप्रत्याशित रूप से उनको एक दिन इतने रूपये की प्राप्ति हो गई, जो उन्हें सपरिवार गोरखपुर जाने के लिए पर्याप्त था। वे गोरखपुर गये और पहुँचकर देखे कि स्थान परिचित है, अर्थात् यह वही स्थान था जिसे उन्होंने स्वप्न में देखा था। दीक्षा ग्रहण करने के बाद उन्होंने बाबाजी को अपने स्वप्न का वृतान्त सुनाया, और स्वाभाविक धीरता के साथ सुनकर बाबाजी ने कोमल स्वर में कहा, "तुम्हारा संस्कार था, तुम्हारे साथ मेरा पहिले का सम्बन्ध था।"

एक भक्त हरिगंज में से रिस्तेदारी करता था। गोस्वामी महाशय के एक शिष्य का पत्र लेकर वह दीक्षा लेने के उद्देश्य से गोरखपुर की ओर यात्रा किया। रास्ते में, गया में उसको बाबाजी का दर्शन मिला। गोरखपुर पहुँचकर उसने देखा कि यह तो वही पूर्वदृष्ट मूर्ति है। गुरुदेव ने कृपा करके पहले ही दर्शन दे दिया, इस बात का विचार करके उनकी अहैतुक कृपा की बात सोच कर वह भाव में विभोर हो गया।

श्रीयुत् शारदाकान्त बन्द्योपाध्याय महाशय ने अपनी एक भागिनेयी के सम्बन्ध में लिखा है,– 'श्रीमान् हरेन्द्र जब दीक्षा लेने के लिए अपनी स्त्री और भगिनी श्रीमती किरण को साथ लेकर गोरखपुर गये, उस समय मेरी बड़ी भाभी श्रीमती हिरण्यमयी देवी दीक्षा ग्रहण करने के लिए न जा सकी। इस कारण हिरण को अत्यन्त क्लेश हुआ। जब श्रीमान् हरेन्द्र दीक्षा लेकर घर लौटे तो एक दिन प्रातःकाल हिरण प्रफुल्ल होकर हरेन्द्र से बोली,– 'पिछली रात्रि में मैंने एक सुन्दर स्वप्न देखा है।' हरेन्द्र ने पूछा,– 'क्या देखा? हिरण ने कहा,– 'स्वप्न में देखा कि गंगा के उस पार जाकर मैं एक पर्णकुटी में पहुँची। वहाँ मामा लोगों के गुरुदेव श्रीमन् गोस्वामीजी विद्यमान थे और वहीं एक दूसरा आसन लगा था।

गोसाईजी मुझे देखकर बोले– 'क्या चाहती हो ?' मैने कहा,– 'मैं आपसे दीक्षा लेना चाहती हूँ।' उन्होंने कहा,– मैं तुम्हारा गुरु नहीं हूँ, बाबा गम्भीरनाथ तुमको दीक्षा देंगे; वे पायखाने में गये हैं अभी आवेंगे, मैं उनसे कह दूँगा।' बाबाजी के आने पर गोस्वामी जी ने कह दिया, एवं मेरी दीक्षा हो गई।' श्रीमान् इरेन्द्र ने यह सुनकर बाबाजी का एक फोटो लाकर दिखाया और कहा, 'देख तो, जिस महापुरुष को देखा है, क्या उनका चेहरा इसी प्रकार था ?' हिरण बोली, 'हाँ' ये तो वे ही हैं।' बाद में जब बाबाजी से हिरण को साध ान प्राप्त हुआ, उस समय मन्त्र पाकर उसने कहा, स्वप्न में मुझे बाबाजी से जो मन्त्र मिला था, यह 'मन्त्र' भी वही 'मन्त्र' है।

श्रद्धास्पद मनोरंजन गुहठाकुरता महाशय ने लिखा है,–'मेरे एक आत्मीय के पिता उसको किसी एक विशिष्ट साधु से दीक्षा दिलवाने के लिए प्रस्तुत हो गये थे। इसी समय उस युवक ने स्वप्न में एक साधु का दर्शन किया, जो कि उसके पिता के द्वारा निर्दिष्ट साधु से भिन्न थे। अन्त में जब उसने बाबा गम्भीरनाथ का दर्शन किया, तो कहने लगा कि मैंने स्वप्न में इन्हीं को देखा था। उन्हीं से उसको दीक्षा मिली थी। युवक यह सोचकर डर गया था, कि इस घटना से पिताजी रुष्ट हो जायेंगे, किन्तु इस दीक्षा की बात सुनकर वे बिलकुल असन्तुष्ट न हुए। वे सब 'मिरेकल' नहीं है। मनुष्य का मनोराज्य हमारे लिए जितना अन्धकारमय, सबके लिए वैसा ही नहीं है। जिनका चित्त संयत होता है, उनका मनोराज्य पर पर्याप्त अधिकार हो जाता है।'

एक महिला की माता, भाई, बहन आदि कई लोग बाबाजी की कृपा प्राप्त कर चुके थे। वे लोग मयमनसिंह में रहते थे, और वहीं से गोरखपुर आये थे। महिला उस समय अपने पति के घर थी, एवं यथा समय मयमनसिंह न आ सकी, इसी कारण गोरखपुर भी न जा सकी। उसको दीक्षाा लेने के लिए विशेष व्याकुलता थी।

उसको स्वप्न में बाबाजी का दर्शन मिला, और उनकी कृपा भी प्राप्त हो गई। उसने दीक्षा मन्त्र अपने माता को बतलाया। माता कों जो मन्त्र मिला था वही मन्त्र कन्या को भी स्वप्न में मिला था। इस सौभाग्यवती महिला का थोड़े ही दिनों में देहान्त हो गया, सुतरां उसको बाबाजी का साक्षात् दर्शन न प्राप्त हो सका।

योगिराज गम्भीरनाथ के बहुत से शिष्य और शिष्यायें दीक्षा लेने के पूर्व ही, यहाँ तक कि उनके विषय में कुछ भी जानकारी प्राप्त करने के बहुत पहले, ऐसे ही अलौकिक रूप से उनका दर्शन पाकर उनकी ओर आकृष्ट हुए थे। बहुतों के लिए तो वहाँ जाने की सारी व्यवस्था भी ऐसे ही आश्चर्य रूप से सम्पन्न हो गई थी। इससे स्वभावतः यही जान पड़ता है कि, बाबाजी अपनी शिष्यमण्डली को आवाहन और आकर्षण करके अपनी कृपा से अपने गोद में खींच लेते थे, एवं उनके जीवन को सार्थक कर देते थे। तथापि साक्षात् दर्शन के समय वे कभी इस बात का कोई भी परिचय न देते थे। अलौकिक दर्शन के सम्बन्ध में कोई यदि साहस करके कुछ पूछता भी था तो प्रायः वे कहते थे कि, 'स्वप्न तो स्वप्न ही है, उस पर इतना मन लगाने की क्या आवश्यकता है ?' दो एक भक्तों को बड़ी व्याकुलता के साथ इसी बात की जिज्ञासा करने पर उनको मानो सान्त्वना प्रदान करने के स्वर में वे कह कह देते थे, 'तुम लोगो के साथ सम्बन्ध था' अथवा 'तुम्हारा संस्कार था।'

शिष्य संख्या

सन् १६१४ ई० तक उनकी शिष्य संख्या अधिक न बढ़ी थी, अनुमान से १०० से अधिक रही होगी। इसी वर्ष के पौष मास में नेत्रचिकित्सा के उपलक्ष्य में उनका कलकत्ता आगमन हुआ। वे जितने दिन कलकत्ते में रहे प्रायः प्रतिदिन अनेकों धर्म पिपासु व्यक्तियों को शिष्य रूप में ग्रहण करते रहे। कलकत्ता निवास काल में ही उनके शिष्यों की संख्या बहुत बढ़ गई। जब वे कलकत्ता से

लौटकर गोरखपुर आ गये, उसके बाद से शिक्षित बंगाली नर–नारियों के एक दल के बाद दूसरा दल गोरखपुर आने लगा। जिनको पहले दीक्षा मिल चुकी थी, वे लोग उनका दर्शन और चरणास्पर्श के लिए आते थे, एवं जिनको दीक्षा लेने की इच्छा, वे दीक्षा के लिए आते थे। सन् १६१७ में उनका देहान्त हुआ। उस समय तक इस प्रकार चलता रहा, एवं उनकी शिष्य संख्या उस समय तक ६०० से भी अधिक हो गई थी।

आन्तरिक संस्कार

बहुत से भक्त माता–पिता अपने–अपने छोटे–छोटे पुत्र कल्याओं को भी बाबाजी से दीक्षा दिलवा दिये थे। बाबाजी उन लोगों का भी कान फूँककर मन्त्र दे देते थे। वे सब अवश्य ही उस समय दीक्षा मन्त्र को स्मरण रखने में असमर्थ थे। उन शिशुओं में से किसी–किसी के सम्बन्ध में उन्होंने कहा था कि, समय आने पर स्मृतिपट पर मन्त्र की स्फुरणा। अपने आप होगी,– 'आपसे याद हो जायगा''– दूसरे किसी–किसी को उपयुक्त अवसर पर स्मरण करवा दने के लिए पिता को आदेश दिया था।

शास्त्र तथा ज्ञानी पुरुष एक स्वर से इस बात की घोषणा करते हैं कि; तत्वदर्शी युक्तयोगी महापुरुष से दीक्षा मिलने का अधिकार एक विशेष सौभाग्य की बात है और जन्मान्तरीण विशेष पुण्य के फल से ही ऐसे सौभाग्य की प्राप्ति होती है। किन्तु अन्त प्रकृति में किसका कैसा अधिकार है ? बाह्यदृष्टि से प्रायः इसका निर्णय नहीं होता है। एक स्थान पर रत्नों की खान है किन्तु उसके ऊपर मिट्टियों के कई तह तथा कूड़ा–करकट जमा हो सकता है। उस स्थान पर साधारण दृष्टिवाले व्यक्ति केवल मिट्टी–कूड़ा–करकट देखते हैं; किन्तु विशेषज्ञगण उस मिट्टी और कूड़े के भीतर ऐसे लक्षणों का अविष्कार कर लेते हैं, जिनसे उसके नीचे रहने वाली रत्नखानि की सत्ता के विषय में निश्चित ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

इसी प्रकार किसी–किसी व्यक्ति का अन्तर्जीवन समुज्जवल अध्यात्मिक अधिकार सम्पन्न होने पर भी, विशेष कुप्रारब्धववश उसके बहिर्जीवन में ऐसे बहुत से दोष आ सकते हैं, जिनको देखने से साधारण मनुष्यों को स्वभावतः ही उसके सम्बन्ध से भ्रान्त धारणा हो सकती है। जब तक भोग द्वारा कुप्रारब्ध का क्षय नहीं हो जाता, तब तक उसके अन्तर्जीवन के समुन्नत आध्यात्मिक भावों के बहिर्जीवन में सद्‌वृत्ति रूप से विकसित होने में बाधा बनी रहती है; सुतरां साधारण बुद्धिवाले लोग जो बाहर के व्यवहार को देखकर ही बिचार करते हैं, उतने दिनों तक उसको पहचान नहीं पाते। दूसरी ओर वहिर्जीवन में साधुवृत्ति सम्पन्न और शास्त्रज्ञान सम्पन्न लोगों के भी अन्तर में आध्यात्मभाव विरोधी ऐसे बहुत से संस्कार विद्यमान रह सकते हैं, जिनको देखने में असमर्थ साधारण लोग उसको साधु ही समझते हैं; परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से वह निम्न स्तर पर अवस्थित ही दिखाई पड़ेगा। इस सम्बन्ध में पौराणिक और आध्ुनिक दृष्टान्त शास्त्रों में तथा लोकसमाज में कम नहीं है। अतएव आध्यात्मिक जीवन में कौन किस स्तर पर अवस्थित है, इस बात को साधारण दृष्टि से बहिर्जीवन के आचार, कर्म, बुद्धि, पाण्डित्य आदि को देखकर निश्चय करना सब क्षेत्रों में निरापद नहीं हो सकता। आध्यात्मिक जीवन के विशेषज्ञ– अर्थात तत्वदर्शी महापुरुषगण लोगों का अन्तर्जीवन देख सकते हैं, बहिर्जीवन का आचार–व्यवहार अन्तर्जीवन के अनुरूप न होने पर भी उसके अन्दर अन्तर्जीवन का जो छाप पड़ता है उसको लक्ष्य करके प्रत्येक जीवन के विशेषत्व का अनुधावन कर सकते हैं, धर्मार्थियों के अन्तर्जीवन की आध्यात्मिक अवस्था का विचार करके ही लोकशिक्षक महापुरुषगण उनको शिष्यरूप में स्वीकार करते हैं, और उनके अधिकारानुरूप साधन का उपदेश करते हैं।

योगिराज ने दीक्षा देने का कार्य जब प्रारम्भ भी किया, तब भी प्रथम–प्रथम किसी–किसी दीक्षार्थी को वे प्रत्याख्यान भी कर

देते थे। किन्तु किसी प्रार्थी को जबाब देते ही उनके प्रेममय हृदय में एक वेदना सी अनुभूत होती थी। बाद में तो यह बात सुनने में न आई कि उन्होंने किसी दीक्षार्थी को जबाब दिया हो। किन्तु ऐसे लोग देखे गये थे, जिन्होंने अपने हृदय में अशान्ति की पीड़ा अनुभव करके और दीक्षा लेने के निमित्त उपस्थित होकर भी उनसे दीक्षा देने की प्रार्थना ही न कर सके; और इधर–उधर की बातें करके ही वापस चले गये। यह सब देखने से यही मालूम होता था कि, जो लोग उनसे दीक्षा प्राप्त करने के अधिकारी थे वें ही लोग उनसे दीक्षा की प्रार्थना भी कर सकते थे। जो लोग जबाब पाने योग्य थे, उनको उनके समक्ष दीक्षा के विषय का उल्लेख करने का ही साहस न होता था। उनसे यह बात पूछी गई थी कि, वे दीक्षार्थियों का अधिकार निरूपण किस प्रकार करते थे। वे साधारण लौकिक रूप से उत्तर देते कि जो लोग इतने दूर से इतना अर्थ व्यय करके और इतना क्लेश स्वीकार करके दीक्षा लेने के लिए आते हैं, उनका प्रात्याख्यान कैसे किया जाय ? धर्म के प्रति हृदय का आकर्षण न होने से क्या कोई इस प्रकार आवेगा। जो लोग पहले स्वप्न दर्शन करके उनके निकट आते थे, उन लोगो के इस विषय में प्रश्न करने पर वे प्रायः नीरव ही रहते थे। दो एक लोगों से कहे थे कि; मेरे साथ तुम्हारा पहले का सम्बन्ध था।'' यह सम्बन्ध किस प्रकार का था, इसकी व्याख्या अवश्य ही वे न करते थे।

संन्यास का महत्व

छः सौ से अधिक बंगालियों को उन्होंने दीक्षा दे कर कृतार्थ किया था, परन्तु उनमें से केवल दो व्यक्तियों को ही संन्यास आश्रम में प्रवेश करने की अनुमति प्रदान की थी। संन्यास जीवन के आदर्श के सम्बन्ध में उनकी कितनी उच्च धारणा थी, एवं अपने निज जीवन में उन्होंने उस संन्यास जीवन की मर्यादा को किस प्रकार रक्षण किया था, इसका आभास पहले ही दिया जा चुका है। अधिकार का

ख्याल न करके झुण्ड के झुण्ड लोग संन्यास आश्रम में प्रवेश करके संन्यास के आदर्श को किस प्रकार कलंकित करते हैं एवं हिन्दू समाज के परम गौरवास्पद संन्याश्रम को कितनी दुर्दशा में डाल देते हैं, इस सम्बन्ध में वे सर्वदा ही जागरूक रहते थे। इसी कारण एक ओर जिस प्रकार वे गृहस्थों को सन्यास और संन्यासियों के प्रति श्रद्धा रखने का उपदेश देते थे, दूसरी ओर उसी प्रकार साधारण संन्यासियों के साथ अधिक मिलने जुलने का भी निषेध करते थे; क्योंकि वर्तमान समय के साधुवेशधारियों के साथ अधिक मिलने जुलने से संन्यास ही के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न हो जाने की संभावना रहती है। यदि कोई संसार त्याग पूर्वक संन्यासाश्रम में प्रवेश करने की प्रार्थना करता था, तो वे यही कहते थे कि गृहस्थाश्रम का परित्याग करने से ही संन्यास जीवन की प्राप्ति नहीं हो जाती, संन्यास का वेश धारण करके भी बहुतेरे किस प्रकार बहिर्मुख, कलहपरायण और खल स्वभाव होते हैं, उसे तो देखते ही हो, इसकी अपेक्षा गृहस्थ रहकर संसार के विहित कर्तव्यों का सम्पादन करते हुये यथावसर भगवान् का स्मरण करने से अधिकतर कल्याण की प्राप्ति होती है; आध्यात्मिक उन्नति तो न गार्हस्थ्य ही के ऊपर निर्भर रहती है और न संन्यास ही के ऊपर; संन्यासी होकर भी साधन भजन में शिथिल रहने से मुक्ति नहीं प्राप्त होती, और गृहस्थ जीवन में भी भगवान् की सेवा समझकर कर्तव्य कर्म करने से, एवं अवसर के समय ऐकान्तिक अनुराग के साथ साधन भजन में निरत रहने से, एक जन्म में ही सिद्धि प्राप्त हो सकती है; जिसके अन्दर संन्यास के योग्य उत्तम संस्कार विद्यमान हैं, उन्हीं का संन्यासी होना उचित है।

संन्यास के प्रति आग्रह रखने वाले कई शिष्यों को उन्होंने इसी प्रकार का उपदेश देकर निवृत्त किया था और उन्हें गार्हस्थ्योचित धर्म में प्रवृत्त किया था। पिता माता, भाई बहन आदि सबका

परित्याग करके संन्यास ग्रहण करने के उद्देश्य से एक बालक कई महीने तक लगातार बाबाजी के साथ रहकर उनकी सेवा करता रहा। केवल गुरुसेवा और नामजप ही उसका कार्य था। वह कहता था कि, उस समय उसका साधन १६–२० घण्टा चलता था। पिता माता अवश्य ही उसको फिर घर वापस ले जाने का आग्रह कर रहे थे। कई महीने के बाद उसको समझा बुझा कर तथा नाना प्रकार के उपदेशों द्वारा उसके मन की तात्कालिक गति को परिवर्तित करके बाबाजी ने उसे घर भेज दिया, एवं पढ़ने लिखने, माता–पिता की सेवा करने और माता–पिता के आदेशानुसार विवाह करने का उपदेश दिया। एक दूसरा विवाहित युवक संसार से नितान्त वेराग्यवान् होकर नित्य निरन्तर साधन में निमग्न रहने के लिये कई बार बाबाजी से संन्यास की प्रार्थना किया, और एक बार तो संन्यास के लिए पूर्णतया तैयार होकर घर से भी बहिर्गत हो चुका था। किन्तु बाबाजी ने उसके लिए संन्यास का अनुमोदन नहीं किया, एवं नाना प्रकार के उपदेश देकर उसको गृहस्थ साधु रहने का आदेश दिया। इसी प्रकार और कई लोगों ने आग्रह के साथ संन्यास के लिए प्रार्थना किया, परन्तु किसी को भी उन्होंने संन्यास नहीं दिया।

बाबा शान्तिनाथ

उन्होंने केवल जिन दो व्यक्तियों को संन्यास दिया था, उन दोनों का जीवन वाल्यकाल से ही अनन्य साधारण थां 'अशिष्ठो, द्रढ़िष्ठो, बलिष्ठो मेघावी'– उपनिषदुक्त ये सभी लक्षण उनमें पूर्णमात्रा में विकसित थे। बाल्यकाल से ही उनका शरीर दृढ़, स्वस्थ और सबल था। अनुशीलन द्वारा वे अपनी पर्याप्त उन्नति भी कर लिये थे। शीतातपवर्षा, अनशन, अर्द्धाशन आदि सहन करने की उनके अन्दर असाधारण क्षमता थी। बाल्यकाल से उनका मन भोग सुख से विमुख, संसार से उदासीन और लोक संग का अनिच्छुक था। उनका साहस सुर्जेय एवं ब्रह्मचर्य अटूट था। उनके शरीर और मन

का गठन ही सर्वांश में आदर्श सन्यास जीवन यापन के उपयुक्त हुआ था। किन्तु उन दोनों को भी बाबाजी ने तत्काल ही संन्यास की दीक्षा नहीं दी थी। बाबा शान्तिनाथ को १६०६ ई० में दीक्षा प्राप्त हुई थी। उनके बाद उन्हें अनेको परीक्षाओं के भीतर से गुजरना पड़ा था। अनेक कठोर परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने के बाद भी बाबाजी ने उनको विवाह करने, पढ़ने लिखने ओर संसार में रहकर माता पिता की सेवा करने का आदेश दिया था। सम्भवतः गुरुदेव का यह आदेश उनके लिए सबसे अधिक कठिनतम परीक्षा थी। किन्तु उस अवस्था में भी उन्होने अपने तीब्र एकान्तिक मुमुक्षत्व का ऐसा परिचय दिया कि, गुरुदेव ने अपने आदेश का प्रत्याहार कर लिया। उस समय वे कालेज में पढ़ते हुये भी १८–१६ घंटे गुरुदत्त मंत्र का जप करते थे और गुरु का चिन्तन करते थे। इसके बाद १६१३ ई० में गुरुजी ने उनकी संन्यास देकर ह्षीकेश भेज दिया। तभी से वे आदर्श संन्यासी का जीवन यापन करते हुए वेदान्तानुमोदित साध ान में निमग्न रहते थे। एक निष्ठ नियताभ्यासी साधक विरला ही देखा जाता है। उन्होने अंग्रजीं बाग्ला, हिनदी और संस्कृत में कई दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की है उन्होनें सन् १६४६ ई० के २८ नवम्बर को देहत्याग किया।

बाबा निवृत्तिनाथ

बाबा निवृत्तिनाथ सन् १६१० ई० में दीक्षा लिये थे। उनको भी बाबाजी ने घर में रहकर ही साधन भजन करने का आदेश दिया था, और वे भी घर के बाहरी भाग में एक छोटी सी पर्णकुटी में ब्रह्मचारी तपस्वी के समान जीवन यापन करते हुए निरन्तर साधन करते थे। कई वर्ष बाद उसके माता पिता भी गोरखपुर जाकर बाबाजी से दीक्षा ले लिये। उसी समय बात चीत के सिलसिल में बाबाजी ने उनके पिता से पूछा कि उनको अपने पुत्र का विवाह करने की इच्छा थी या नहीं। उनके पिता ने कहा कि, 'मैने तो

उसको आपके चरणों में ही समर्पण कर दिया है।' इसके बाद भी बहुत दिनों तक बाबाजी ने उनको माता पिता की सेवा करने का आदेश देकर घर पर ही रक्खा। सन् १६१६ के नवम्बर मास में अपने तिरोधान के कुछ ही महीने पूर्व, बाबाजी ने उन्हें संन्यास दिया था। बहुत साल तक संन्या की मर्यादा पूरी मात्रा में रखकर १६५७ ई० के १ अगस्त वे महा समाधिस्थ हुए।

प्रेतात्मा को दीक्षादान

एक धर्म पिपासु व्यक्ति दीक्षाप्रार्थी होकर योगिराजजी के शरणापन्न हुआ। उसकी सहघर्मिणी भी दीक्षा लेने के लिये अतिशय व्याकुल थी। किन्तु अकस्मात उसकी मृत्यु हो गई। बिचारी अभिष्ठ गुरु के चरणोपान्त में पहुँचने के सुयोग से वंचित हो गई। उसका शोकार्त पति गुरु के निकट उपस्थित होकर निवेदन करने लगा कि दोनों को ही यह प्रबल आकांक्षा थी कि दोंनो ही एक साथ गुरु की कृपा प्राप्त करके कृतार्थ होंगे, परन्तु स्त्री अपनी अपूर्ण वासना लेकर इस लोक से चली गई।उसने बड़े कातर हृदय से स्त्री की दीक्षा के लिये प्रार्थना किया। योगिराज ने पहले तो बड़े धीर भाव से उत्तर दिया कि, प्रेतात्मा को दीक्षा देना किस प्रकार सम्भव होगा ? परन्तु दीक्षार्थी को इस बात का विश्वास था कि, योगिराजजी के लिये यह बात असम्भव न थी। पति की ऐकान्तिक व्याकुलता पर योगिराजजी का हृदय द्रवित हो गया। दीक्षा के समय उन्होंने दो आसन लगाने का निर्देश किया। दीक्षार्थी पति गुरु के सम्मुख एक आसन पर बैठा और तब गुरुदेव ने उसको आँखें मूदकर बैठने का आदेश दिया। दीक्षा मिलते समय शिष्य को अनुभव हुआ कि, उसके बगल में उसकी पत्नी भी दीक्षा पाकर कृतार्थ हो गई। गुरुदेव की असाधारण करुणा से उसका हृदय आनन्द से परिप्लुत हो गया। दीक्षा के बाद फिर अपनी अनुभूति के ऊपर विश्वास को और भी दृढ़ करने के उद्देश्य से उसने बड़े विनीत भाव से पूछा कि, उसकी स्त्री को दीक्षा

मिली या नहीं। गुरुदेव ने मृदुस्वर में उत्तर दिया– 'हाँ'। अहैतुक कृपा सिन्धु गुरुदेव ने कृपा करके प्रेतात्मा को भी आकर्षण करके अपने चरणाप्रान्त में लाकर दीक्षा प्रदान दिया, इस बात को सोच–सोच कर उसका हृदय विस्मय से, कृतज्ञता से और भक्ति से विह्वल हो गया।

भारत सेवाश्रम संघ के प्रतिष्ठाता स्वामी प्रणवानन्द अपनी छात्रावस्था में ही अपने एक शिक्षक के साथ गोरखपुर आकर योगिराज की कृपा प्राप्त किये थे। गुरुदेव की महासमाधि के बाद उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया था एवं देश और समाज की सेवा का ब्रत ग्रहण करके एक विशाल संघ का गठन किये। योगिराज के तिरोधान के बाद उनके और कतिपय ब्रह्मचर्य ब्रती शिष्यों ने संन्यास ग्रहण किया था। उनका योगिसिद्ध जीवन गुरु की प्रेरणा से जाति और समाज की सेवा में उतसर्गीकृत हुआ था। १६४० ई० में उनका देहत्याग हुआ। परन्तु उनका प्रतिष्ठित भारत–सेवाश्रम–संघ उनके शिष्य–प्रशिष्यों के परिचालनों से सारे भारत में तथा भारत वहिभूर्त बहुत देशों में भी धर्म–प्रचार, शिक्षा–विस्तार और लोक सेवा का कर्म निष्ठा और निपुणता के साथ कर रहा है।

योगिराज के और एक महान् शिष्य थे रसिक बिहारी बन्द्योपाध्याय। गृहस्थाश्रम में ऐसे ध्यान–समाधि–शील योगी बहुत बिरल ही मिलते हैं। उनका जीवनेतिहास भी अद्भुत था। उनका जन्म स्थान था ढाका जिला में, कर्मक्षेत्र था कलकत्ता में। बालपण से ही उनके मन में वैराग्य और तत्वानुसन्धितसा थी, तथा ध्यानधारणा में रति थी। सत्य, प्रेम और पवित्रता थी उनका जीवनव्रत। परम तत्व की उपलब्धि के लिए पहले उन्होंने विष्णु–भक्ति का अनुशीलन किया था। इस साधना में उनकी बहुत सुन्दर अनुभूतियाँ भी हो रही थीं। ऐसा करते–करते ही माँ काली की ओर उनका तीब्र आकर्षण हुआ। तब उनका बालक स्वभाव बन गया था,

और माँ काली का दर्शन मिला था। कभी–कभी उनकी भाव समाधि भी हो रही थी। परन्तु तब उनको दीक्षा नहीं मिली थी, सद्गुरुलाभ नहीं हुआ था। साधन में बहुत आनन्द का सम्भोग हो रहा था, किन्तु कृतार्थता का दिव्य अनुभव नहीं हुआ। इस अवस्था में एक संम्मान्य धर्म बन्धु के परामर्शानुसार उनको योगिराज गम्भीरनाथ का सन्धान मिला। तुरन्त ही वे गोरखपुर आकर बाबाजी के चरण पर आत्मसमर्पण किये। सद्गुरु कृपालाभ के बाद उनके सब संशय और विपर्यय दूर हो गये, काली कृष्ण शिव प्रभृति सब देवताओं में भेदबोध तिरोहित हुआ, भाव–समाधि ज्ञान समाधि में परिणत हुआ, अन्तर में सम्यक् कृतार्थता का अनुभव होने लगा। परन्तु योग ज्ञान और भक्ति की उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित होकर भी उन्होंने पारिवारिक और सामाजिक जीवन का परित्याग न किया था, बाह्य कर्तव्यों का अवहेलना भी नहीं किया था। देहत्याग के तीन चार साल पहले से उन्होंने कितने धर्मार्थियों को दीक्षादान किया, १६३८ ई० साल में उनका देहान्त हुआ।

पञ्चदश अध्याय

कलकत्ते में एक मास

तत्वदर्शी का व्यावहारिक जीवन

सन् १६१४ ई० के दिसम्बर महीने में बाबा गम्भीरनाथ नेत्रचिकित्सा के उपलक्ष में बंगाल की केन्द्रभूमि महानगरी कलकत्ता में शुभ पदार्पण करके एक महीना रहे। कुछ साल पूर्व से ही उनकी एक आँख में अस्त्रोपचार की आवश्यकता अनुभूत हो रही थी। जिनके लिए जीवन और मृत्यु समान था; स्वास्थ्य और व्याधि, सम्पत्ति ओर विपत्ति, कर्म और विश्राम आदि सभी अवस्थाओं में समानभाव से ब्रह्मभूत होकर विराजमान रहना जिनका स्वभाव बन गया था जो देह में रहते हुए भी विदेह थे, संसार में रहकर भी निर्मुक्त थे; कर्मकोलाहल के भीतर रहकर भी निष्कर्मा और निरव रहते थे, विश्वजगत् जिनकी जाग्रत दृष्टि के समक्ष स्वप्न के समान भासमान होता था, उनके निज के निकट अवश्य ही इस आवश्यकता शब्द का कोई विशेष अर्थ न था। जिसकी दृष्टि संसार के विचित्र व्यापारों के तह में अन्तर्निहित निगूढ़ सत्य की ओर सभी अवस्थाओं में उन्मुक्त रहती थी, जिनके ज्ञान में द्रष्टा और दृष्य के बीच सभी प्रकार व्यवधान तिरोहित थे, जो ज्ञानाञ्जनशलाका द्वारा सत्यदर्शन–प्रार्थियों के नेत्रों को उन्मीलित करने का व्रत लेकर अविद्यान्ध मनुष्यों के नेत्रचिकित्सक के रूप में संसार में विचरण करते थे। उनके नेत्र में व्याधि हो, उनकी दृष्टि शक्ति क्षीण हो जाय, जड़धातु निर्मित अस्त्रों की सहायता से उनकी दृष्टिशक्ति का आवरण हटाया, यह आपाततः नितान्त ही आश्चर्य की बात थी। जो थोड़ी सी इच्छाशक्ति का प्रयोग करने से ही सब प्रकार की व्याधियों से देह को मुक्त कर सकते थे, उनका शरीर व्याधिग्रस्त क्यों

होता है, ऐसा प्रश्न स्वभावत ही देहाभिमानियों के मन में उठ सकता है। किन्तु मायिकदेह माया के नियम पर ही चलता है, भगवान् के जगत् में जीवदेह धारण करके जितने काल तक विचरण किया जाता है, उतने समय तक मायाधीर भगवान् के विधान को मानकर ही चलना पड़ता है। व्यावहारिक जगत् में अज्ञानी भी उनके विधान के अनुसार ही चलता है और ज्ञानी भी उनके विधान के अनुसार ही चलता है और फरक इतना ही है कि, अज्ञानी उसमें विमोहित हो जाता है, वह इस माया के जगत् में एक अवस्था को अमंगलजनक तथा दुःखप्रद समझकर उसको दूर करने के लिए और दूसरी अभीष्टतर अवस्था को प्राप्त करने के लिए व्यतिव्यस्त रहता है, एवं अपनी इच्छा के विरुद्ध व्यापारों को संघटित होते देखकर निरर्थक यन्त्रणा से छटपटाया करता है, किन्तु ज्ञानी के चित्त में इससे रंचमात्र भी मोह और विकार नहीं उत्पन्न होता, इस मायिक जगत् में वह किसी अवस्था को बाञ्छनीय और किसी को अवाच्छनीय नहीं समझता, वह एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था को प्राप्त करने के लिए उतकंठित नहीं रहता, वह जगत् में होने वाली घटनाओं में किसी को भी अपनी इच्छा के विरुद्ध नहीं मानता; जो कुछ होता है उस सबको वह परम आनन्दमय, परम मंगलमय भगवान् की इच्छा और शक्ति की अभिव्यक्ति समझता है, उन्हीं की माया का खेल समझता है। ईश्वर की इच्छा और अपनी इच्छा के मध्य वह किसी प्रकार का पार्थक्य नहीं देखता। उसकी पारमार्थिक दृष्टि में सब कुछ मिथ्या जान पड़ता है, एवं व्यावहारिक दृष्टि से सब कुछ ही भगवान् की लीला समझकर उनका दर्शन और सम्भोग करता है।

कर्मशील होते हुए भी निर्लिप्त

तत्वदर्शी महापुरुषगण इसी प्रकार जगत् में विचरण करते हैं, अर्थात् प्राकृत मनुष्य के समान ही व्यवहार करते हैं, साधारण

सचरित्र धर्मपरायण विचारशील लोग जैसी स्थिति में जिस प्रकार का आचरण करते हैं एवं जैसे आचरण का निकटवर्ती संसारी लोग अनुसरण करके कल्याण के मार्ग पर अग्रसर हो सकते हैं, वे लोग लोक समाज में उसी प्रकार का आचरण करते रहते हैं। वे लोग यद्यपि साधारण कर्मक्षेत्र में साधारण लोगों के समान ही व्यवहार करते हैं, एवं लौकिक सुखदुःख भोग करते हैं, तथापि ज्ञान के प्रभाव से असाधारण भाव में स्थित रहते हैं और नित्यानन्द सम्भोग करते हैं।

भगवान् श्री कृष्ण गीता में इस बात का उपदेश दिये हैं कि, तत्वज्ञानी महापुरुषों का व्यवहारिक जीवन कैसा होना चाहिए; और आदर्श महापुरुषों के जीवन की पर्यालोचना करने से देखा जाता है कि उनका लौकिक जीवन इसी प्रकार ही परिचालित होता है। श्री कृष्ण कहते है,–

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।

कुर्या द्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोक संग्रहम्।।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानाम् कर्मसन्गिंनाम्।

योजयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तःसमाचरम्।।

अर्थात् "हे भरतवंशोद्भव अर्जुन ! अज्ञानी लोग कर्म में आसक्त होकर जिस प्रकार अपना कर्तव्य कर्म करते हैं, ज्ञानीजन समाज के लोगों को उनके स्वधर्म में प्रवृत्त करने के उद्देश्य से अनासक्त भाव से उसी प्रकार कर्तव्य कर्म का अनुष्ठान करते हैं। ज्ञानी व्यक्ति अपने आचरण अथवा उपदेश द्वारा कर्म में आसक्त अज्ञानियों की बुद्धि को कभी भी उनके स्वभावोचित कर्म के मार्ग में विचलित नहीं करते बल्कि लौकिक दृष्टि से जिन कर्मो को कर्तव्य माना जाता है, स्वयं उन सबको यथाविधि सम्पन्न करके उन लोगों

को तदनुरूप कर्मो में प्रवृत्त करते हैं।

महायोगीगण सभी लौकिक कर्मो का सम्पादन इस नीति के अनुसार ही करते हैं। जिस प्रकार वे स्वयं कभी किसी कर्म की सृष्टि नहीं करते, स्वयं संकल्प करके किसी नवीन कर्म में प्रवृत्त नहीं होते, उसी प्रकार उनकी लौकिक जीवनयात्रा में जब जो कर्म में अपने आप आकर उपस्थित होता है, देशकाल पात्र की विवेचना से लौकिक न्याय से जो कर्म उनके लिए धर्मविधिसंगत कर्तव्य जान पड़ता है, तात्विक दृष्टि से निष्प्रयोजन और अर्थविहीन होने पर भी उसका सम्पादन करने से वे कभी कुण्ठित नहीं होते, एवं सम्पादन करते हैं यथाविधि बिना किसी प्रकार का योगैश्वर प्रकट किये, केवल एक विचारवान् साधु व्यक्ति के समान।

इसी नीति के अनुसार योगिराज गम्भीरनाथ किसी प्रकार की व्याधि द्वारा आक्रान्त होने पर चिकित्सकों की सहायता ग्रहण करते थे और उनके उपदेशानुसार चलने तथा औषध सेवन करने में कोई आपत्ति नहीं करते थे। इसी नीति के अनुसार ही मन्दिर की सम्पत्ति को लेकर कोई मामला मुकदमा खड़े होने पर वे कर्मचारियों को वकील-मुख्तारों से परामर्श करने को कहते थे, कोई दंगा फसाद खड़ा हो जाने पर पुलिस की सहायता लेते थे। जब कोई शिष्य या भक्त अपने या अपने किसी आत्मीय की बीमारी के उपलक्ष में नितान्त चिन्तित होकर उनके शरणापन्न होता, तो वे दो एक शब्दों द्वारा समवेदना प्रकट करके उसको किसी अच्छे चिकित्सक के शरणापन्न होने का उपदेश देते थे। यदि कोई शिष्य किसी प्रकार की विपत्ति में पड़ जाता और उनसे जाकर कहे तो वे उसको उस विपत्ति से उद्धार प्राप्त करने के लिए यथोचित उपाय का अवलम्बन करने तथा पुरुषकार का प्रयोग करने का उपदेश देते थे। कई भक्त और शिष्य ऐसी ही संकटपूर्ण अवस्था में उनसे अपनी अवस्था का निवेदन करने के बाद कभी-कभी उनके उपदेशानुसार

सामान्य पुरुषकार के प्रयोग से ही अप्रत्याशित रूप से विपत्तियों के उद्धार पा गये थे। उनमें यह सुदृढ़ विश्वास उत्पन्न हो गया था कि, यह बाबाजी की कृपा का ही फल था। किन्तु उनके आचरण से ऐसा कोई संकेत न मिलता था, जिससे यह बात मन में आती कि कोई घटना उनके संकल्प के प्रभाव से संघटित हो रही है।

एक बार वे बीमार पड़े और पन्द्रह सोलह दिन चारपाई पर पड़े रहे। डाक्टर लोग चिकित्सा कर रहे थे। वे बालकों की तरह डाक्टरों के आदेश और सेवकों के परामर्श का अनुवर्तन करते रहे और औषधियों का सेवन करते रहे। उनकी शारीरिक अवस्था को देखकर भक्त सेवकों के प्राणों में पीड़ा होती थी। एक दिन कालीनाथ ब्रह्मचारी ने कातर हृदय से उनसे निवेदन किया, बाबाजी, आप तो अपनी इच्छा से ही कष्ट भुगत रहे हैं। आप की इस रोग यन्त्रणा को देखकर हम लोगों के हृदय में बड़ी वेदना होती है, आप थोड़ी सी इच्छा शक्ति का प्रयोग करके रोग को हटा दीजिये।' वे चुप रहे। कई बार तंग करने पर उन्होंने गम्भीर स्वर में कहा, "मैं भगवान् की करनी पलट दूँगा ?"

नेत्र रोग और कलकत्ता यात्रा

सन् १६१४ ई० के दिसम्बर महीने में जब देखा गया कि बाबाजी की एक आँख विशेष रूप से रोगाक्रान्त हो गई है, चिकित्सा शास्त्र के अनुसार उसमें अतिशीघ्र अस्त्रोपचार करना आवश्यक हो गया हैं, तो गोरखपुर में उपस्थित शिष्य सेवकगण व्यस्त हो गये। शायद बहुत धर्मार्थियों का आकर्षण ही उनके कलकत्ता गमन का मुख्य हेतु था। अपनी नेत्र चिकित्सा के बहाने वे कई सौ बालक, बृद्ध, पुरुष नारियों की नेत्र चिकित्सा करने चले उन लोगों के अविद्यावरण का उन्मोचन करके ज्ञान नेत्र की निर्मल दृष्टि को प्रस्फुटित करने चले। उनके कलकत्ता में रहने के समय जो लोग। वहाँ उपस्थित थे, उन सबको यही प्रतीत हुआ था कि,

उनके लिए चिकित्सिक होना मानो गौण कार्य था। उन सबको यही जान पड़ता था कि मानों वे बंगमाता की गोद में आसन ग्रहण करके उसके दरिद्र रोग क्लिष्ट क्षुधापीड़ित धर्मार्थी पुत्र कन्याओं को हिन्दू जीवन का आदर्श दिखाकर और धर्मामृत पिलाकर अपने विश्वप्रेममय हृदय में आश्रय देने के लिये ही वहाँ जाकर उपस्थित हुये थे।

वे जब कलकत्ता जाने की सम्मति दे दिये, तभी से उपस्थित सेवकगण उनके शिष्यों के पास पत्र और तार आदि भेजने लगे। यद्यपि सभी लोग उनकी अस्वस्थता के लिए थोड़ा उद्विग्न अवश्य हुए, तथापि अधिक मात्रा में आनन्द से ही उन्मत्त हो गए। उस समय उनके शिष्यों की संख्या अधिक न थी, एव उनमें से भी अधिक लोग अत्यन्त दरिद्र थे। तथापि वे लोग बड़े आनन्द के साथ आपस में चन्दा करके कलकत्ता यात्रा के व्यय निर्वाह के लिए व्यवस्था करने का बीड़ उठा लिये।

इसी बीच हविगंज के प्रसिद्ध वकील, बाबाजी के शिष्य उमेशचन्द्र दास महाशय एक दिन रात्रि में एक अद्भुत स्वप्न देखें इस स्वप्न को देखकर ही उन्हें सुदृढ़ विश्वास हो गया कि, गुरु महाराज कलकत्ता यात्रा का तथा चिकित्सा आदि का समस्त व्यय भार वहन करने को इंगित कर रहे हैं। इस विषय में उन्हें रंचमात्र भी द्विविधा न थी। उस समय उनके पास अर्थ की कमी थी। किन्तु अन्तर्यामी प्रभु जब हृदय में प्रेरणा देता है, तब कोई हिसाब किताब का अवसर नहीं रहता, भविष्य के लिये चिन्ता करने की भी प्रवृत्ति नहीं रह जाती अपने ऊपर अपना कोई कर्तव्य भी नहीं रह जाता। दास महाशय इस प्रेरणा की उन्मादना में तत्काल पर्याप्त धन लेकर गोरखपुर के लिए रवाना हो गये। और भी कई शिष्य गोरखपुर गये थे।

उस समय पौष मास का प्रथम भाग थां बाबाजी साधरण हिन्दुओं की चिरन्तनी नीति के अनुसार ज्योतिषी पंडितों को

बुलाकर यात्रा के लिए शुभ मुहुर्त निर्धारित किए, दरिद्रनारायणों को अर्थ विवरण किए; यात्रा के समय पूर्ण कुम्भ आदि मंगलकारी वस्तुओं को सम्मुख रखकर यथाविधि यात्रा किए। यह कहना तो निरर्थक ही है कि, ये सब कार्य उन्होंने लोकशिक्षा के अंगरूप में ही किए थे।

दमादम में तीन दिन

वे अपने संन्यासी शिष्य बाबा ब्रह्मनाथ, ब्रह्मचारी कालीनाथ, उपस्थित बंगाली शिष्यगण तथा कई स्थानीय साधु और भक्तों को साथ लेकर कलकत्ता की यात्रा किए। कलकत्ता से परमभागवत गुरुगत प्राण रसिक विहारी बन्द्योपाध्याय आदि शिष्य और भक्तगण उनकी अभ्यर्थता के लिए मोटर कार के साथ यथा समय हाबड़ा स्टेशन पर उपस्थित थे। हाबड़ा से वे सबको लिए हुए दमादम गोरक्षवंशी में गमन किय। गोरक्षवंशी के महन्त महाराज यथोचित अभ्यर्थना करके उनका तथा उनके भक्तों का स्वागत किए, एवं आन्तरिक आदर सत्कार के साथ सबके समुचित आहारादि और सुख सुविधा की व्यवस्था करने लगे। गोरक्षवंशी तो उस समय बंगाली भक्तों का एक आश्रम ही बन गया था झुण्ड के झुण्ड धार्मिक लोग उस अलोक सामान्य महापुरुष का दर्शन करके कृतार्थ होने की इच्छा से कलकत्ता से दमदमा जाने लगे। गोरक्षवंशी में दिन भर भीड़ लगा रहता था। एक अविराम आनन्द हिल्लोल से सबका हृदय उन्मत्त था जो लोग वहाँ जाते थे, सबको ही कुछ प्रसाद लेकर ही आना पड़ता था। यह आश्रम धर्म था, इसके विरुद्ध करने का कोई उपाय न था। एक दिन वहाँ विशेष भण्डारा दिया गया; बहुत साधु और भक्तों ने प्रसाद पाया। इसी प्रकार शिष्य और भक्तों के साथ बाबाजी तीन दिन गोरक्षवंशी में रहे। कहने की आवश्यकता नहीं कि, जिनको केन्द्र करके इतना आनन्द, इतना लोक समागम, इतना आहारादि की व्यवस्था थी, वे अपने निर्दिष्ट

आसन पर स्वभावसिद्ध समाहित भाव में ही सर्वदा विराजमान रहते थे, केवल बीच–बीच में एक स्निग्ध दृष्टिपात द्वारा ओर एक आध आशीर्वाद सूचक अस्फुट शब्दोच्चारण द्वारा समागत भक्त–मण्डली के प्राणों को सुशीतल कर दिया करते थे। तथापि बीच–बीच में उनके दो एक आदेशों से ही सब लोग इस बात का अनुभव करते थे कि, सभी प्रकार की विधि व्यवस्था की ओर, सबकी सुविधा असुविधा की ओर, उनकी सुतीक्ष्ण और प्रेममयी दृष्टि निरन्तर बनी रहती थी।

कलकत्ता में पदार्पण

इसी बीच कलकत्ता में प्रसन्न कुमार स्ट्रीट के २० न० का तिमंजिला मकान भाड़े पर लिया गया। दमदमा में पहुँचने की तीसरे दिन अपराह्न में बाबा गम्भीरनाथ वहाँ के आनन्द का हाट तोड़कर शिष्यवृन्द के साथ कलकत्ते के उक्त मकान में पधारे। दमदमा के आश्रम में आहारादि समाप्त करके यात्रा करने के समय दिन का अवसान हो चला था। प्रायः संध्या के समय बाबाजी कलकत्ता वाले मकान में पहुँचे। उस रात्रि में किसी को आहारादि की आवश्यकता न थी, और इसी लिये शिष्यों ने उनके लिये कोई बन्दोवस्त भी न किया। बाबाजी वहाँ पहुँचकर तिमंजिला के उपर अपने लिये निर्दिष्ट आसन पर अपने स्वभावसिद्व समाहित भाव में विराजमान हो गये। सामने एक शिष्य को खड़ा देखकर स्वयं ही कोमल स्वर में आदेश दिये "कुछ खाद्य सामग्री खरीद लाओ और सब लोगों के आहार की व्यवस्था कर दो। नये मकान में किसी का अभुक्त रहना उचित नहीं।

कलकत्ता की आश्रम व्यवस्था

सब स्थानों में, सभी अवस्थाओं में, आश्रम धर्म के सब विधि निषेधों के प्रति सर्वविधिप्रयोजनातीत निर्विकार नित्यसमाहित

महापुरुष की ऐसी सुतीक्ष्ण दृष्टि देखकर सभी लोग चकित हो गये। सांसारिक कर्तव्याकर्तव्य के विषय में अपने को निपुण समझने वाले लोग ही वहाँ सारा प्रबन्ध कर रहे थे। किन्तु इस पहली सूचना से ही उन लोगों को पद–पद पर अनुभव होने लगा कि, गार्हस्थ्य धर्म के सम्बन्ध में एवं सांसारिक कर्तव्यों के सुचारु रूप से सम्पादन करने के सम्बन्ध में इस संसारातीत कर्तव्याकर्तव्यविहीन पुरुष के समक्ष वे लोग कितने ही बच्चे थे। उसी समय बाजार से मिठाई लाकर बाबाजी के सामने रक्खा गया। सभी लोगों ने आनन्द के साथ मुख मीठा किया। स्वयं बाबाजी भी आश्रम के नियम पालनार्थ थोड़ा सा ग्रहण कर लिये।

दूसरे दिन से उस घर में अगणित लोगों का समागम होने लगा। बाबाजी के शिष्यगण और भक्तगण अपने–अपने निकटस्थ और दूरस्थ अनेकों सम्बन्धियों को साथ लेकर क्रमशः आकर जुटने लगे। बहुत से कृपा प्रार्थी शहर तथा देहात से आने लगे। उस समय बड़े दिन की छुट्टी आरम्भ हुई थी। चारों ओर से अनेकों धार्मिक लोग इस सुयोग पर उनका दर्शन और कृपा प्राप्त करने के लिये आ–आ कर उपस्थित होने लगे। जिन लोगों के कोई विशेष निकट सम्बन्धी कलकत्ते में न थे, वे सभी लोग इसी आश्रम के अतिथि होते थे। बाबाजी का भंडार सबके लिये खुला था। आश्रम के प्रबन्ध करने वाले शिष्यों के लिए इस बात का निर्धारण करना कठिन था कि, आश्रम में अतिथियों की संख्या किस दिन कितनी होगी और कितने लोगों के लिये आहार की व्यवस्था करनी होगी। प्रबन्धकगण कहते थे कि, इस कारण से पहले–पहले उन लोगों के कुछ असुविधा का अनुभव हुआ, थोड़ी सी विश्रृखंल का भी बोध हुआ। प्रायः ही जितने लोगों के लिए आयोजन किया जाता था, लोगों की संख्या उससे बहुत अधिक बढ़ जाती थी। किन्तु इस असुविधा के त्राण का मार्ग उन लोगों ने शीघ्र ही आविष्कार कर लिया। उन लोगों को इस बात के समझने में विलम्ब न लगा कि

समागत व्यक्तियों की सुविधा असुविधा की ओर अपने आसन पर उपविष्ट अर्धनिर्मीलित नेत्र महापुरुष की सुतीक्ष्ण दृष्टि रहती है। तभी से वे लोग बाबाजी का आदेश लेकर ही आहारादि की व्यवस्था करने लगे। जब ये लोग उनके निकट सम्बन्ध में आदेश के लिये उपस्थित होते थे, तो पहिले वे लौकिक भाव में उन्हीं लोगों से पूछते थे कि, उन लोगों को स्वयं ही कितने लोगों के समागम की आशा थी। जब वे लोग अपने अनुमान के अनुसार उत्तर देते, तब बाबाजी अपना आदेश बतला देते थे। देखा जाता था कि शिष्यगण जितना अन्दाज करते थे, साधारणतः उसकी अपेक्षा कुछ अधिक आयोजन करने के लिये कहते थे। आयोजन का परिणाम अवश्य ही प्रति दिन समान न होता था। किन्तु जिस दिन वे जितनी सामग्री तैयारी करने को कहते थे, लोगों की संख्या कितनी ही हो, उतने में से ही पूरा पड़ जाता था। इस सांसारिक विषयों में भी उनकी विधि व्यवस्था को देखकर वे लोग अवाक हो जाते थे। तबसे वे लोग प्रायः सभी कार्यो में उनका उपदेश और अनुमति लेकर ही कोई व्यवस्था करते थे। वे भी अपने स्वभावानुरूप 'हाँ' 'अच्छा' 'नहीं' अथवा इसी प्रकार का संक्षेप में एक आध शब्द कहकर सब कार्यो का परिचालन करते थे। अतिथि सेवा के उपलक्ष में अनुसन्धित्सु शिष्यों ने कभी–कभी कुछ अलौकिक शक्ति का प्रकाश भी देखा था। शायद ये अवस्थानुसार अपने आप प्रकाशित हो गई हों, किंवा कदाचित वे इसके द्वारा शिष्यों को सेवाधर्म की शिक्षा ही दिये हों। वे लोग कहते थे कि तभी से भण्डार के सम्बन्ध में कोई दिक्कत न हुई; बाबा जी के निर्देश के अनुसार सब प्रकार की व्यवस्थाओं का सुचारु रूप से निर्वाह होता गया।

नेत्र चिकित्सा

कलकत्ता के मकान में आने के दो तीन दिन के बाद ही गोस्वामी महाशय के शिष्य डाक्टर नरेन्द्र सामन्त के परामर्शानुसार

नेत्र चिकित्सा के विशेषज्ञ डाक्टर यतीन्द्रनाथ मैत्र और डा० मेनार्ड को बुलाकर नेत्रों की परीक्षा करवाई गई। उन लोगों ने तीसरे दिन अस्त्रोपचार का दिन निर्धारित करके बाबाजी की राय पूछी। उन्होंने कहा, 'जिस दिन तुम लोगों की खुशी।' डाक्टर मेनार्ड ने यथा समय अस्त्रोपचार किया। मरहम पट्टी आदि का सारा कार्य डा० नरेन्द्र सामन्त महाशय ने अपने ऊपर लिया। वे केवल डाक्टर के ही रूप में नहीं, बल्कि भक्ति की प्रेरणा से, हृदय के आवेग से, मनसा वाचा कर्मणा बाबाजी की सेवा करने लगे। अस्त्रोपचार के बाद डाक्टरों ने आदेश दिया कि, बाबाजी मलमूत्र त्याग करने के लिए भी बिस्तर से न उठें। इस नियम के पालन के लिए बाबाजी २–३ दिन तक मलमूत्र त्याग करने की इच्छा नहं प्रकट किये। ठीक एक ही अवस्था में लेटे हुए कई दिन बिता दिये। इन २–३ दिनों के बाद भी कई दिनों तक वे अधिकतर लेटे ही रहते थे। बीच–बीच में कभी–कभी उठकर चारपाई के ऊपर ही बैठ जाते थे, घर के बाहर नहीं जाते थे। लोगों के आने जाने से उनकी अस्वस्थता के बढ़ जाने की शंका थी, इसीलिए ५–६ दिन के लिए डाक्टरों ने उस कमरे में लोगों का आना जाना बन्द कर दिया था। बाबाजी जितने दिन कलकत्ते में थे प्रायः रोज ही वह घर दिनभर दर्शनार्थियों द्वारा भरा रहता था। जिस दिन उनके नेत्र में अस्त्रोपचार किया गया, तभी से केवल कुछ दिनों के लिये उनके कमरे में कोई नहीं जाने पाता था। उन दिनों भी मकान के नीचे के हिस्से में लोगों की भीड़ लगी रहती थी। बहुत लोग तो यही पूछ कर चले जाते थे कि वे कैसे हैं। बहुत लोग एक बार दर्शन करने के लिए लालायित होते थे। सेवकगण सबसे अनुनय विनय करते थे। जब दर्शनार्थियों का अनुरोध रोकना असम्भव हो जाता था, तब भी वे लोग बड़े अनुनय के साथ डाक्टरों के आदेश की बात बाबाजी के स्वास्थ्य की बात समझाकर उन सबको निवृत्त करते थे, परन्तु किसी प्रकार का कर्कश व्यवहार नहीं करते थे। उन लोगों को

सर्वदा इसका स्मरण रखना पड़ता था कि, किसी के प्रति कर्कश व्यवहार करना बाबाजी के ही प्रति सेवापराध होगा।

मौन सत्संग

निषिद्ध दिनों के बीत जाने पर प्रायः रोज ही अनेकों दर्शनार्थी उनके कमरे में जाते और उनके आसन के नीचे फैले हुए बिछौने पर बैठते थे। प्रायः अपराह्न में ही अधिक भीड़ होती थी। बाबाजी अपने चारपाई पर अर्धबाह्य अवस्था में समाहित भाव में समासीन रहते थे। भक्तगण आकर प्रणाम करके नीचे बैठ जाते थे। घण्टे पर घण्टे बीतते जाते थे; किसी के मुख से कोई शब्द न निकलता था, तथापि वहाँ से कोई उठकर जाना भी नहीं चाहता। एक भक्त ने लिखा है– "तिमंजिले पर गुरुदेव की कोठरी में नीचे बिछौना बिछा दिया जाता था, उपस्थित सज्जन वहाँ आकर बैठते थे। मैं देखा था कि गुरुदेव कुछ नहीं बोलते थे, चारपाई पर आसीन रहते थे, दृष्टि आनत रहती थी, सामने बैठे हुए मनुष्यों से कमरा भरा रहता था, मानो उन्हीं की नीरबता के साथ–साथ सबका ही वाक्रोध हो गया हो। कभी किसी दिन यदि कोई साहस करके कुछ पूछता था, तो वे एक आध वाक्य में ठीक उत्तर देकर अथवा 'हाँ' या 'न' कह कर समाप्त कर देते थे। उनके शिष्यों में से कोई भी इस अपराह्न की बैठक में न बैठता था, क्योंकि सारा स्थान अभ्यागनों से ही भर जाता था। एक मजे की बात देखता था कि, इस निस्तब्ध बैठक में उपस्थित सभ्यमण्डली के धैर्य की मानो परीक्षा होती थी। एकादिक्रम से इसी प्रकार ३–४ घण्टे तक सभी लोग चुपचाप नहीं बैठ सकते थे, कोई कोई सन्ध्या होने के बाद तक भी बैठे रहकर दीक्षा की अनुमति के लिए प्रार्थना करने का सुयोग खोजा करते थे। कभी कभी तो पूर्वाह्न में परन्तु प्रायः अपराह्न में ही ऐसी बैठकें होती थीं। इसमें कलकत्ता निवासी विभिन्न प्रान्तीय सज्जन उपस्थित रहते थे। अनेकों दिन इसी प्रकार की नीरवता में

बीत रहे थे। एक आध बातें जो होती भी थीं वे प्रायः सम्मुखस्थ मन्दिर में साध्य नौबत बज जाने के बाद होती थी।''

गोस्वामी महाशय के शिष्यगण अवसर मिलते ही बाबाजी का संगलाभ करते आते थे। गोस्वामी महाशय के एक शिष्य, सुप्रसिद्ध गायक श्रीयुत रेवती मोहन सेन महाशय बीच–बीच में आकर बाबाजी को कीर्तन सुनाते थे। बाबाजी उनका कीर्तन सुनकर आनन्द प्रकट करते थे। एक दिन रेवती बाबू ने अपने 'मूक और बधिर विद्यालय' के कुछ विद्यार्थियों को अपने साथ लाकर बाबाजी को दिखलाया कि वे लोग बातें समझ सकते थे और बोल सकते थे। बाबाजी ने देखकर प्रसन्नता प्रकट की और उन्हें मिठाई खिलाने के लिए कुछ रुपये दिये।

बालकों का आदर

देखने से जान पड़ता था कि बाबाजी को छोटे–छोटे बालक बालिकाओं को आदर के साथ खिलाने में बहुत आनन्द आता था। यही प्रायः गोरखपुर में देखा जाता था। कभी–कभी देखा जाता था कि, भक्तगण जो फल मिठाई आदि उन्हें अर्पण करते थे, तो वे उनका अग्रभाग, यदि वहाँ बच्चे उपस्थित होते, तो उन्हीं को बाँट देते थे। वे लोग खेल–खेलकर खाते और बाबाजी आनन्द के साथ देखते रहते थे। यदि कोई उनकी चंचलताको रोकने की चेष्टा करता तो वे उसको रोक देते थे। वे जब गोरखपुर में अपने गुरुवर के समाधि मन्दिर के चबूतरे पर बैठै रहते थे, उस समय यदि सामने मैदान में कोई बालक खेलता हुआ दिखाई पड़ता, तो किसी साधु को बुलाकर और मन्दिर से मिठाई या फल मँगवा कर उसको दिला देते थे। जब अपनी कोठरी में बैठे होते और वहाँ यदि कोई बालक या बालिका उन्हें प्रणाम करने जाता तो प्रायः उनको आशीर्वाद स्वरूप फल या मिठाई अपने हाथ से देते थे। गोरखपुर में एक दिन अपराह्म में उनके एक शिष्य का पुत्र अपने

पिता के साथ जाकर बाबाजी के सामने शैशवोचित क्रीड़ा करने लगा, और बाबाजी भी उस पर प्रसन्न दृष्टि डालते हुए आनन्द प्रकाश कर रहे थे। बातों के सिलसिले में उसके पिता ने कहा कि, उसको दूध पीने में बड़ी अरुचि थी। उस दिन रात्रि में जो दूध बाबाजी को दिया गया, वे उसमें से थोड़ा सा एक घूँट पीकर सेवक से बोले, "लड़के को दे दो।" लड़का उस रात्रि में वह प्रसार रूप दूध बिना किसी आपत्ति के कुल पी गया।

उनके एक शिष्य ने लिखा है कि, "कलकत्ता में एक दिन अपराह्म के समय गुरुदेव बैठे थे और नीचे बिछे हुए बिछौने पर बैठे हुए सज्जनों के आगे कुछ बच्चे बैठे थे; बाबाजी ने मुझे बुलाकर चारपाई के नीचे की ओर दिखाते हुए कहा– डब्बे का अंगूर निकाल कर उन लोगों को दे दो। मैं एक डब्बे का अंगूर निकाल कर उन लोगों को बाँटने के लिए आगे बढ़ा। बाबाजी ने इगिंत किया कि, और दो एक डिब्बों का अंगूर निकाल कर एकत्रित करके उन्हें दे दिया जाय, एवं वे स्वयं ही आपस में बाँट लें। मैं तो अपनी संकीर्णता और कर्तृत्व की प्रवृत्ति पर संकुचित हो गया।"

धनी, दरिद्र, पण्डित, मूर्ख, पुरुष, नारी, उच्चपदस्थ, पदमर्यादा विहीन, उच्चजातीय, निम्नजातीय, सभी प्रकार के लोग उनका दर्शन करने आते थे। उनकी दृष्टि सबके ऊपर समान रहती थी, उनका व्यवहार भी सबके प्रति प्रायः समान देखा जाता था। तथापि धनाभिमान, पाण्डित्याभिमानी, पदाभिमानी और जात्यभिमानी लोगों के प्रति कभी–कभी उनका एक बाहरी उपेक्षा का भाव लक्षित होता था।

गोस्वामी महाशय के शिष्य श्रीयुत कुलदानन्द ब्रह्मचारी महाशय एक दिन बाबाजी का दर्शन करने आये। उनके साथ दो तीन शिष्य थे। उस समय बाबाजी आहार के बाद विश्राम कर रहे थे। साधारणतः उस समय उनके घर में किसी को जाने नहीं दिया जाता था। किन्तु ब्रह्मचारी के प्रति विशेष श्रद्धा होने के कारण

सेवकगण बाबाजी की अनुमति लेकर शिष्यों के साथ ब्रह्मचारीजी को तिमंजिले पर ले गये। बाबाजी ने बड़े स्नेह के साथ उनका स्वागत किया। गोस्वामी महाशय के शिष्यों के प्रति उनकी एक विशेष कृपादृष्टि सर्वदा ही देखी जाती थी। वे प्रणाम कर बैठ गये, नाना प्रकार की बातें करने लगे और अनेक विषयों का निवेदन करने लगे। बाबाजी प्रसन्नचित्त से दो एक बातें बोल देते थे और बीच–बीच में "आनन्द" "आनन्द" उच्चारण करते थे। विदाई के समय ब्रह्मचारी ने साष्टांग प्रणाम किया और घुटने टेक कर हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगे, 'गोसाईंजी के ऊपर आपकी जैसी कृपादृष्टि थी, इस दास के ऊपर भी उसी प्रकार बनी रहें'। बाबाजी आनन्दोत्फुल्ल नेत्रों से उनकी ओर ताकते हुए 'हां'– 'हां' कहने लगे। केवल ऐसे ही भक्ति गद्‌गदचित भक्तों के आन्तरिक आवेगयुक्त प्रार्थना तथा बातचीत के समय ही बाबाजी के मुख पर और नेत्रों में एक प्रकार के उच्छ्वसित भाव का विकास दिखाई पड़ता था।

विचित्र समागम

एक दिन कुछ सज्जन एक लंगड़े पुरुष को गोद में उठाकर तिमंजिले पर बाबाजी के पास ले गये। वह बाबाजी के आसन के अति निकट जाकर बैठा। आरम्भ में उसने दो एक बातें कही इसके बाद दोनों ही नीरव रहे, दोनों के बीच कोई भी वार्तालाप नहीं सुनाई पड़ा। बहुत देर तक चुपचाप बैठा रहा अन्त में शरणागति का भाव व्यक्त करता हुआ प्रणाम के निमित्त बाबाजी के चरणों पर लोट गया। बाबाजी उसके ऊपर विशेष कृपामयी दृष्टि डालते हुए केवल एक बार 'हां' कह दिये। उसने हाथ जोड़ कर जाने की अनुमति माँगी और साथियों के मदद से नीचे उतर कर दो मंजिले के बैठक खाने के निकट आकर कहा कि, मैंने लंगड़ा होने के पूर्व, अनेकों साधु महात्माओं का संग किया है, एवं उनमें से एक ने कृपा करके मुझे कई प्रकार की प्रणालियों की शिक्षा दी थी, और यह आशीर्वाद

दिया था कि; तुम जिस किसी संन्यासी के पास जाओगे, उसकी प्रसन्नता प्राप्त करोगे और यह भी समझ जाओगे कि वह किस प्रकार का साधु है। उसने बाबाजी के सम्बन्ध में कहा, "आप लोग क्यों यहाँ बैठे हैं ? मनसा वाचा कर्मणा इनके शरणापन्न हो जाइये। केवल इनकी कृपा के अतिरिक्त और किसी प्रकार इनको आकृष्ट नहीं कर सकोगे। ये त्रिगुणातीत महापुरुष हैं– मैंने पहले स्तव स्तुति करके देखा, इन पर कोई असर नहीं; क्रोध करके देखा, हिले भी नहीं; अन्त में शरणापन्न हो गया और प्रणाम किया, तब उन्होंने 'हाँ' कहकर आशीर्वाद दिया।" कहने की आवश्यकता नहीं कि उन्होंने बाहर से ये बातें न की थी। बाहर तो बाबाजी का तथा उनका आमने सामने स्थिर निस्तब्ध रूप में बैठना, बीच–बीच में बाबाजी का करुण्यपूर्ण 'हाँ' शब्द का उच्चारण ही लोगों को देखने में आया और कुछ भी लक्षित न हुआ।

एक दिन एक सज्जन हाथ में एक नारंगी लेकर बाबाजी का दर्शन करने आया। उस समय कमरे का दरवाजा बन्द था, भीतर लोगों का जाना रोक दिया गया था, उसको भीतर जाने की अनुमति न मिली। दर्शन न मिलने के कारण उदास होकर उसने थोड़ी देर तक प्रतीक्षा किया। इसके बाद नारंगी सेवक के हाथ में देकर और बाहर से ही बाबाजी के उद्देश्य से प्रणाम करके वह लौट गया। सेवक ने उस नारंगी को बाबाजी के बिस्तरे पर एक किनारे रख दिया। बाबाजी अधिक रात्रि के समय बिस्तरे से उठ कर और उस नारंगी को स्वयं उठाकर और छीलकर कुल खा लिये। दूसरे दिन प्रातः काल उनके बिस्तरे के नीचे छिलका देखा गया। सेवकगण इस अदृष्टपूर्व और अचिन्त्यपूर्ण घटना को देखकर उस सज्जन को ऐकान्तिक भक्तिमान तथा सौभाग्यशाली समझने लगे, एवं उस अज्ञात भक्त के प्रति बाबाजी की कृपा देखकर विमोहित हो गये। उनकी कृपा के ऐसे निदर्शन कब–कब और किस–किस

प्रकार मिले थे, इसका विशेष रूप से वर्णन करना सम्भव नहीं।

एक दिन कलकत्ता के महानिर्वाण मठ के एक भक्त कुछ फल लेकर बाबाजी का दर्शन करने आये। वे कहते थे कि उनका आन्तरिक आग्रह था कि बाबाजी से अकेले बातचीत करें और उनसे कुछ उपदेश प्राप्त करें। अपने हृदय की इस बात को मुँह से कहने में संकोच हो रहा था, इसलिये मन–ही–मन यह प्रार्थना करके अपेक्षा करने लगा। उस समय और भी कई भक्त उस घर में उपस्थित थे। बाबाजी मानों उसकी आन्तरिक प्रार्थना पर दयार्द्र होकर, उपस्थित भक्तों को एक–एक करके किसी–न–किसी कार्य के बहाने बाहर भेज दिये, और उससे दो एक बातें पूँछकर उसका संकोच दूर कर दिये। तब वह भक्त बाबाजी की करुणा पर विगलित होकर बड़े आवेग के साथ अपने हृदय की बात कहने लगा, एवं बाबाजी भी अपनी स्वभावसिद्ध मृदुलता के साथ उसके जिज्ञास्य विषय की मीमांसा करने लगे।

दीक्षा का सुयोग

कलकत्ते में बहुत से नर नारी बालक वृद्धों को बाबाजी से दीक्षा लेने और उनके चरणों पर अत्मसमर्पण करने का सुयोग प्राप्त हुआ था। जो लोग पहले ही उनसे दीक्षा लेकर हृदय में शन्ति का अनुभव करते थे, वे लोग स्वभावतः ही अपने स्त्री पुत्र तथा आत्मीय स्वजनों को यही सौभाग्य प्राप्त करवाने के लिये उत्सुक थे; और उनके आत्मीयगण भी कितने ही उनके चरणों की आश्रय प्राप्ति के लिये व्याकुल होकर प्रतीक्षा कर रहे थे। उनके शिष्य अधिकतर दरिद्र थे, एवं यह एक चिरन्तन सत्य हे कि दरिद्रों में ही धर्म पिपासा अधिक होती है, एवं ऐसा बोध होता है कि यह भगवान् का विधान है। इन शिष्यों में से कुछ तो उनका नाम और महात्म्य सुनकर

आकृष्ट हुए थे अथवा किसी अलौकिक उपाय द्वारा उनसे आकृष्ट हुऐ थे, और हृदय के आवेग के कारण कोई न कोई सुयोग पा करके गोरखपुर गये थे किन्तु बहुतों के लिये यह सम्भव न था कि सम्पूर्ण परिवार को गोरखपुर ले जाने का व्य जुटा सके। वे लोग यही सोचते थे कि इन दीक्षालिप्सु दरिद्रों के लिये ही गुरुदेव को इस निम्न भूमि पर अवतरण करना पडा था। अनेक धर्मपिपासु जन तो उनका नाम और महिमा सुनकर मनहीमन उन्हें गुरु मान लिये थे, किन्तु नाना प्रकार के सांसारिक बाधा विध्नों के कारण गोरखपुर जाने की व्यवस्था नहीं कर पाते थे। वे लोग सोचते थे कि उनके ऊपर कृपा करने के ही उद्देश्य से अहैतुक कृपा सिन्धु गुरुदेव अपनी नेत्र चिकित्सा के बहाने स्वयं आकर उन लोगों के सम्मुख उपस्थित हो गये थे। अनेकों बालक बालिका उनका नाम और महिमा सुनकर उन्हें प्राप्त करने के लिये उत्कंठित थे परन्तु माता पिता या अन्य किसी अभिभावक की सहानुभूति या सहायता बिना गोरखपुर जाने की सुविधा नहीं हो पाती थी। वे सब लोग उनको अपने निकट पाकर एकान्त में दीक्षा लेने का सुयोग्य खोजने लगे। बंगाल में जितने लोग जहाँ भी उनका चरणाश्रय प्राप्त करने के लिये व्यग्र थे, उनके कलकत्ता आ जाने से उन लोगों की यही धारण हुई कि, वे उन लोगों के लिये ही इतना निकट आ गये है एवं इस सुयोग का लाभ अवश्य ही ले लेना चाहिये। जिनके हृदय में धर्म पिपास थी एवं सद्‌गुरु का आश्रय प्राप्त करने की अनुभूत होती थी, किन्तु इस बात का निश्चय न कर पाते थे कि किस महापुरूष के सरणापन्न होने से उनका अभीष्ट सिद्ध होगा, ऐसे अनेक भक्तों का संशय और द्विविधा उनका दर्शन करते ही छूट गया और वे लोग उनकी कृपा के लिये प्राथना करने लगें कोई–कोई तो केवल कौतूहल वश अथवा बान्धवों के अनुरोध वश अथवा मित्रों के संग में पड़कर उनका दर्शन करने गये थे। किन्तु उनकी मूर्ति का दर्शन करते ही, कसौटी से सुवर्ण का स्पर्श हो जाने के समान, उन लोगों

के अन्तर में सुप्त धार्मिक भाव जाग्रत हो उठा और अनजान में ही चित्त उनके चरणों से संलग्न हो गया।

इस प्रकार अनेकों धर्मार्थियों को कलकत्ते में उनका आश्रय प्राप्त हुआ था। उनमें पुरुष, स्त्री, बालक, वृद्ध, युवक, धनी, निर्धन, उच्चवर्ण सम्भूत, निम्नवर्णजात, सभी प्रकार के भक्त थे। निष्कपट चित्त से दीक्षा के लिए प्रार्थना करने पर वे किसी को वापस न करते थे। बहुत लोग कहते थे कि, वास्तव में उस समये वे 'कल्पतरू' होकर बैठ गये थे। जिनके चित्त में कपट रहता था अथवा जो लोग किसी प्रकार की सांसारिक अभीष्ट सिद्धि के उद्देश्य से उनके निकट दीक्षा लेने के लिए जाते थे, उन लोगों को उनसे दीक्षा के लिये प्रार्थना करने की हिम्मत ही नहीं होती थी। उनके सामने पहुँचते ही उन लोगों की कामना शिथिल हो जाती थी, दीक्षा की बात ही भूल जाती थी, अथवा ऐसी बात को उठाने में ही संकोच होता था। अनेकों के सम्बन्ध में ऐसी ही अवस्था की बात सुनी गई थी।

निरभिमानता

कई भक्तों और शिष्यों ने एक दिन बाबाजी से प्रार्थना किया कि, पूर्वी बंगाल के बहुत नर नारी आपका चरणाश्रय प्राप्त करने के लिय व्याकुल है; तथापि कलकत्ता तक आने में भी असमर्थ हैं, आप यदि दया करके ढाका जाना स्वीकार करें, वे सब कृतार्थ हो जायेंगें; यदि आप अनुमति दें तो इसकी व्यवस्था की जाय। उन लोगों के बड़े आग्रह के साथ प्रार्थना करने पर भी बाबाजी इस बात पर राजी न हुये। वे, लोगों के ऊपर कृपा करने के विचार से, कहीं जाय या किसी कार्य का संकल्प करें, यह बात उनके व्यवहारिक जीवन के नीति के विरूद्ध थी। इनमें तो अभिमान का भाव मिलता है वे शिष्यों को सम्पूर्ण रूप से निरभिमान हो जाने की शिक्षा देते थे। लोकशिक्षा देने का अभिमान भी तो अभिमान ही है। अभिमान जिस मात्रा में

रहता है, अध्यात्म जीवन में उन्नति का मार्ग उसी मात्रा में अवरूद्ध रहता है। अभिमानवर्जन की चेष्ट ही आध्यात्मिक जीवन की सबसे प्रधान साधना है। तत्वज्ञान में अवश्य ही उनका निज अभिमान सम्पूर्ण रूप से भस्मीभूत हो गया था, उसके फिर जागृत होने की कोई सम्भावना न रह गई थी। किन्तु भक्तों और शिष्यों को अभिमानवर्जन की शिक्षा देने के लिये वे अपने व्यवहारिक जीवन को इस प्रकर नियन्त्रित रखते थे, जिससे उन लोगों की स्थूल दृष्टि में भी उनके आचरण में कोई अभिमान का चिन्ह दिखाई न पड़े और भ्रम में उनका पतन न हो जाय। प्रकाश्यतः वे अपने नेत्र चिकित्सा के लिये ही कलकत्ता गए थे, न कि लोगों के ऊपर कृपा करने के लिये। भक्तों की व्याकुल प्रार्थना पर उन्होंने धीरे धीरे कहा कि, जिन लोगों के साथ मेरा सम्बन्ध निर्दिष्ट है, वे सभी लोग आकर पहुँच जायेंगें, एवं उन्हें दीक्षा मिलने का कोइ न कोई उपाय अवश्य हो जायेगा।

आध्यात्मिक कल्पतरु

बाबाजी के कलकत्ता पहुँचने के दो तीन दिन के बाद से ही थोड़ा थोड़ा कर के दीक्षा देना आरम्भ हो गया था। आँख में अस्त्रोपचार होने के बाद केवल कुछ दिनों के लिए ही उनके कमरे में लोंगों का जाना बन्द था। उसके बाद आँखों में पट्टी बांधे हुए ही उन्होंने दीक्षा देना आरम्भ कर दिया था। साधारण रूप से दीक्षा कार्य पूर्वाह्न में ही होता था, कदाचित् अपराह्न में भी हो जाता था। एक दिन सबेरे ८ या ९ बजे से आरम्भ करके १२ या १२ बजे तक प्रायः ३० जन नर नारी या बालक बालिकाओं की दीक्षा हुई थी। इसी प्रकार रोज रोज दीक्षा का कार्य चलने लगा। कभी--कभी ऐसा होता था कि, कोई भक्त अपराह्न में आकर पहुँचा, एव चाकरी या किसी कार्य के अनुरोध से उसको उसी दिन सन्ध्या के बाद कलकत्ते से चला जाना आवश्यक है। करूणामय गुरुदेव फल--फूल या किसी अन्य

प्रकार के आयोजन के बिना ही उसको उसी समय दीक्षा दे कर कृतार्थ कर देते थे। सम्भव है कोई स्त्री बहुत दूर से आई, उसे तत्काल लौटना आवश्यक है दूसरे समय आना भी उसके लिये कठिन है परन्तु दीक्षा देने का एकान्तिक आग्रह मन में वर्तमान है; सम्भव है, डाक्टरों के आदेश से गुरुदेव का कमरा उस समय बन्द हो, दर्शन आदि देना भी निषिद्ध हो; ऐसे समय दीक्षार्थिनी के आग्रह से उसकी बात बाबाजी से एक बार निवेदन किया गया, 'जीवकल्यार्णकदीक्ष गुरुदेव डाक्टरों के निषेध का परवाह न करके तुरन्त उठकर बैठ जाते और दीक्षार्थिनी की अभिलाषा पूर्ण करके उसे घर लौट जाने का आदेश दे देते थे। इसी प्रकार गुरुदेव 'कल्पतरु' होकर कृपा वितरण करने लगे, एव आध्यात्मिक कल्याणपिपासु नर–नारियों के हृदय में अपनी निज साधनलब्ध आध यात्मिक शक्ति का संचार करके उनके मानव जन्म को सम्यक् सफलता की ओर परिचालित करने लगे।

प्रचलित धर्म का अनुमोदन

बाबाजी शिष्यों को प्रचलित धर्म के अनुशासन को मानकर चलने की शिक्षा देते थे, एवं इसी उद्देश्य से स्वयं भी वैसा ही आचरण करते थे, यह बात पहले ही उल्लिखित हो चुकी है। उनके कलकत्ता निवास काल में उन्ही के निर्देशानुसार कालीघाट पर काली माता की एक विशेष पूजा की व्यवस्था की गई, एवं इसके उपलक्ष मं सायंकाल के समय एक विशेष भोज का आयोजन किया गया। बाबाजी अपनी अस्वस्था के कारण कालीघाट न जा सके। किन्तु पूजा के दिन वे मध्याह्न के समय अन्न का आहार नहीं किये, केवल रात्रि के समय भोजन किये। गोस्वामी महाशय के अनेक शिष्य और भी बहुत से भक्त इस पूजा और भोज में शामिल हुए थे।

उस वर्ष उत्तरायण संक्रान्ति के दिन गंगासागर स्नान का विशेष योग था। संक्रान्ति के पहले दिन बाबाजी ने शिष्यों से कहा,

'तुम सब लोग कल प्रातःकाल ही गंगा स्नान के लिये जाना एवं मेरे लिये भी थोड़ा गंगा जल ले आना' सभी शिष्य रात्रि के अन्तिम प्रहर में उठकर बड़े उल्लास के साथ गंगा स्नान के लिये गएं वे लोग स्नान करके और गंगाजल लेकर आश्रम को लौट आये, बाबाजी भी अपने आसन से उठकर कपड़ा बदले और धौत वस्त्र पहनकर मस्तक पर गंगाजल धारण किये। उस समय उनकी मूर्ति जैसे और भी प्रसन्न तथा ज्योर्तिमय दिखाई पड़ने लगी। शिष्यगण तथा भक्तों ने आनन्द पुलकित होकर उस आनन्दमय मूर्ति का दर्शन किया। उसके बाद पौषपार्वण के उत्सव का आयोजन होने लगा। उस पर्व के उपलक्ष में जब बाबाजी से यह बात पूछी गई कि आहारादि की व्यवस्था किस प्रकार की जाय; तब उन्होंने पूछा कि बंगाल में प्रचलित नियम के अनुसार क्या होना चाहिए। शिष्यों नें बतलाया कि इस समय पिष्टकादि बनने का नियम है। गोरक्षनाथ मन्दिर में इस मकर संक्रान्ति के समय खिचड़ी का मेला होता है। इस समय नाना स्थानों से कई हजार नर–नारी श्रीनाथजी का दर्शन करने के लिये आते है और खिचड़ी भोग निवेदन करते है। योगिराजजी ने खिचड़ी तथा मिष्टान्न दोनों की ही व्यवस्था की। शिष्यगण आदेशानुसार बड़े उल्लास के साथ कार्य करने लगे। वहाँ आनन्द की तरंगें लहराने लगी। उत्सव और प्रसाद वितरण विधिवत् तथा सुचारू रूप से सम्पन्न हुआ।

जितने भक्त बाबाजी का दर्शन करने आते थे, उनमें से बहुत लोग, साधुदर्शन की रीति के अनुसार कुछ फल या मिठाई लाते थे। वह सब मिठाई फल आदि सभागत भक्तों के बीच वितरण कर दिया जाता था। आश्रम की रीति के अनुसार जितने लोग वहाँ आते थे, सबको कुंछ न कुछ प्रसाद अवश्य दिया जाता था। यह नियम था कि कोई भी व्यक्ति बिना प्रसाद लिये वापस न जाय। इसके अतिरिक्त दूर से आने वाले भक्त वहीं आहार करते थे इसका तो कोई हिसाब ही न था। किन्तु बाबाजी के इंगित से सभी कार्य

सहज तथा सुचारू रूप से सम्पन्न होते जाते थे। इसमें कभी–कभी कुछ अलौकिक शक्ति का भी प्रकाश हो जाता था।

एक अद्भुत घटना

बाबाजी के कलकत्ता निवास के समय एक भक्त को एक अद्भुत घटना दर्शन करने को मिली। प्रसंग क्रम से उसका उल्लेख करके यह अध्याय समाप्त किया जायेगा। उस शिष्य के मुख से जैसा सुना गया, उसका सारांश लिखा जाता है। उस समय कलकत्ता में 'परकायप्रवेशी' उपाधि धारी एक शक्तिशाली योगी निवास करते थे। लोगों के सामने अपनी योगशक्ति का प्रदर्शन करना उनका अभ्यास था। बहुत लोग उनका दर्शन करने जाते थे। बाबाजी का उक्त शिष्य भी साधुदर्शन के निमित्त उनके पास गया थां वे दर्शको से कहते थे कि, यदि कोई व्यक्ति अपने घर पर बैठकर ही मन में उनका स्मरण करके आह्वान करे, तो वे वहीं उसके निकट आकर उपस्थित हो जाते है। उक्त शिष्य ने भी यह बात सुनी थी। एक दिन वह अकेला बैठा था, कौतूहल में पड़ कर, कुछ काल तक एकाग्र मन से परदेहप्रवेशी का चिन्तन करने लगा। थोड़ी ही देर बाद उसने देखा कि वह महापुरुष उसके सामने खड़ा है। महापुरुष का शिष्य बनकर अब दूसरे से दीक्षा क्यों लेवे? किन्तु इस महात्मा को बिना प्रयोजन बुला कर उसने अन्याय तो किया ही। इसी बात की चिन्ता करते–करते वह बिमूढ़ हो गया। परदेहीप्रवेशी ने उसको समझाया कि वे उसके पूर्वलब्ध मंत्र की शक्ति को नष्ट करके स्वयं उसको दीक्षा प्रदान करेंगे। ऐसे समय में उसने देखा कि पीछे की ओर से बाबाजी की ज्योतिःपूर्ण मूर्ति परदेहप्रवेशी की ओर सुतीक्ष्ण दृष्टि से देख रही है और नेत्रों से मानो अग्निस्फुलिंग विकीर्ण होकर परदेहप्रवेशी को अभिभूत कर रहे हैं। परकाप्रवेशी उस तेज से विह्वल और भयभीत होकर नमस्कार करता हुआ हट गया और, बाबाजी की मूर्ति भी अन्तर्हित हो गई।

कृपासिन्धु गुरुदेव ने उसका एक विशेष विपत्ति से उद्धार किया, इसी बात का भक्ति गद्गद चि से चिन्तन करता हुआ वह शिष्य बहुत देर तक आत्मविभोर रहा। इसके बाद शिष्य अपने अपराध के लिये असुतप्त हृदय से बाबाजी के पास जाकर मन ही मन बहुत देर तक क्षमा के लिये प्रार्थना करता रहा और अन्त में प्रकाश्य रूप से हाथ जोड़कर क्षमा माँगी। बाबाजी ने आश्वासन वाणी द्वारा उसको सान्त्वना प्रदान की, किन्तु उक्त घटना के सम्बन्ध में कुछ न कहा।

बाबाजी जनवरी महीन के अन्तिम भाग में कलकत्ता से गोरखपुर लौट आये किन्तु हाय! कौन जानता था कि अब फिर बंगाल देश में उनका लौटना न होगा। उस समय किसने समझा था कि वे शायद अपने नश्वर देह के त्याग का समय निकट देख कर ही एक बार बंग देश में आकर कल्पतरू बन कर बैठ गये थे।

षोडश अध्याय

हरिद्वार के कुम्भ में

कलकत्ता से गोरखपुर लौटकर कुछ दिन यहीं निवास किये। उसी वर्ष चैत्र मास में हरिद्वार में पूर्ण कुम्भ था। बाबाजी ने कुम्भ मेला में जाने का अपना निश्चय पहले से ही व्यक्त कर दिया था। उनकी यात्रा के पूर्व ही उनके बहुत से शिष्य गोरखपुर में आकर उपस्थित हो गये थे। उन लोगों के लिये यथा समय हरिद्वार में ब्रह्मकुण्ड के निकट ही 'नाथजी का दलीचा' के पास एक मकान किराये पर ले लिया गया था। उन्होंने एक शुभ मुहूर्त निश्चित करके उसी दिन अनेक शिष्यों तथा बहुत से साधु संन्यासियों को साथ लेकर यात्रा किया। कोई–कोई गृहस्थ शिष्य सपरिवार भी गये थे।

बाबाजी के संन्यासी शिष्य बाबा शान्तिनाथ उस समय तपस्या के लिये हृषीकेश में निवास करते थे, एवं दिन रात सब काम छोडत्रकर और अनन्य चित्त होकर गुरुदेव के उपदेशानुसार साघन भजन में निरत रहते थे। यह जान कर कि गुरुदेव कुम्भ मेले में आ रहे हैं, वे हरिद्वार में आकर उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। रात्रि के अन्तिम प्रहर में जब गाड़ी हरिद्वार स्टेशन पर पहुँची, तो शान्तिनाथजी आकर गुरुदेव से मिले। नाथयोगी सम्प्रदाय का श्रेष्ठतम महापुरुष भाड़े के मकान में न जाकर 'नाथजी का दलीचा' मे गया। यह दलीचा ही हरिद्वार में नाथसम्प्रदाय का आश्रम है। यहाँ गोरखनाथ का मन्दिर है साधुओं के लिये साधन गुफा है, एवं नाथसम्प्रदाय के साधुगण यहाँ ही निवास करते है। दलीचा के विस्तृत प्रांगण में नाना स्थानों से समागत सम्प्रदायिक साधुगण कम्बल विछाकर धूनी जलाकर निवास कर रहे थें। सम्प्रदायों के महन्तगण अवश्य ही इस भीड़ में न रहते थे। वे लोग साधारणतः दूसरे मकानों में अथवा

किसी धर्मशाला में अपने शिष्य सेवकों को लेकर आराम और आडम्बर के साथ निवास करते थे और सबेरे दलीचे में मन्दिर पूजा, साम्प्रदायिक 'दरबार' आदि के उपलक्ष में आते थे। बाबा गम्भीरनाथ अनेक शिष्यों से घिरे होते हुए भी अपने साम्प्रदाय तथा साम्प्रदायिक आश्रम के प्रति श्रद्धा प्रकट करने के लिये, दलीचे में शोरगुल और असुविधा रहने पर भी, साधारण साधुओं के बीच में रहने का निश्चय कर लिये थे, और जो मकान उनके निवास के लिये लिया गया था उसमें नही गये। बहुत से शिष्य उस मकान में रहने के लिये चले गये और कुछ उनकी सेवा के लिए साथ रह गये।

वे गाड़ी से उतर कर ज्योंही दलीचे में पदार्पण किया, त्योंही उपस्थित साधुगण मंत्रचालितवत् एक साथ खड़े होकर बड़े उल्लास के साथ उनका इस प्रकार आदर करने लगे, जैसे मानो बहुत दिनों के बिछोह के बाद वे लोग अपने स्नेहमय पिता को अपने बीच अप्रत्याशित रूप से पा गये हों। शिष्यों को इस बात की आशा भी न थी कि, बाबाजी ऐसे हल्ला–गुल्ला और विश्रृंखला के स्थान पर निवास करेगें। सड़क के दूसरे तरफ एक भाड़े के मकान में एक साफ सुथरे कमरे में बाबाजी का आसन लगाकर लोग उन्हें बुलाने गये। ज्योंही उनके निकट यह प्रस्ताव रक्खा गया कि वहाँ के साधुगण बड़ी उत्कण्ठा के साथ उनकी ओर ताकते हुये शिष्यों से एक साथ कहने लगे,– "नहीं महाराजजी हम लोंगो के बीच में ही रहेंगे।" उन लोगों के मुखमण्डल, उनके अन्तर का भाव, इस प्रकार बाहर निकल पड़ा कि उसको देखकर शिष्यगण भी मुग्ध हो गये। बाबाजी तत्काल ही मन्द स्मिति करते हुए बोले, – "हाँ हाँ, मै तुम लोगों के बीच में ही रहुँगा।" आश्रमस्थ एक पक्के कुटीर के एक भाग में उनका आसन लगाया गया और वे वहीं पर रहने लगे। वहाँ साधारण साधुओं के लिये जो कुछ भोजन भण्डारे में बनता था, वे भी वहीं आहार करते थे। बीच–बीच में शिष्यगण कोई विशेष वस्तु बनाकर जो कुछ लाते थे। वे भी वहीं आहार करते थे। बीच–बीच

में शिष्यगण कोई विशेष वस्तु बनाकर गुरुदेव के भोग के लिये ये अर्पण करके कृतार्थ होते थे।

सांसारिक कार्यो में दक्षता

दलीचा में आने वाले साधुओं की सेवा और भण्डारा के लिये व्यवस्था करने का भार, सम्प्रदाय की तरफ से, एक साधु के ऊपर अर्पित किया गया था। वे बाबाजी को पाकर बड़ी निश्चिन्तता का अनुभव करने लगे। जिस समय बाबाजी ने वहाँ आसन ग्रहण किया, उसी समय से वह अधिकारी साधु अपने सभी प्रकार के कर्तव्यों के विषय में बाबाजी का उपदेश और अनुमति लेकर कार्य करने लगा। साधुओं से यह बात छिपी न थी कि इस सब विषय सम्बन्धी कार्यो में भी बाबाजी की दक्षता असाधारण थी। उनके एक शिष्य– जिन्हें बहुत दिनों तक सेवक रूप में उनके साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका था– इस सम्बन्ध में लिखे हैं कि "यद्यपि बाबाजी का अधिक समय गुफा के भीतर ही बीता था तथापि खिलाने पिलाने की व्यवस्था की कमी नहीं पड़ी। गोरखपुर आश्रम के संचालक का भार ग्रहण करने के पूर्व वे अपने हाथ से रुपये पैसे का स्पर्श न करते थे, एवं कभी किसी वस्तु का संचय न करते थे। किन्तु हम लोगों के लिये कागज कलम लेकर भी जिस विषय का हिसाब करना अत्यन्त कठिन होता था, उसको वे जबानी ही फटाफट कर देते थे, जो देखकर हम लोग चकित हो जाते थे।"

बाबाजी स्वयं भी इस कुम्भ मेला के उपलक्ष में बहुत रुपया खर्च किये थे। यहाँ प्रसंगवश एक आश्चर्यमयी घटना का उल्लेख किया जाता है। बाबाजी जिस समय कलकत्ते में थे, उस समय अनेक भक्त उनको फल मिठाई आदि वस्तुओं के साथ प्रणामी रूप से रुपया भी चढ़ाते थे। वह सब रुपया प्रबन्धक शिष्यों के पास जमा होता था, एवं उसी से तत्कालीन व्ययनिर्वाह भी होता था। किन्तु शिष्यगण इसका पृथक् हिसाब रखते थे। इस कार्य का भार

प्रधानतः श्रीयुत प्रसन्न कुमार घोष महाशय के ऊपर था। कलकत्ता का आश्रम उठांकर जब फिर गोरखपुर प्रत्यागमन किया गया, उस समय आय व्यय का हिसाब करके देखा गया कि, जितना रुपया खर्च हुआ था, प्रणामी रूप में आया हुआ था, ठीक उतना ही एक आना भी न अधिक था न कम था। इस अद्भुत बात को देखकर शिष्यों को बहुत विस्मय हुआ। इस आय में जितना रुपया खर्च हुआ था उमेश बाबू वह सब पूरा करके और एक थैली में भरकर बाबाजी को अर्पण कर दिया। बाबाजी ने कहा,– 'अच्छा वह रख दो, कुम्भ मेला के समय खर्च होगा। कुम्भमेला में कुछ शिष्य, भक्त और साधुओं के आने जाने के खरचे के अतिरिक्त बाकी सब रुपया साधु सेवा और दीन दुःखियो की सेवा में खर्च हुआ था।

ब्राह्मी स्थिति के साथ लौकिक सौजन्य

यहाँ भी वे अपने स्वभावसिद्ध मौन भाव से समाहित अवस्था में अपने आसन पर ही विराजमानं रहते थे। वे अपने आसन से हिलते डोलते न थे। असंख्य गृहस्थ इनका दर्शन और प्रणाम करके कृतार्थ हो जाते थे। वे शिष्यों को साधु दर्शन करने का उपदेश देते थे। साधु लोग कहते थे, "महाराज तो समाधिस्वरूप हैं, उनके नेत्र सर्वदा ही समाधिगर्भ में निमग्न रहते हैं।" किन्तु जब वे अर्धवाह्यावस्था में विराजमान रहते थे, उस समय भी उनके सौजन्य में कोई त्रुटि न होती थी। जिस समय कोई बिल्कुल कम उम्र का भी महन्त उनके समक्ष आता था, वे ऐसे संभ्रस और समादर के साथ उसका स्वागत करते थे कि, वे लोग लज्जा और संकोच से अवनत हो जाते थे। किसी साधु संन्यासी के आने पर वे उसके लिये सम्मान और आदर सत्कार पर मुग्ध हो जाते थे। तथापि सर्वदा ही बाहर के साथ युक्त है, अधिकांश तो विश्वातीत चैतन्य स्वरूप में विलीन है। उनका सौजन्य, आदर सत्कार, वैषयिक उपदेश, तत्वोपदेश, सभी मानो उनके चेतनासमुद्र के इसी क्षुद्र अंश के वुद्वुद के समान

बिना किसी चेष्टा के बिना चिन्तन बिना मन संयोग के, अपने आप बाहर प्रकाशित हो रहे हैं। दर्शकगण ब्राह्मीस्थिति के साथ लौकिक सौजन्य का ऐसा अपूर्व समन्वय देख कर विस्मित और विमोहित हो जाते थे। इस स्थान पर भी कुछ बंगाली भक्त उनकी कृपा के लिये बड़ी व्याकुलता के साथ प्रार्थना किये और, उन्होंने उन लोगों को दीक्षा देकर कृतार्थ किया था।

यज्ञेश्वर बसु

इस समय जिन लोगों को दीक्षा मिली थी, उनमें से एक युवक साधक विशेष उल्लेखनीय था। वह बाल्यकाल से ही वैराग्यवान् और आध्यात्मिक था। यौवन के आरम्भ में ही वह योगाभ्यास में रत हो गया। हठयोग का अभ्यास करके उसने पर्याप्त मात्रा में उन्नति कर ली थी। धौती, वस्ती आदि बहुत सी योग क्रियाओं में वह प्रायः सिद्ध हो चुका था। उसको दूरदर्शन, भविष्य दर्शन और सूक्ष्मदर्शन की शक्ति भी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त थी। अध्यात्म निष्ठा प्रबल होने के कारण वह इन शक्तियों को बहिर्मुख लोगों के सामने प्रकट भी न करता था। तथापि जहाँ वे निवास करते थे वहाँ निकट के अनेक लोग इस बात का विश्वास करते थे कि वे एक शक्तिशाली सिद्धपुरुष हैं। वे जिस प्रकार योगाभ्यासी थे, उसी प्रकार सेवा कार्य में बड़े दक्ष और नित्यतत्पर भी थे। रोगी सेवा, आर्त सेवा, क्षुधातुर को अन्न दान, वस्त्रहीन को वस्त्र दान, दरिद्र विद्यार्थियों को विद्योपार्जन में सहायता आदि नाना प्रकार के सेवाकार्यो में बड़े उत्साही थे। उनका तेज और स्वाधीनचित्तता भी असाधारण थी; किसी के भय से या किसी को प्रसन्न करने के लिये वे कोई बनावटी बात न कहते थे अथवा अपने विवेक के विरुद्ध कोई कार्य न करते थे।

प्रथमावस्था में वे अपने घर में रहते हुये ही योगाभ्यास और सेवाकार्य करते थे। अन्त में अपनी सारी सम्पत्ति स्वजनों के नाम

लिख कर गृह त्याग कर दिये। उन्होंने बद्रिकाश्रम, रामेश्वर आदि अनेक तीर्थो का भ्रमण एवं बहुत से साधु और महापुरुषों का संग किया था। तभी उन्होंने बाबा गम्भीरनाथजी के नाम और महात्म्य की बातें सुना था। सन् १६१५ ई० में हरिद्वार के कुम्भ मेला में जाकर वहाँ एक निःसहाय व्यक्ति को पीड़ित देखा और उसकी सेवा शुश्रूषा में जुट गये। जब वह स्वस्थ हुआ तो उसको पहुँचाने साथ-साथ काशी चले गये। उस समय तक बाबाजी हरिद्वार नहीं गये थे। इसलिये काशी से गोरखपुर आकर वे बाबाजी से मिले और वहाँ से बाबाजी तथा उनके शिष्यों के साथ फिर हरिद्वार गये। वहाँ पहुँच कर बाबाजी के शिष्यों की सब प्रकार की सेवा का भार उठा लिया। वे स्वयं बाजार करते थे, तरकारी काटते थे, भोजन बनाने की सारी व्यवस्था कर देते थे, पाचक को पकाना सिखला देते थे, देख सुन कर बड़ी सावधानी के साथ सबको आहार कराते थे और सब लोगों के आहार कर लेने के बाद अन्त में स्वयं आहार करते थे। किसी के बीमार हो जाने पर वे रोगी की प्राणपण से सेवा शुश्रूषा करते थे। उनकी सेवा देख कर सभी लोग मुग्ध हो जाते थे।

कुम्भ मेला से गोरखपुर लौट कर वे बाबाजी की सेवा में देहमन प्राण उड़ेल दिये। तभी से लेकर उन्होंने कभी बाबाजी का साथ नहीं छोड़ा बाबाजी के शिष्यगण जब आते थे तो उन लोगों की सेवा भी बड़े प्रेम से करते थे। बाबाजी ने स्वयं एक दिन कहा था,-"यज्ञेश्वर कैसे प्रेम से सेवा करता है।"

जब उन्होंने दीक्षा के लिये प्रार्थना की तो योगिराज जी ने, योग के प्रति उनका अनुराग देख कर, पहले हठयोग की अनेकों प्रक्रियायें सिखा दी, और षट् चक्रभेद आदि का उपदेश दिया। उसके बाद बतलाये कि, ऐसी अनेक क्रियायें हैं, जिसमें हजार वर्ष तक जीवित रहना भी सम्भव है। किन्तु बही तो परमार्थ नहीं है। परमार्थ के लिये तो नित्यनिरन्तर तत्वविचार और ब्रह्मध्यान आवश्यक

है। यही है राज योग। यदि कोई हर समय विचार में अपनी स्थिति कायम रख सके तो वह एक ही जन्म में मुक्त हो सकता है। बाबाजी का उपदेश पाकर उन्होंने हठयोग की क्रिया छोड़ दी, एवं गुरुसेवा और तत्वविचार में लग गये।

बाबाजी के तिरोधान के बाद उनके शिष्यों ने गुरुदेव की व्यवहृत वस्तुओं को काशी ले जाकर वहाँ एक आश्रम की प्रतिष्ठा की। तब इसी त्यागी और योगी साधक ने आश्रम के सेवा पूजा का भार ग्रहण किया, एवं मृत्यु पर्यन्त इस भार को बहन किया। सेवा पूजा में उनका उत्साह और दक्षता देख कर अवाक् हो जाना पड़ता था। रात्रि के अन्त में चार बजे के समय उठकर सारा दिन तथा रात्रि के ११ बजे तक प्रायः अविश्रान्त रूप से सेवा कार्य में लगे रहते थे। आश्रम में अक्सर नौकर न रहता था। वे सब अकेले अपने हाथों से बर्तन माँजते थे; मन्दिर तथा सम्पूर्ण आश्रम धोते थे, धूप आरती करते थे, बाजार से पूजा और भोग की सामग्री खरीद कर लाते थे, भोग के लिये व्यंजनादि स्वयं पकाते थे, पूजार्चना तथा भोग निवेदन करते थे और, आश्रम में यदि कोई अतिथि रहता तो उसको बड़े यत्न के साथ भोजन कराते थे तथा उनकी सुविधा के लिये सारी व्यवस्था करते थे। इसी प्रकार उनके दिन बीतते थे। हठयोग की प्रक्रिया सहसा छोड़ देने के कारण ही, अथवा अन्य किसी कारण से ही हो, जीवन के कुछ अन्तिम वर्षो में उनका शरीर व्याधि ग्रस्त रहता था। इस व्याधिपीड़ित अवस्था में भी वे नित्यनिरन्तर अदम्य उत्साह के साथ सेवाकार्य करते रहते थे। कितने दिन प्रातः चार बजे से लेकर रात्रि में ११ बजे तक अथक परिश्रम करके केवल एक मुट्ठी लाई खाकर या दो बतासों के साथ जल पीकर सो जाते थे, एवं फिर रात्रि के अन्तिम भाग से ही सेवा कार्य में लग जाते थे। कभी-कभी देखा गया था कि रात्रि में उन्हें १०३ डिग्री से भी अधिक ज्वर हो जाता था, और यह देख कर अभ्यागत गुरुभाई लोग उद्विग्न हो जाते थे और चिन्ता करने लगते थे कि आगे का

सेवा कार्य कैसे चलेगा, परन्तु प्रातःकाल नींद खुलते ही देखते थे कि बर्तन सब मज गया है, सारा घर धोकर निर्मल कर दिया गया है तथा, और भी इस तरह के कार्य पूरे हो गये हैं, और वे एक कौपीन पहने हुए नंगे शरीर में अदम्य तेज के साथ कार्य में व्यस्त हैं।

इस समयों पर उनको गम्भीर भाव से आसनस्थ होकर साधन करते हुए प्रायः कभी नहीं देखा गया। किन्तु उनके साथ घनिष्ठ रूप से आध्यात्मिक विषयों की चर्चा करने पर पता चलता था कि, यद्यपि उनको शास्त्रीय ज्ञान अधिक न था, तथापि साध्य साधन सम्बन्धी जानकारी पर्याप्त थी, एवं ऐसी अनेक बातें उनसे सुनने को मिलती थी, जो साधनलब्ध सूक्ष्म अनुभूति के बिना किसी के हृदय में इतने निर्मल रूप में प्रकाशित हो जाय, यह सम्भव न था। ये ही थे चिरकुमार, नैष्ठिक ब्रह्मचारी, सेवाब्रती साधक यज्ञेश्वर बसु। सन् १९२४ ई० के २० वें अक्टूबर के दिन श्रीकाशीधाम के आश्रम में इन्होंने शरीर त्याग किया था।

बाबाजी शिष्यों और भक्तों को गंगा स्नान करने का उपदेश देते थे। उन्होंने हरिद्वार पहुँचते ही जाकर ब्रह्मकुण्ड में स्नान किया था। किन्तु विषुव संक्रान्ति के दिन भीड़ अधिक होने के कारण वे स्वयं घाट पर जाकर स्नान न कर सके। उस दिन उनके शिष्यों ने जाकर गंगाजी में स्नान किया। बाबाजी के लिये घड़े में गंगा जल भरकर लाया गया, और उन्होंने आश्रम में ही गंगाजल से स्नान किया। उस दिन योग लगने पर स्नान के लिये इतनी भीड़ हुई थी कि, घाट पर ठेलाठेली से कितनी ही मनुष्य काल के गाल में चले गये। उस समय हरिद्वार में भी हैजे का आरम्भ हो गया था। बाबाजी के शिष्यगण जहाँ पर रहते थे वहाँ भी हैजे का प्रकोप था। श्रीयुत् उमेश बाबू अपना परिवार लेकर बाबाजी के साथ गये थे। उनके मुहर्रिर का एकमात्र पुत्र उनके साथ ही था। उस बच्चे पर

रोग का आक्रमण हुआ, एवं उसकी अवस्था इतनी निराशाजनक हो गई कि चिकित्सकों ने भी उसकी मृत्यु निश्चित समझ कर जवाब दे दिया। उमेश बाबू अनन्योपाय होकर बड़ी व्याकुलता के साथ बाबाजी के चरणों में गिरकर बालक के जीवन की भिक्षा माँगने लगे। उमेश बाबू आग्रह करने लगे कि बालक को बचाना ही होगा। वे कहते थे कि, उस समय उनके मन में ऐसी भावना हो रही थी कि, यदि उनके निज के स्त्री पुत्रों में से किसी एक के जीवन के विनिमय में भी उस दरिद्र के एकमात्र पुत्र के जीवन की रक्षा हो जाय, तो वे उससे खुश ही होते। इस बात के मन में आते ही, बाबाजी ने उनकी ओर तीक्ष्ण दृष्टि से देखा और एक हुंकार किया। उमेश बाबू कहते थे कि उस समय उनके मन में इसका यह अर्थ जान पड़ा कि,– हूं तुम इतने बड़े वीर हो गये हो कि, अपने एक स्वजन के जीवन के विनिमय में पर के बालक की जीवन रक्षा करने को तैयार हो।' इस पर वे कुछ कांपने लगे और अपने को अपराध ी अनुभव करने लगे। इसके बाद उन्होंने बड़ी कातर प्रार्थना किया, जिसके फलस्वरूप बाबाजी कुछ देर चुप रहकर अन्त में धीरे से बोले, "हाँ, बचेगा।" उमेश बाबू निश्चिन्त होकर घर चले गये। वह बालक दूसरे दिन ही स्वस्थ हो गया। किन्तु उसकी स्त्री रोगक्रान्त हो गई। उमेश बाबू इस पर सशंकित हो गये और इसको अपनी वेअदबी की सजा समझने लगे। जो भी हो, गुरुदेव की कृपा से वे भी क्रमशः स्वस्थ हो गई। दुर्बल अवस्था में ही उन्हें लेकर उमेश बाबू कलकत्ता के लिये रवाना हो गये।

बाबाजी कुछ शिंष्यों को उन लोगों की सेवाशुश्रूषा के लिये वहाँ छोड़कर और कुछ शिष्य तथा सांधु संन्यासियों को साथ लेकर गोरखपुर लौट आये।

सप्तदश अध्याय

व्यावहारिक जीवन का अवसान

योगिराज गम्भीरनाथजी हरिद्वार के कुम्भमेला से लौटकर गोरखपुर में केवल दो बरस स्थूल देह में विद्यमान रहे। इस दो वर्षों में प्रायः निरन्तर ही वहाँ पर धार्मिक शिक्षित भद्रपुरुषों का आना जाना लगा ही रहता था। बहुत से दीक्षाप्रार्थी होकर आते थे, और कितने तो केवल दर्शन तथा प्रणाम करने आते थे। गृहस्थ शिष्यगणवर्ष के अधिकांश भाग में अर्थोपार्जन तथा सांसारिक कर्तव्य सम्पादन में ही आबद्ध रहकर दैहिक भाव से दूर अवश्य रहते थे; किन्तु उन लोगों का चित्त उनके स्नेह और प्रेम के आकर्षण से उनके चरणों में ही संलग्न रहता था एवं दर्शन स्पर्शन के लिये सर्वदा ही उत्कण्ठित रहता था। उनमें से बहुत लोग तो ज्योंहि अवसर पाते थे त्योंहि उनके पास आकर उपस्थित होते थे। कोई-कोई तो इतना व्याकुल हो जाते थे कि, अपने कर्मस्थल के नियमित अवकाश की प्रतीक्षा करने में असमर्थ होकर कर्म के भीतर ही बीच-बीच में छुट्टी लेकर वहाँ जाकर उपस्थित होते थे। कोई-कोई स्थाई रूप से वहीं पर रहने का सुयोग खोजते थे। इसी प्रकार वर्ष के आरम्भ से अन्त तक सर्वदा ही शिष्यों और भक्तों का गोरक्षनाथ मन्दिर में आना जाना लगा रहता था।

सद्गुरु सान्निध्य की विशेषता

शारदीया दुर्गा पूजा के समय बंगालियों के सभी प्रकार के दफ्तरों में छुट्टी रहती है। उस समय तो गोरक्षनाथ मन्दिर बंगालियों का आश्रम ही बन जाता था। उस समय वहाँ इतनी भीड़ हो जाती थी कि उसके लिये यह स्थान भी अपर्याप्त हो जाता था। * स्त्रियों के रहने के लिये मन्दिर संलग्न उद्यान गृह निर्दिष्ट हो जाता था और पुरुषगण तो जो जहाँ ही स्थान पा जाता वह वहाँ ही रात्रि के

कुछ घण्टों के लिये घुस कर पड़ा रहता । सम्पूर्ण दिन सारी रात्रि एकतान निराविल आनन्द का हिल्लोल लहराता रहता था। ये सभी नर–नारी उस समय इस बात को प्रायः भूल ही जाते थे कि, उन लोगों का अपना–अपना संसार है और सांसारिक दायित्व है। समस्त चिन्ता, भावना, ज्वाला, यन्त्रणा प्रथम प्रणाम के साथ ही श्रीगुरुदेव के चरणों पर समर्पण करके वे लोग एक लाडले राजकुमार के समान आनन्द स्रोत में तैरते रहते थे। उन लोगों के आहारादि सभी विषयों की व्यवस्था गुरुजी ही करते थे। उतने दिनों के लिये तो वे लोग पूर्णतया निश्चिन्त हो जाते थे।

उस समय की अवस्था का पर्यवेक्षण करने से यही जान पड़ता था कि शिष्यसंतापहारी गुरु गम्भीरनाथजी शिष्यों के कार्यतः सिखला रहे हैं कि, अपने को सर्वदा ही गुरुधाम में गुरु के निकट अवस्थित अनुभव कर सकने पर, सारा जीवन ही इसी प्रकार निश्चिन्त हो जाता है; जीवन के सब विभागों के सभी दायित्य 'श्री गुरुवे नमः' कहकर उनके चरणों पर समर्पण करना सीख जाने पर, सारा जीवन ही इसी प्रकार शिशु के समान आनन्द हिल्लोल से नाचते–नाचते संसारवक्ष पर विचरण किया जाता है। वस्तुतः सद्गुरु तो सर्वदा ही शिष्य के निकट ही रहते हैं। वे कभी–कभी शिष्यों से कहते थे,–"हम तो तुम्हारे साथ–ही–साथ हैं।" स्थूल देह में प्रत्यक्ष होन या न होने से तो उनकी उपस्थिति का कोई तारतम्य नहीं होता। तथापि गुरुजी के दैहिक सान्निध्य में शिष्यगण अपने को जितना हल्का अनुभव करते थे, जिस प्रकार कुचिन्ता और दुश्चिन्ता से मुक्त होकर आनन्द में मग्न होकर विचरण करते थे, वह बात तो वस्तुतः उनके शिष्यों के समग्र जीवन को परिव्याप्त करके अति निकट वर्तमान रहने पर भी, केवल स्थूल देह की निकटता न रहने पर, क्यों नहीं सम्भव हो पाती ?

अनुभूति के तारतम्य का प्रभाव

मानव जीवन में अनुभूति के तारतम्य से ही सब प्रकार का तारतम्य रहता है; सभी प्रकार के वैचित्र्य और वैषम्य के मूल में अनुभूति का वैषम्य और वैचित्र्य रहता है। अनुभूति द्वारा ही मानव जीवन गठित होता है एवं अनुभूति के वैशिट्य के अनुसार ही मनुष्य के कर्मों और भोगों का वैशिट्य होता है। वस्तुतः एक ही प्रकार की अवस्था रहने पर भी एक प्रकार की अनुभूति के फलस्वरूप एक व्यक्ति उसमें सुख अनुभव करेगा, और दूसरा व्यक्ति दूसरे प्रकार की अनुभूति के फलस्वरूप उसी में ज्वाला यन्त्रण से जर्जरित हो जायगा। अपनी अनुभूति को तत्वानुगत करना ही मनुष्य प्रधान साधन है। तत्वतः जो सत्य है, अनुभूति के तद्रूप होने पर ही मंगल और आनन्द की प्राप्ति होती है, क्योंकि तत्वतः तो सब कुछ ही मंगलमयी और आनन्दमयी सत्ता की ही अभिव्यक्ति है।

वस्तुतः जो सत्य है; उसकी जब तक प्रत्यक्ष या अपरोक्ष अनुभूति नहीं होती, जब तक ज्ञान दृष्टि से उनका दर्शन नहीं किया जाता, तब तक विश्वास दृष्टि और विचार दृष्टि क्री सहायता से उसको स्मरण रखने की चेष्टा करना आवश्यक होता है, एवं तदनुसार जीवन को नियन्त्रित करके ज्ञान दृष्टि से अनुभव करने की योग्यता प्राप्त करने के लिये प्रस्तुत रहना आवश्यक होता है। बाबा गम्भीरनाथ अपने उपदेशों में इन दो बातों पर बहुत जोर देते थे,– 'विश्वास रखना' एवं 'विचार करना'। जब तक गुरु के दैहिक सान्निध्य के अभाव में भी उनका भीतर और बाहर साक्षात् अनुभव करने की उपयुक्त ज्ञान दृष्टि प्रस्फुरित नहीं होती, जब तक गुरु का यथार्थ तात्विक स्वरूप हृदय में पूर्ण रूप से प्रकाशित नहीं होता, तब तक ऐसे विश्वास का अनुशीलन करना उचित है कि गुरु ने मेरा ऐहिक और पारलौकिक सब प्रकार का भार ग्रहण कर लिया है, संसार का सब कुछ उन्हीं का है, वे मेरे जीवन के और जगत् के

कण–कण में परिव्याप्त होकर अपनी महिमा में विराजमान हैं, मैं उन्हीं का नन्हा सा बालक हूँ और उन्हीं के साथ मेरा नित्य सम्बन्ध है। विश्वास के साथ विचार का अनुशीलन करते–करते इस विषय में निःसंशय होकर, अहंकार और ममता का त्याग करके अपने को संसार विमुक्त और उनके साथ नित्ययुक्त अनुभव करने का प्रयत्न आवश्यक होता है। यह विश्वास और विचार जब स्वभाव बन जाता है, जीवन के सभी विभाग इसी प्रकार के विश्वास और विचार के अनुवर्ती होकर परिचालित होते–होते जब सब प्रकार की कालिमा से मुक्त हो जाते हैं, तब ज्ञान दृष्टि सम्पूर्ण रूप से उन्मीलित हो जाती है, तब गुरु के साथ अपना न केवल दूरत्व हो, अपितु किसी प्रकार की भिन्नता का भी अनुभव नहीं होता, तब गुरु ब्रह्ममय होकर अनुभूति होता है एवं शिष्य अहशून्य तथा गुरुमय होकर सत्स्वरूप, ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। योगिराजजी कहते थे,–'विश्वास रखना' 'विचार करना'– 'सब तरफ अच्छा हो जायगा'। जब तक ज्ञान दृष्टि नहीं खुलती तब तक विश्वास दृष्टि और विचार दृष्टि की सहायता से भी यदि जीवन के सभी विभागों में गुरु का सान्निध्य अनुभव किया जाय, तो यह करने से भी संसार समुद्र में उसी निश्चिन्तता और प्रेम के आनन्द तरंग में तैरते हुये नाचते हुए उस पार की ओर बढ़ सकते हैं; गुरुजी के दैहिक सामीप्य के अभाव में भी यह नहीं अनुभव होता कि मैं अनाथ हूँ, एवं अभिमान और स्वार्थपरता के वशीभूत होकर संसार की कुन्चिता और दुश्चिन्ताओं के बीच गोते नहीं खाना पड़ता।

जो भी हो गुरु के ऊपर सम्पूर्ण रूप से निर्भर होकर और गुरु भ्राताओं के साथ प्रेमालिंगन में आबद्ध होकर, गुरु की दुनिया में, गुरु के सन्निधान में जीवन यापन करने से कितना आनन्द होता है, और यह आनन्द अभिमान की दुनिया के सब प्रकार के भोगों के आनन्द की अपेक्षा कितना उच्च, कितना विशाल, कितना गम्भीर होता है, सद्गुरु गम्भीरनाथ बीच–बीच में अपने शिष्यों को खींच

कर अपने निकट एकत्रित करके, इस बात का अनुभव कर देते थे।

दैहिक सान्निध्य के अवसर

शारदीय पूजा के समय गोरखपुर में 'नवरात्र' का उत्सव होता है। इसके उपलक्ष में रामलीला आदि का उत्सव होता है। नाटक मण्डलियाँ और कीर्तन मण्डलियाँ गोरखनाथ मन्दिर में आकर अभिनय और कीर्तन करती है। बाबाजी उन लोगों का उत्साह बढ़ाने के लिये अपने शिष्यों के साथ वहाँ बैठकर स्वयं देखते और सुनते थे। इन सब धार्मिक अभिनयों और संगीतों का बहुत काल जनसाधारण के बीच धर्म सम्बन्धी, समाज सम्बन्धी, नीति सम्बन्धी ज्ञान विस्तार के यन्त्र रूप में व्यवहार होता आ रहा है। लीला, कीर्तन, रामायण, महाभारत, पुराण आदि का पाठ, कथकता और गान आदि लोकरंजक शिक्षाप्रतिष्ठान शास्त्राध्ययन और तत्वविचार से शिक्षाप्रतिष्ठान शास्त्राध्ययन और तत्वविचार से परांमुख तथा अस्मर्थ जनसाधारण के चित्त को आकर्षण करता है, हृदय में आनन्द प्रदान करता है, एवं अध्ययन से होने वाले लाभ के अभाव में भी उनको पारिवारिक, सामाजिक राष्ट्रीय और आध्यात्मिक विषयों की शास्त्रसंगत नाना प्रकार की शिक्षा प्रदान करता है। इसी प्रकार शास्त्र के अनेकों सूक्ष्म तत्व, अनेक महापुरुषों के साधन लब्ध ज्ञान, समाज के निम्नतम स्तर तक पहुँचा है; इन्हीं सब शिक्षा प्रतिष्ठानों के फलस्वरूप हिन्दू समाज के निम्न स्तर में असंख्य निरक्षर लोगों के रहने पर भी पूर्णतया अज्ञजनों की संख्या कम ही है। साधारण शिक्षा प्रसार का ऐसा सुन्दर उपाय दूसरा नहीं हैं। बाबा गम्भीरनाथ इन सब अनुष्ठानों में योग दान करके तथा, अनुष्ठानकारियों को उत्साह और पुरस्कार प्रदान करके, इस बात की शिक्षा देते थे कि ये लोग समाज के लिये कितना कल्याण कर रहे हैं।

दशहरा के दिन गोरखनाथ मन्दिर से संलग्न विस्तृत मैदान

में विशेष मेला होता है। बाबा गम्भीरनाथ हाथी पर चढ कर सदर रास्ते से घूसते हुए उस मेले में जाते है। मार्ग में वे दरिद्र भिक्षुकों के बीच पैसा लुटाते हुए चलते है। उनके पीछे-पीछे साधुगण, शिष्यगण और भक्तगण आनन्द मनाते हुये जाते है। दीवाली की रात में मन्दिर दीपमाला से सजाया जाता है, आत्म समाहित चित्त योगिराजजी बीच-बीच में घूम कर दीपमाला की सजावट देखते है। इस प्रकार अपने शिष्यों तथा भक्तों को हिन्दू धर्म के सब प्रकार के बहिरंग अनुष्ठानों पर भी श्रद्धाशील होने का उपदेश देते थे।

इसी प्रकार गोरखनाथ मन्दिर में गुरुदेव के सन्निधान में शिष्यगण आनन्दोत्सव में पूजा की छुट्टी बिताते थे। इस बात का थोड़ा परिचय आगे दिया जायेगा कि, बाबाजी यद्यपि अधिकांश समय अपने स्वाभाविक मौन भाव में समाहित अवस्था में अपने आसन पर ही विराजमान रहते थे, तथापि शिष्यों और भक्तों का कितना आदर यत्न करते थे, उनके सुख स्वाच्छन्द्य विधान की ओर कितना ध्यान रखते थे।

शिवरात्रि के समय बाबा गम्भीरनाथजी गोरखपुर के निकटवर्ती 'योगी चौक' नामक स्थान को जाते थे। वहाँ का शिवलिंग प्रसिद्ध है और वहाँ एक तालाब भी है जिसमें स्नान करने से, प्रबाद है, कि कुष्टादि रोग अच्छे हो जाते है। शिवरात्रि के समय वहाँ मेला लगता है और नाना स्थानों से बहुत लोग वहाँ आते हैं। तिरोधान के कुछ दिन पूर्व अस्वस्थ अवस्था में भी वे वहाँ गये थे। उस समय उन्होंने वहीं पर तीन सज्जनों तथा एक महिला को दीक्षा प्रदान किया था और वहीं मे उनके दीक्षा प्रदान व्रत की परिसमाप्ति हुई थी।

इस बात का पहिले ही उल्लेख हो चुका है कि वे गर्मी के दो महीनों में गोरक्षनाथ की जमींदारी के अन्तर्गत किसी ग्राम में जाकर निवास करते थे। वे साधारणतः किसी शिष्य को वहाँ अपने

साथ आने की अनुमति नहीं देते थे। दो एक विशिष्ट सेवक साथ में रहते थे।

प्रस्थान की तैयारी

हरिद्वार से लौटने के बाद जो दो वर्ष मात्र वे अपने स्थूल शरीर में रहे, उस काल में उपर्युक्त दो स्थानों के अतिरिक्त और कहीं नहीं गये।

सन् १६१५ ई० के पौष मास में सहसा एक दिन बाबाजी को कफ ज्वर हो गया। श्वास और कफ का कुछ उपद्रव पहले से ही था, अब वह और भी बढ़ गया। तभी से उनका शरीर दुर्बल होने लगा। सर्वश्री वरदाकान्त वसु और यज्ञेश्वर बसु मन वाणी कर्म से उनकी सेवा करने लगे। कालीनाथ ब्रह्मचारी के बाद इन दोनों भक्तो को ही बाबाजी की शारीरिक सेवा का विशेष अधिकार प्राप्त हुआ। उसी समय से बहिर्जगत् के साथ उन्होंने बाह्य सम्बन्ध भी कम कर दिया। चेतना का जो एक आना भी अंश वे लोक समाज से युक्त रखते थे, वह भी अन्तर्निवद्ध होने लगा। चेतना मानो देह को भी क्रमशः छोड़ना चाहती थी। जब शरीर बाहर से अधिक पीड़ित प्रतीत होने लगा, तब वे आँखे मूद कर 'संभ्रान्त सर्वेन्द्रिय' होकर अन्तर में ही ब्रह्मानन्द सम्भोग करने लगे। बाबा शान्तिनाथजी कहते थे कि, क्रमशः बाबाजी की अन्तर्मुखीनता और बर्हिजगत के प्रति औदासीन्य इतना बढ़ गया था कि, उनको इस बात की आशंका हो गयी-थी कि अब वे बहिर्जगत से शीघ्र ही प्रस्थान कर जांयेगे। जब भी कोई उनसे शारीरिक अवस्था के विषय में प्रश्न करता था, तभी नीद से जगे हुए के समान कह देते थे "अच्छा है।"

शिवरात्रि के समय तीन दिन के लिये 'वे योगी चौक' जाकर घूम आये। उस समय भी उनका शरीर अत्यन्त दुर्बल था। कुछ दिनों बाद सहसा एक दिन उन्होंने कहा कि, अब शीघ्र ही

मफःसल जाऊँगा। किन्तु हाय! सुनने वालों में से किसी के मन में यह प्रश्न नहीं उठा कि, इस मफःसल शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है, कौन मफःसल को जाने के लिये वे अपने स्थूल शरीर को इस प्रकार सुखा रहे थे। किसी के भी हृदय में इस बात की आशंका नहीं उत्पन्न हुई कि, योगीश्वर महापुरुष अपनी व्यवहार क्षेत्र रूपी सदर की लीला समाप्त करके, चिरकाल के लिये सर्वव्यवहारातीत ब्रह्मधाम रूप सम्यक् प्रशान्त सन्यक् गम्भीर परिपूर्णनन्दनिलय मफःसल में अपने को विलीन करने के लिये ही इस उद्योग पर्व का आरम्भ किय है। स्थूल दृष्टि से उन लोगों ने यह समझ लिया कि मठाध्यक्ष गम्भीरनाथजी मठ की सम्पत्ति के अन्तर्गत किसी गाँव में जाने के लिये विचार कर रहे है। जब लोगों ने बीमारी की अवस्था में बाहर जाना आपत्तिजनक बताया तो उन्होंने कहा कि वहाँ के निर्जन प्रशान्त गाम्भीर्य से और पवित्र जलवायु से स्थास्थ्य के पूर्णतया सुधर जाने की सम्भावना है।

उनके शिष्यगण उनको फिर एक बार कलकत्ता ले जाने की चेष्टा कर रहे थे। असंख्य नर-नारी उनके चरणों का आश्रय प्राप्त करने के लिये समुत्कण्ठित थे। ब्हुतों के गोरखपुर तक जाने का सामर्थ्य और सुविधा न थी। वे लोग यही भरोसा लिये बैठे थे कि, जब बाबाजी कलकत्ता आवेंगे तब उनके चरणों पर हम आत्मसमर्पण करके कृतार्थ हो जायेंगे। वे लोग मन ही मन उनके कलकत्ता आगमन के लिये प्रार्थना किया करते थे और उनके शिष्यों से इस बात की व्यवस्था करने का अनुरोध करते रहते थे। प्रकट रूप से इस उद्देश्य की चर्चा करके उन्हें ले जाने का प्रयत्न करना ही असम्भव था। किन्तु एक सुयोग उपस्थित हुआ। पहले उनके एक नेत्र में अस्त्रचिकित्सा हुई थी। इस समय दूसरा नेत्र अस्त्रोपचार के योग्य हो गया था। इसी के उपलक्ष में फिर कलकत्ता ले जाने के लिये आग्रह के साथ आवेदन किया जाने

लगा। शिष्यों को शान्त करने के लिये उन्होंने अपनी सम्मति बतला दी। उन्होंने कहा कि, मफःसल से लौटने के बाद कलकत्ते का जाना हो सकता है। मफःसल जाने का दिन निश्चय करने के लिये पत्रा दिखवाया गया। सन् १९१७ ई० का २१ मार्च बुद्धवार, चैत्र कृष्ण की वारूणी त्रयोदशी को यात्रा का दिन स्थिर हुआ। किन्तु मायामुग्ध शिष्यों और सेवकों में से किसी का भी हृदय इस यात्रा के दिन की बात सुनकर उस समय कांपा नहीं, किसी को इस बात की कल्पना भी न हुई कि, यह उनकी महायात्रा का दिन होगा।

रोग बृद्धि

सौर चैत्र की दशमी रविवार के दिन श्वास और कफ का तकलीफ कुछ बढ़ गया। ऐसी अवस्था में मफःसल कैसे जा सकेगें, इस कातर जिज्ञासा के उत्तर में वे कुछ देर तक मौन ही रहकर बोले कि वहाँ तो दुःख का कोई कारण नहीं, वहाँ तो जाने से ही स्वास्थ्य अच्छा हो जायगा। किन्तु स्पष्ट रूप से यह नहीं कहे कि, वह स्थान तो सभी प्रकार के अच्छे बुरे के परे है, चिर शान्ति का धाम है।

शिष्यों को उनकी अस्वस्थता की सूचना देने की बात जब पूछी गई तो उन्होंने मना कर दिया। इस बात का सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि यदि उनकी बीमारी की सूचना शिष्यों को यथासमय मिल सकती तो गोरक्षनाथ मन्दिर में उन सबको रहने का स्थान भी मिलना कठिन हो जाता। जिनको अपना मन और प्राण समर्पण करके वे लोग निश्चिन्त रहते थे, जो गोरक्षनाथ मन्दिर में अपने आसन पर आत्मसमाहित भाव में विराजते हुये ही हम लोगों का ऐहिक और पारत्रिक सभी प्रकार का कल्याण साधन कर रहे हैं, इस विश्वास से जिनके बल पर वे लोग सभी विघ्न बाधाओं को तुच्छ समझते थे, वे ही नाथजी उन लोगों को अनाथ करके जा रहे है, यह संवाद यदि यथा समय उन लोगो को मिला

होता, तो जो शिष्य जहाँ भी जिस भी अवस्था में होता, वहाँ से उसी अवस्था में दौड़ कर उनके पास पहुँच जाता। वे लोग तो उनके स्थूल शरीर के ही साथ विशेष रूप से परिचित थे, उनके सर्वगत सच्चिदानन्द स्वरूप के साथ तो उन लोगों का विशेष परिचय था नहीं। तो इसमें कौन आश्चर्य थाकि, उनके स्थूल शरीर के अभाव में वे लोग अपने को अनाथ समझेंगे? बाबाजी ने अपने अन्तर्धान होने की सम्भावना किसी को जाननें नहीं दिया। उन्होंने कुछ ऐसी व्यवस्था की थी कि, जो लोग उनके चरण प्रान्त में रहकर भी उनकी शरीर सेवा में नियुक्त थे उन लोगों के मन में भी किसी प्रकार की आशंका का उदय न हुआ।

बाबा ब्रह्मनाथ, ब्रह्मचारी यज्ञेश्वर और श्रीयुत वरदाकान्त बसु उनकी सेवा में नियुक्त थे। ब्रह्मचारी यज्ञेश्वर भी उस समय कुछ अस्वस्थ हो गये थे जिससे कि सेवा में किसी प्रकार की त्रुटि न हो, इसी विचार से बाबा शान्तिनाथ और बाबा निवृत्तिनाथ को तार दे दिया गया था, और बाबाजी ने इसका अनुमोदन किया था। वे लोग तार पाते ही आकर उपस्थित हुए। वरदा बाबू ने अपनी चिट्ठी–पत्रियों में बाबाजी की शारीरिक दुर्बलता और बीमारी की बात विभिन्न स्थानों में लिखकर भेज दिया था, किन्तु इससे किसी प्रकार की आशंका की बात किसी के समझ में न आई थी।

तिरोधान

अकस्मात् सौर चैत्र की द्वादशी मंगलवार के दिन बरदा बाबू का तार मिला कि गुरुदेव अधिक अस्वस्थ हैं। इस तार के पाते ही जिन्हें सुविधा थी उसी दिन रेलगाड़ी से गोरखपुर के लिए रवाना हो गये, दूसरे लोग दूसरे दिन चलने की तैयारी करने लगे। किन्तु गाड़ी के समय से पूर्व ही दूसरा तार मिला कि वे ब्रह्मस्वरूप में विलीन हो गये। ऐसे आकस्मिक बज्रपात से शिष्यों के हृदय पर क्या बीती, इस बात का आभास देने की चेष्टा भी बाचालता मात्र

होगी। सन् १६१७ ई० के २१वें मार्च दिन बुधवार मघुकृष्ण त्रयोदशी महावारूणी के १० बजकर १५ मिनट के समय योगीराज गम्भीरनाथ के व्यवहारिक जीवन का अवसान हो गया। उनके तिरोधान के अव्यवहित बाद (२३वें मार्च सन् १६१७ ई०) श्रीयुत् वरदाकान्त बसु ने विभिन्न स्थानों के गुरुभाइयों को जो लिखा था, उसी का कुछ अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है।

—गत बुधवार २१ मार्च १० बज कर १५ मिनट के समय हम लोगों के हृदयराज परमदेवता, हम लोगों के आशा और शान्ति के राज्य में आग लगा कर, हमें चिरजीवन तप्तभोगसागर में गोते खाने को छोड़ कर, अनन्त धाम में चले गये। हमें स्वप्न में भी इस बात की कल्पना न थी कि इतने आकस्मिक रूप से बिना पहले कोई आभास भी दिये, हम लोगों को अनाथ करके चले जायेंगें। यहाँ तक कि विजया (तिरोधान) के पहले दिन भी अपने व्यवहार में इस बात का कोई लक्षण भी हम लोगों को जानने न दिये। ऐसा भी अवसर नहीं दिये कि, हम सब भाईयों को उनके चरणोपरान्त में बुला सकते और एक साथ अपना सम्पूर्ण हृदय उनके चरण तल पर उत्सर्ग करके धन्य हो सकते।

प्रातः ८ बजे अपने अभ्यास के अनुसार उठ कर विस्तर पर बैठ गये थे, अन्तिम समय तक एक आसन से ध्यानस्थ अवस्था में विराजते रहे, कोई बात नहीं बोले।

उनका पवित्र देह यथाविधि आश्रम में प्रवेश करने के मार्ग के बाम पार्श्व में समाहित किया गया।

बाबाजी के बंगाली शिष्यों की समवेत चेष्टा से इस समाधि स्थान के ऊपर एक सुरभ्य प्रस्तर मन्दिर का निमार्ण हुआ। सन् १६२३ ई० के आश्विन के श्रीश्री महाष्टमी को सब शिष्य सम्मिलित होकर हृदय मिला कर एवं शोक और आनन्द में बेसुध

होकर श्री मन्दिर प्रतिष्ठा महोत्सव मनाये। इसके कुछ वर्षो बाद अक्षय तृतीया को समाधि वेदी के ऊपर श्वेत संगमरमर प्रस्तर की बनी हुई एक पूर्णकृति मूर्ति प्रतिष्ठित की गई।

अष्टादश अध्याय

भक्तवात्सल्य और जीव प्रेम

बाबा गम्भीरनाथ के भक्ततवात्सल्य के सम्बन्ध में उनके एक विद्वान् शिष्यने °लिखा है,– "जो लोग उनके निकट आते थे वे वहाँ" आते ही ऐसा अनुभव करते थे कि, गोरखपुर मानों उनका चिर परिचित स्थान है, एवं बाबाजी के साथ उन लोगों का मानों कितना प्राचीन परिचय है। प्रवास से लौट कर घर आये हुये सन्तान का माता–पिता जिस प्रकार आदर यत्न करते हैं अपने चिर पुरातन स्वजन को दीर्घकाल के बाद सान्निध्य में पाकर कोई कोमल ह्दय गम्भीर प्रकृति व्यक्ति जैसा व्यवहार करता है, उसी प्रकार बाबाजी अपने शिष्यों के साथ चिरपरिचित स्नेह परिपूर्ण सुह्रद् के समान व्यवहार करते थे। प्रायः देखा जाता था कि, किसी भक्त के वहाँ आने के पहले ही उसके आहारादि की व्यवस्था हो जाती थी। यह सब कार्य ऐसी सहज रीति से सम्पन्न होता था कि, विशेष अनुसन्धान निरत व्यक्ति के चक्षु के अतिरिक्त दूसरे के चक्षु को आकृष्ट नहीं करते थे। उनके व्यवहार में जननी की कोमलता एवं पिता की उदारता और सुह्रदयता का एकत्र समावेष दिखाई पड़ता था। उनका व्यवहार जैसा होता था, उसको प्रकट करने वाली भाषा ही नहीं है, उसकी तुलना ही नहीं हैं वह कुछ इसी प्रकार का होता था, जैसा कि कोई अत्यन्त स्नेहप्रवण पिता अपने मातृहीन सन्तान के प्रति करता है। उनकी शान्ति स्निग्ध सस्नेह दृष्टि, मृदु मधुर सम्भाषण जिसने भी देखा है और सुना है, उसी को इस बात का पता लगा है कि, उनके भीतर कितना स्नेह, कितनी करूणा, कितनी शुभाकाँक्षा, कितनी क्षमा, कितनी सहिष्णुता थी।

जिस किसी को भी उनका आदर मिला है, उसी को यह अनुभव हुआ कि, माता–पिता के आदर की अपेक्षा भी उनका आदर कितना मधुर, कितने उच्चस्तर का होता था। माता–पिता आदर

यत्न करते हैं सही, उसमें हृदय का अभाव नहीं, माया ममता का अभाव नहीं, किन्तु माता–पिता भी बालक के समान ही असहाय होते हैं। जब भी हमारे जीवन में काई दैहिक अथवा मानसिक दुःख उपस्थित होता है, तो माता–पिता उसका उपशमन करने के लिये करही क्या सकते है? हाथ जोड़ कर भगवान के शरणापन्न होने के अतिरिक्त दूसरा उपाय नही। इसीलिये उनके आदर यत्न में उद्वेग और उत्कण्ठा का तीव्र ताप सर्वदा ही लक्षित होता है; पग–पग पर उनकी अक्षमता का परिचय मिलता है। किन्तु बाबाजी के व्यवहार में किसी प्रकार की उत्कण्ठा का आभास कभी भी नहीं मिलता.थां वे सब जानते थे, सब बूझते थे, सब कुछ कर सकते थे, इसीलिये उनके व्यवहार में किसी उत्कण्ठा का चिन्ह भी न रहता था, किसी प्रकार के अमंगल की आशंका भी न रहती थी। वे तो शुभाशुभ के उस पार प्रतिष्ठित थे। इसीलिये उनके व्यवहार अचंचल, स्थिर, स्निग्ध, मधुर और करूण होते थे। उनके मुख पर चिर प्रसन्नता बिराजती थी। इसी लिये उनकी स्नेह धारा पिता–माता की स्नेह धारा से भी अधिकत प्रीतिप्रद होती थी जब हम लोग उनके निकट रहते थे, तब निर्भीक भाव से विचरण करते थे। उनका सान्निध्य ही हम लोगों की सभी प्रकार की भय भावना को भुला देता था। उनकी स्नेह धारा हम लोगों को निराविल आनन्द के भीतर डुबाए रहती थी

स्नेह का गाम्भीर्य

बाबाजी के इस वात्सल्य के नमूने तौर पर यदि केवल दो चार घटनाओं का उल्लेख यहाँ किया जाय, तो यह बात मन में नहीं आती है कि, उससे किसी की परितृप्ति का आनन्द प्राप्त हो सकेगा। उनके व्यावहारिक जीवन की कोई घटना हीं बहुत बड़े किस्म की तड़क भड़क की घटना नहीं है। छोटे–छोटे कार्यो के भीतर से ही उनके लौकिक जीवन के प्रेम पगे भावों का प्रकाश होता

था। घटनाएँ जैसी बाहर दिखाई पड़ी है उनको ठीक उसी प्रकार भाषा में व्यक्त करने से, महापुरुष चरित्र के सम्बन्ध में अनभिज्ञ बहिर्मुख लोगों के निकट उन घटनाओं का अन्तर्निहित रहस्य प्रकट नहीं होता। सुतरां उनके लिये यह वर्णन प्रायः निरर्थक हो जायेगा। दूसरी तरफ जिनको महापुरुष चरित्र को प्रत्यक्ष रूप से परिदर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे इस प्रकार की सामान्य घटनाओं के भीतर से अतलस्पर्शी प्राण समुद्र के जिस माधुर्य का परिचय अपने अपने हृदयों में उपलब्ध किये है, भाषा के वर्णन में उसको परिस्फुट न देखकर इस वर्णन को नितान्त शुष्क मालूम होगा। सच तो यह है कि "उनका व्यवहार जैसा था उसको प्रकट करने की भाषा ही नहीं है।" साधारण मनुष्य छिछले हृदय के गम्भीर भावों को भी भाषा सम्यक् रूपेण प्रकट करना सम्भव नही होता, यद्यपि उसका अधिकांश देहेन्द्रिय के कार्यो में ही अभिव्यक्त होता है। परन्तु जो मनुष्य साधारण है, जिसके हृदय समुद्र की गम्भीरता और विस्तार का इयत्ता प्राप्त करना कठिन होता है, जिसकी चेतना का प्रायः पन्द्रह आन चिदानन्द रस लोक में निमज्जित था और एक आना मात्र लौकिक जीवन के बाहर के व्यवहार में प्रकाशित होता था, ऐसे मनुष्य के हृदय का भाव उनके बाहरी कार्यो के वर्णन द्वारा प्रकट करने की कल्पना भी मूर्खता होगी।

भाषा जहाँ वास्तव को प्रकाश नहीं कर पाती, अथवा वास्तव के सम्बन्ध में एक यथार्थ धारण का उत्पादन करने में समर्थ नहीं होती, वहाँ भाषा के लिये निरवता का अवलम्बन ही समीचीन होता है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु जब इस महापुरुष की जीवन आलोचना करने के लिये इस ग्रन्थ का आरम्भ किया गया है, तभी इस समीचीनता का अतिक्रमण भी हो गया है। इस अपराध को सम्पूर्ण रूप से स्वीकार करके ही इस कार्य में हस्तक्षेप किया गया। इस ग्रन्थ का उद्देश्य महायोगी का जीवन वर्णन नहीं है, केवल उस सम्बन्ध में कुछ इंगित मात्र करना है। जिन्हें महापुरुष के जीवन को

देखने और आलोचना करने का सुयोग मिला था, वे लोग इस जीवन हीन इंगित का अनुधावन करके, अपने अन्तराल में जो जीवन है, उसकी कल्पना और अध्यात्मिक दृष्टि की सहायता से उसको समझ लेगें इसी उद्देश्य से और विभिन्न घटनाओं के समान शिष्य और भक्तों के प्रति उनके वात्सल्य के परिचायक कुछ घटनाओं का उल्लेख किया जाता है।

स्नेह और करूणा की वृष्टि

साधारणतः जब भी कोई भक्त आश्रम में आता, तो भक्तवत्सल बाबा गम्भीरनाथ स्वप्नोस्थित के समान आँखे खोलकर और दृष्टि को करूणामंडित करके स्नेहार्द्र मृदु मधुर स्वर में इस प्रकार उसके सम्बन्ध में दो एक बातें पूछते थे कि भक्त का हृदय उस करूणाध ारा से मानो स्नात हो जाता था और उनको नितान्त अपना मान लेता था। इसके बाद वे उससे 'आराम करो' ऐस कहकर उसका थकावट दूर करने के लिये ब्रह्मचारी के कमरे में भेज देते थे, एवं ब्रह्मचारी को उसके सुख सुविधा के सम्बन्ध में सब प्रकार की व्यवस्था करने का आदेश देते थे। इस बीच में यदि ब्रह्मचारी बाबाजी के कमरे में आ जाते तो अपनी अर्धवाह्यावस्था में ही पूछते थे कि, भक्त के भोजन, आराम आदि का कैसा बन्दोबस्त हुआ है, और यदि किसी बात की कमी रहती, तो उसके विषय में उपदेश देते थे। यदि आश्रम संलग्न वाटिका में किसी के शयन करने की व्यवस्था की जाती, और विशेषतः यदि उसमें स्त्रियाँ होती, तो आश्रम के आहारादि के बाद से सारी रात पहरा देने के लिये दो एक चौकीदार नियुक्त कर देते थे। यदि किसी के साथ छोटे बच्चे होते तो, वे इस बात का भी अनुसंधान करते थे कि बच्चों के लिये दूध का बन्दोबस्त हुआ है या नही, और कभी कभी अपने पीने का दूध बच्चों के लिये भेज देते थे।

यद्यपि बाबाजी प्रायः सर्वदा ही अपने आसन पर आत्मस्थ

होकर विराजमान रहते थे, तथापि उनकी दृष्टि, वाणी और विधि व्यवस्था के भीतर से उनके हृदय का वात्सल्य भाव इस प्रकार प्रकट होता था कि, भक्त गण जितने दिन वहाँ रहते थे, वे सर्वदा ही इस बात का अनुभव करते थे कि, बाबाजी की सर्वनोमुखी दृष्टि स्नेह और करूणा से कोमल होकर निरन्तर उन लोगों की सुविधा और सन्तोष विधान के लिये उन लोंगों के साथ लगी रहती थी। कुछ नवागत शिष्य ओर शिष्या कदाचित बगीचे वाले मकान में भोजन बनाते समय लकड़ी की कमी अनुभव कर रहे हैं अथवा लकड़ी गीली होने के कारण तंग हो रहे है; सहसा बाबाजी की आज्ञा से सेवक पर्याप्त सूखी लगड़ी लेकर उसके पास पहुँच जाता था। कोई शिष्य शिष्या कदाचित् आश्रम के 'हाथी शाला' के उपर वाली कोठरी में (अतिथि शाला में) अच्छे घी का अभाव अनुभव कर रहे है, बाबाजी के पास से बढ़िया घी लेकर कोई पास आ पहुँचता। किसी को शायद चाय पीने की आदत है, तथापि लज्जा से कह नहीं पाता है, बाबाजी के पास वह ज्योंही जाता, वह कह देते, 'जाव चाय पी लेव' किसी स्त्री को आभूषणों के साथ वाटिकागृह में ठहरने में डर लगता, दूसरे दिन बाबाजी उससे आभूषणों का बक्स अपनी कोठरी में रख जाने को कह देते। इसी प्रकार आश्रम में रहते समय बाबाजी प्रत्येक भक्त के अभाव को स्वयं समझ कर स्वयं ही उसकी पूर्ति कर देते थे।

कतिपय दृष्टान्त

एक दिन बाबाजी को कोठरी में कई भक्त बैठे थे। बाबाजी अपनी अपनी स्वाभाविक अर्धवाह्यावस्था में चारपाई पर विराजमान थे। सहसा एक घी के टीन की तरफ अंगुली से इशारा करके एक भक्त को उसे धूप में रखने का आदेश दिया, उसने आदेश पालन किया। फिर वे अपने भाव में स्थित हो गये। सब लोग उनकी सुप्रसन्न निश्चल मूर्ति का दर्शन नीरव होकर करने लगें। एक घंटे

के बाद फिर घर की नीरवता भंग करके सुप्तोत्थित के समान वे एक भक्त को निकट बुला कर घी का टीन ले आने को कहे ओर दूसरा साफ बर्तन दिखा कर उसमें टीन में से थोड़ा सा घी उड़ेलने को कहा। आदेशानुसार यह कार्य सम्पन्न हो जाने पर वे बोले, "ऊपर ले जाव"। कह कर फिर अन्तर्मुख हो गये। एक भक्त अपनी स्त्री और शिशु पुत्र के साथ हाथीशाला के ऊपर दुमंजिले पर रहता था, और प्रायः एक महीने से प्रति दिन नाना प्रकार के खाद्य व्यंजन तैयार करके बाबाजी की सेवा करता था। बाबाजी बीच बीच में उनके पास खाद्योपकरण भेज दिया करते थे। बढ़िया घी बाजार में मिलना कठिन था। किसी ने बाबाजी को बढ़िया घृत का उपहार दिया था। उक्त दम्पति घी में नाना प्रकार की चीजें बनाते थे। उन्होंने उनके पास बढ़िया घृत भेज दिया, उन लोगो की सेवा गुरुजी कितने आदर के साथ ग्रहण करते थे, एवं उनके सेवाव्रत में वे किस प्रकार उत्साह और साहाथ्य प्रदान करने के लिए समुत्सुक रहते थे, एक आत्मस्थ महापुरुष से इस प्रकार के छोट–छोटे निदर्शन बीच–बीच में पाकर वे लोग आनन्द में मग्न हो जाते थे।

योगिराज के एक शिष्य श्रीयुत् प्रसन्न कुमार घोष (तब हुविगंज सरकारी स्कूल के शिक्षक एवं बाद में सहकारी इन्सपेक्टर) चाकरी से मुक्त होकर कुद महीनों के लिये बाबाजी का संग और सेवा करने के उद्देश्य से गोरखपुर में आकर रहने लगे। उन्होंने अपने संस्मरणों में लिखा है कि, वे बाबाजी की जितनी सेवा करते थे, बाबाजी अपनी करुणा और वात्सल्य के कारण उससे भी अधि ाक उनकी सेवा करते थे। उनके आहार, शयन, स्वास्थ्य आदि सब विषयों की ओर बाबाजी की सस्नेह और सयत्न दृष्टि रहती थी। स्नान के बाद बाबाजी की कोठरी में जाकर बैठते ही, वे अपनी अन्तर्मुखीत अवस्था में ही धीरे धीरे चारपाई के नीचे से लड्डू बतासा या जो भी मिठाई रहती, निकाल कर अपने हाथ से देकर कहते, – "जाव पानी पी लेव"। आहार के समय उनको अपने

निकट होने पर पूछते, 'भोजन पाया'? रात्रि में ८, ६ बजे के समय किसी को भी बैठा देख कर कहते– "जाव आराम करों"। इन सब विषयों में विभिन्न भक्तों के प्रति बाबाजी के व्यवहार में अवश्य ही कोई विषमता न थी। प्रायः सभी भक्तो के प्रति बाबाजी के व्यवहार में अवश्य ही कोई विषमता न थी। प्रायः सभी भक्तो को इसी प्रकार का सुमधुर सस्नेह व्यवहार अपने अपने जीवन में प्राप्त हुआ था और उसको सब लोग अपने अपने ह्रदय में एक अमूल्य सम्पति के समान सुरक्षित रखते है।

प्रसन्न बाबू अपने गोरखपुर निवास काल में वहाँ छात्रों को पढ़ाते थे। एक धनी के घर में उनको ले जाने के लिये गाड़ी आती थी ओर फिर गाड़ी से उन्हें आश्रम में पहुँचा दिया जाता था। एक दिन सन्ध्या के बाद बाबाजी कुछ भक्तों तथा साधुओं के बीच में बैठे थें।सहसा सुप्तोत्थित के समान वे जैसे थोड़ी उत्कण्ठा के साथ पूछ पड़े, – "मास्टर बाबू आया है?" तब तक भी वे आये न थे। कुछ समय बाद फिर पूछे; बाद में उनकी खोज करने के लिये लालटेन लेकर आदमी भेजा जा रहा था, ठीक उसी समय प्रसन्न बाबू आश्रम में आ पहुँचे। उस दिन लौटते समय रास्ते मे घोड़ा बिगड़ गया और गाड़ी टूट गई, कोचवान ओर साईस दोनों को चोट भी बहुत लगी, प्रसन्न बाबू को भी थोड़ी चोट लगी। तब एक एक्के पर बैठ कर वे आश्रम को आये। इस प्रकार बाबाजी दूरवर्ती शिष्य का भी आपत्ति विपत्ति के समय प्रकट रूप से खोज खबर लेते थे। उन्हें पता किस प्रकार लग जाता था, यह प्रश्न ही निरर्थक है।

हरिद्वार के कुम्भ मेले से लौटने के कुछ दिनों बाद एक दिन बाबाजी अपनी कोठरी में निज भाव में विराजमान थे। कई भक्त सामने बैठे थे। सहसा उन्होनें उन लोगों से पूछा कि, उमेश का कोई हाल मिला है या नहीं। उन लोगो को कोई सम्बाद न मिला था। बाबाजी के पूछने से उन लोगों के मन में यह बात उठी कि,

शायद उमेश बाबू किसी विपत्ति में पड़ गये है। उनकी स्त्री भी हैजे से आक्रान्त हो गई थी, किसी नयी विपत्ति का आ जाना भी आश्चर्य की बात न थी; सुतरां एक सज्जन ने कहा कि, उमेश बाबू के पास तार भेजा जाय बाबाजी से अनुमति मांगने पर उन्होने कहा कि,–'अच्छा कल भेजा जायेगा। दूसरे दिन सबेरे जब फिर बाबाजी से तार देने की बात पूछी गई, तो उन्होंने कहा, प्रयोजन नही। इध ार उसी दिन उमेश बाबू अपनी रूग्णा स्त्री को लेकर हरिद्वार से कलकत्ता के लिये रवाना हुये। रास्तें में पानी न रह जाने पर, रूग्णा स्त्री के लिये पानी लाने के लिये उमेश बाबू एक स्टेशन पर उतरे। जल लेकर आते–आते ही गाड़ी छूट गई। उमेश बाबू दौड़ कर पीछे के एक डब्बे के पावदान पर लटक गये, गाड़ी के भीतर न घुस पायें एक हाथ में पानी भरा लोटा और दूसरे हाथ से गाड़ी का हैंन्डल पकड़ कर, द्रुतगामी मेंल ट्रेन के पावदान पर खड़े–खड़े, उनको एक स्टेशन से दूसरे स्टेशन जाना पड़ा। गाड़ी में उनके परिवार के लोग व्यति व्यस्त होकर गुरुदेव को पुकारने लगे। गुरुदेव भी ठीक उसी समय उनकी खोज खबर किये थे। भक्त गण को बाद में उमेश बाबू की चिट्ठी मिली, तब सब बातें समझ में आयी। एक दूरस्थ शिष्य के प्रति भी गुरुदेव की कितनी सकरूण दृष्टि और मातृवत् वात्सल्य का प्रकाश होता है, इस बात को सोच कर वे लोग विमोहित और आनन्दित हो गये।

उपहार स्वीकृत

बहुत से भक्त उनके निकट जाने के समय, अपने प्रेम और भक्ति के वश उनकी सेवा के लिये अपने–अपने घर से विशेष–विशेष खाद्य सामग्रियाँ तैयार कर के अथवा बाजार से खरीद कर ले जाते थे। ये सब सामग्रियाँ नितान्त सामान्य और मूल्यहीन भले ही हों परन्तु उनमें जो भक्ति और प्रेम का रस मिला होता था, उसका मूल्य कदापि सामान्य नहीं ये सब चीजें जब उनके सामने रक्खी

जाती थी, तो भक्तों के हृदय में आनन्दबर्धन करने के निमित्त, वे विषयविमुख, आत्माराम, आत्मक्रीड़, योगिराज गौर के साथ उन वस्तुओं की ओर देखते थे; कभी–कभी उनके विषय में कौतूहलव्यजंक दो एक प्रश्न भी पूछते थे, जो लोग वह लाते थे उनकी ओर बीच–बीच में प्रसन्नता पूर्ण निगाह फेरते थे, अपने लिये उनमें से थोड़ा–थोड़ा रख देने को कह कर बाकी बांट देने को कहते थे, कभी कभी भक्तों के सामने ही स्वयं उनमें से थोड़ा–थोड़ा आहार भी कर लेते थे। इससे भक्तों के हृदय में किस प्रकार आनन्द लहराने लगता था, वह तो भक्तों का हृदय जिन्हें मिला है, वे ही अपने अपने हृदय में अनुभव कर सकेंगें।

छोटे तथा आडम्बरहीन कार्यो का मूल्य

यद्यपि योगिराज गम्भीरनाथजी दिन रात प्रायः सभी समय अपने आसन पर ध्यानाविष्ट अवस्था में बैठे रहते थे, तथापि आश्रम के भीतर कहाँ कौन भक्त या अतिथि किस प्रकार रहता है, किसको किस प्रकार की सुविधा या असुविधा हो रही है, किसको कौन वस्तु देने से या किसके विषय में किस प्रकार व्यवस्था करने से उसको सुविधा बोध होगी, इन सब विषयों के तत्वावधान में आश्रमाध्यक्ष का जो कुछ कर्तव्य होता है, उस विषय में उनकी किसी प्रकार की त्रुटि नहीं देखी जाती थीं इस सम्बन्ध में पहले भी प्रसंग क्रम से दो चार बातों का उल्लेख किया जा चुका है। कार्य सभी छोटे ही छोटे है; लौकिक कार्यो के हिसाब से उनका मूल्य भी अधिक नहीं है; किसी सांसारिक 'बड़े आदमी' के कर्ममय जीवन की आलोचना के समय ऐसी क्षुद्र घटनाओं को साधारणतः उल्लेखयोग्य ही नही समझा जायेगा; किन्तु इन छोटे–छोटे कार्यो के भीतर ही उदासीन महायोगी के हृदय का परिचय मिलता है।

जो महापुरुषगण संसार से अतीत अध्यात्मिक राज्य में ही नित्य निरन्तर विहार करते है, जो लोग कभी भी किसी प्रकार के

सांसारिक 'बड़े कार्य से' संश्लिष्ट नहीं होते, सांसारिक जीवों के प्रति उनके हृदय का भाव किस प्रकार होता है, इसका परिचय किसी प्रकार के 'बड़े कार्य में' मिलना सम्भव नहीं होता; दो चार छोटे–छोटे कार्यो अथवा बातों के बीच में से एक अर्थपूर्ण दृष्टि के भीतर से, इन सब महापुरुषों के स्नेह और प्रेम का परिचय प्राप्त किया जाता है। विश्वासी, हृदयवान तत्वानुसंधाननिरत विचारशील व्यक्तिगण ही यह परिचय प्राप्त कर पाते है। जो लोग बहिर्मुख है, जो कर्म के बाहरी स्वरूप को ही उज्वल और आडम्बर को ही बड़ा समझतें है, और उसी को देख कर कर्म का मूल्य आंकते है, वे लोग इन महापुरुषों की हृदयवत्ता का परिचय नहीं पाते। मनुष्य को पहचानना, मनुष्य के हृदय को समझना, बड़े कार्यो की अपेक्षा उन छोटे छोटे कार्यो के भीतर से सहज और यथार्थ होता है, जिनकी ओर संसार की दृष्टि बिल्कुल नहीं जाती।

लोकोत्तर महापुरुष बाबा गम्भीरनाथ के लौकिक जीवन के प्रायः कार्य छोटे–छोटे और आडम्बर विहीन थे। किन्तु जो लोग देखने जाते थे। वे उन कार्यो में ही उनके हृदय का प्रकृष्ट परिचय पाते थे, जीव मात्र के प्रति, उनमें भी मनुष्य के प्रति, विशेष्तः भक्तों के प्रति, उनकी सहानुभूति कितनी गम्भीर थी, इस बात का निदर्शन पाते थे, उसके भीतर अनेकों देखने, सोचने और सीखने की बातें पाते थें जिन लोगों को इन बातों को विशेष रूप से देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, उन लोगो का चित्त सादर भक्ति और श्रद्धा से केवल झुक ही नही जाता था, बल्कि उनको नितान्त अपने निज जन के रूप में पाकर निःसंकोच हृदय का सब प्रेम उड़ेल देता था। बाबाजी के एक शिष्य ने अपनी स्मृति लिपि में प्रसंग क्रम में लिखा है "एक्का रास्ते में खड़ा था, मैं जब तक बाबाजी को देख सका, तब तक उन्ही की ओर मुख किये हुये पीछे की ओर सरकते सरकते जा कर गाड़ी में चढ़ गया। जबतक देख पाया तबतक वे प्रेममयी जननी के समान स्नेह समुद्र उड़ेलते हुए मेरे नेत्रों से नेत्र जोड़े हुए

मेरी ओर ताकते ही रहे। अहा! ऐसे हृदय के प्रियतम को छोड़ कर अब किस जगह और कितने दिनों के लिये जाना पड़ेगा, यह सोच कर हृदय फटने लगा। उस दृश्य का स्मरण करने से आज भी नेत्र गीले हो जाते है। जब भी बाबाजी से बिदाई लेते, यही दशा होती थी। जिस क्षण बाबाजी का संग छूटता था, उसी क्षण से फिर उस दिन का गिनना शुरू हो जाता था कि, जिस दिन फिर बाबाजी का दर्शन होगा। काल बड़ा ही निष्ठुर जान पड़ता था।............यह बात मैने सर्वदा ही प्रत्यक्ष रूप से देख है कि जिस किसी ने बाबाजी का आश्रय लिया, वही बाबाजी के प्रति इसी प्रकार आसाधरण रूप से आकृष्ट हो गया। बाबाजी के नेत्रों में किसी ने कभी भी बूँद जल नहीं देखा, तथापि, उनके नेत्रों में ऐसा एक शान्त, मधुर, स्नेहसिक्त भाव विराजता रहता था, कि कोई भी उनके पास आता, वहाँ से एक प्रकार की अपूर्व तृप्ति लेकर लौटता था। उनके संतानों में से जो भी कोई जिस भी किसी समय उनके निकट से बिदा होने लगता, तभी वे उनकी ओर ऐसी स्नेह भरी दृष्टि से ताकते रहते थे कि वे लोग आकुल हुए बिना रह ही नहीं सकते थे, मालूम यही होता था कि स्नेह ही बाबाजी के नेत्रमार्ग से बाहर निकल कर, जहाँ तक देखा जाता था वहाँ तक बढ़कर, उन लोगों का अनुगमन करता हुआ उनको पल्वित कर देता था; शिष्यों में से जिस किसी ने भी उनकी स्नेह दृष्टि को खास तौर से गौर के साथ देखा है, वही वेसुध हो गया।

"महात्मा रामदास काठिया बाबा के शिष्य, स्वनामख्यात अध्यापक श्रीयुत शारदा प्रसन्न दास महाशय अपने दो छोटे भाईयों को (बरदा और ज्ञानदा) साथ लेकर बाबजी से दीक्षा दिलाने के लिये गोरखपुर आये थे। दीक्षा के बाद विदाई लेने के लिये बरदा प्रसन्न और ज्ञानदा प्रसन्न बाबाजी की कोठरी मे जाकर बाबाजी को प्रणाम करके रोते रोते आकुल हो गये। बरदा ने वाष्पारूद्ध कण्ठ से बाबाजी से कहा, – बाबाजी हम लोग बहुत दूर रहते है– इतना

ही कह कर और अधिक न बोल सका, कण्ठ रूद्ध हो गया। उस समय बाबाजी को कुछ विचलित सा होते देखा, वे तो स्नेह के समुद्र थे, बरदा के मुख पर अपनी पूर्ण दृष्टि निहित करके स्नेह कोमल स्वर में कहने लगे, 'जब भी, जहाँ भी रहो, चिट्ठी पत्री देना, यद्यपि चिट्ठी पत्री न देने पर भी खबर मिल जाता है।' बरदा बाबा के इस भाव और उत्तर पर भी आकुल हो गये, बाबाजी बार–बार 'हाँ हाँ कहने लगे। बाबा का जैसा नाम था, कार्य भी वैसा ही था, वे बहुत ही अल्पभागी और मृदुभाषी थे, एवं प्रत्येक शब्द के बाद मानो ३ ४ पूर्णविराम लगाकर बात बोलते थे। आशीर्वाद देने के समय में भी वे केवल एक छोटा सा गम्भीर 'हाँ' कहते थे, उतने से ही लोगों का मन आर्द हो जाता था। जिस किसी ने भी बाबाजी को देखा था, वही कहता था कि बाबाजी के समान इतनी शीतल मूर्ति कभी नहीं देखा। बाबाजी का सबकुछ शीतल था– आकृति शीतल, प्रकृति शीतल, दृष्टि से सर्वदा ही मधु की वर्षा होती थी। इतनी बड़ी जमींदारी का और आश्रम सम्बन्धी 'गृहस्थी की व्यवस्था का भार अपने कन्धे पर बहन करते हुए भी, उनको कभी भी किसी के भी ऊपर किसी प्रकार के कटु शब्द का प्रयोग करते हुये नहीं सुना गया।"

अभ्यागतों की सुविधा पर तीक्ष्ण दृष्टि

बाबाजी यद्यपि दिन के अधिकांश समय अपनी सीधी सादी ऊची चारपाई के ऊपर बैठे रहते थे, तथापि आश्रम की श्रृखला के विषयं में किसी स्थान पर एक भी त्रुटि हो जाने की गुंजाइश न थी। एक दिन दोपहर के समय भण्डारे में सब साधुगण जाकर भोजन कर आये। बाबाजी ने सहसा हमसे कहा, 'वटवृक्ष के नीचे कुछ उदासी साधु बैठे हुए है, जाकर देख लो कि, उन लोगों ने भोजन किया या नहीं। उस दिन मेरा स्कूल बन्द होने के कारण मै प्रातः काल से निरन्तर बाबाजी के पास ही था, इन उदासी साधुओं को

बाबाजी के पास आते नही देखा था और न किसी ने बाबाजी को उनकी खबर ही दी थी। इधर उदासी साधुगण ११ बजे से कुछ पहले आकर पहुँचे थे। बाबाजी के आदेशानुसार मैं वटवृक्ष के नीचे गया और वहाँ जाकर कुछ उदासी साधुओं को बैठे देखा। उन लोगों से पूछने पर पता मिला कि वे लोग भी यथा समय भण्डारे में जाकर प्रसाद पा आये थे।

"पूज्यपाद विजयकृष्ण गोस्वामी प्रभु के लब्धप्रतिष्ठ शिष्य, परलोकगत मनोरञ्जन गुहठाकुरता के पुत्र, चित्तरञ्जन गुहठाकुरता के मुख से सुना है कि, वे एक बार तीर्थ पर्यटन करके बाबाजी का दर्शन करने के लिये गोरखपुर आए। बाबाजी ने उनका आदर के साथ स्वागत किया। चित्त बाबू के सर पर कई दिन से तेल न पड़ा था, वे तेल का अभाव अनुभव कर रहे थे। आश्चर्य ! बाबाजी ने यथासमय उनके लिये सुगन्धित तेल भेज दिया। प्रातःकाल में तो समय न था, इसलिए शाम को मछली का भी बन्दोबस्त कर दियें चित्त बाबू कहते थे कि, वे बाबा का स्नेह और आदर कभी न भूल सकते थे। बाबाजी यह समझते थे कि कब किस वस्तु की आवश्यकता होती है, इसलिये उनकी व्यवस्था में कोई त्रुटि न होती थी।

"मेरी दीक्षा के २१ वर्ष पूर्व मेरा भांजा श्रीमान कोहिनूर और उनके समवयस्क कुछ लड़के घर से भाग कर नेपाल आदि स्थानों का परिभ्रमण करके गोरखपुर में बाबाजी का दर्शन करने आये। कोहिनूर को उस समय भयानक ज्वर हो गया। बाबाजी ने तुरन्त चिकित्सक बुलवा कर उनकी चिकित्सा का बन्दोबस्त कर दिया, एवं उनकी सेवा करने के लिये एक नौकर नियुक्त कर दिया। कोहिनूर के संगी गण जब जाने लगे तो बाबाजी ने कोहिनूर को ज्वर की अवस्था में जाने नहीं दिया। जब वे ज्वर से अच्छे हो गये, तब रास्ते का खर्च देकर उनको उनके घर मयभनसिंह भेज दियें।

इस कोहिनूर ने किन्तु बाबाजी से दीक्षा नहीं लिया।

रोगी के प्रति वात्सल्य

गोरखपुर के लब्धप्रतिष्ठ डाक्टर श्रीमान कान्तिचन्द्र सेन महाशय बाबाजी के शिष्य न थे, किन्तु अनुगत भक्त थें वे बाबाजी के चिकित्सक भी थे। जब कभी कान्ति बाबू के घर में कोई अधिक बीमार पड़ता, एवं वे डाक्टरी और आयुर्वेद चिकित्सा से निराश हो जाते थे, तब बाबाजी से 'विभूति' अथवा 'आशापुरी धूप' ले जाते थे ओर उसका व्यवहार करते ही रोग शान्त हो जाता था। एक बार कान्ति बाबू की पुत्रवधु प्रसव काल में तीन दिन तक बेहोशी की अवस्था में थी। डाक्टर और दायियों की चेष्टा का कोई फल न होने पर अन्त में निराश होकर कान्ति बाबू ने बाबाजी के पास आदमी भेजा। बाबाजी ने थोड़ी सी विभूति दी। उसका सेवन करते ही बहू का निर्बिध्न सन्तान प्रसव हो गया और प्रसुति पूर्णतया अच्छी हो गई। ओर भी एक बार कान्ति बाबू के छोटे पुत्र को सान्निपातिक ज्वर हो गया, और उसके आनुसंगिक लक्षण पूर्ण मात्रा में विकसित हो गये। अन्त में जब जीवन की और आशा न रही, तब कान्ति बाबू ने बाबाजी के पास आदमी भेजा। उस आदमी को बाबाजी ने 'आशापुरी धूप' दिया। उस धूप को कुछ बार सूंघने से ही रोगी का ज्वर छूट गया, एवं उसके बाद कुछ ही दिनों में लड़का बिल्कुल अच्छा हो गया। कान्ति बाबू कहते थे, कि, बाबाजी ही उस लड़के के प्राण दाता है। इसी प्रकार बाबाजी ने कितनी बार विपत्तियों से उनकी रक्षा की थी, इसकी संख्या नहीं है। ऊपर लिखी हुई दो घटनायें मेरे गोरखपुर में बाबाजी के निकट रहते समय घटी थी। बाबाजी इस बात का भरोसा देकर 'धूप' न देते थे कि इससे बीमारी अच्छी हो जायेगी। वे लोग बाबाजी के आशीर्वाद स्वरूप में उसको माँगते थे; इसी लिये वात्सल्य के साथ बाबाजी दे देते थे। उन लोगों के विश्वास के बल से ही हो, रोगी के कर्मानुसार हो, अथवा जिस

किसी कारण से ही हो रोग निवृति देखी गई थी। सेग दूर करने के प्रकाश्य उद्देश्य से बाबाजी कभी भी यह सब न देते थे। वे कहते थे कि, बीमारी होना ओर उससे निरोग हो जाना अपने कर्मानुसार ही होता है। तथापि लौकिक उपाय का अवलम्बन करना उचित ही है।

सेवक की सेवा

बाबाजी के एक दूसरे शिष्य ने* अपनी स्मृतिलिपि में बाबाजी के नेह और दया के नमूने के तौर पर इसी प्रकार की अनेक घटनाओं का अपनी निज प्रत्यक्ष जानकारी से वर्णन करते–करते प्रसगं कम–से–कम घटना को इस प्रकार लिखे हैं,– 'रामेश्वर नाम का एक बालक आश्रम में नौकर था। एक दिन गुरुदेव भोजन के बाद विश्राम कर रहे थे। हम लोग जब भोजन कर लिये; तो मेरी इच्छा हुई कि एक बार गुरुदेव के घर में जाऊँ। मैं खूब चुपके–चुपके गया, आशा थी, कि इस समय पंखे की रस्सी चाकर के हाथों से लेकर स्वयं खींचूंगा। कोठरी के सामने के द्वार से घुसते ही देखा, गुरुदेव चारपाई पर बैठे हैं, बालक रामेश्वर उनके अत्यन्त निकट चारपाई के सामने खड़ा है, गुरुदेव सबेरे का खरीदा हुआ खूब बड़ा बड़ा २–१ सेब या वेदाना हाथ में लिये हुए कुछ छील छाल से रहे थे। मेरी आकस्मिक उपस्थिति से, मालूम हुआ, वे लोग मानो कुछ संकुचित से हो गये,– उन्हें न भी हुआ हो, मुझे अपने अन्तर की भावना दिखाई पड़ी हो। मैं तुरन्त लौट आया। ऐसे व्यक्ति कहाँ हैं, जो एक दरिद्र बालक को बढ़ियाँ चीज खिलावें, इसीलिये अपने सेवक भृत्य की सेवा वे स्वयं कर रहे थे।'' ऐसे कार्य वे साधारणतः नीरव और गुप्त रूप से ही करते थे।

जीव–सेवा

बरदा बाबू ने अपनी स्मृतिलिपि में लिखा है कि, ''मनुष्य की

तो बात ही क्या है, दूसरे भी प्राणी उनके स्नेह और सेवा से वञ्चित न रहते थे। आश्रम की गउवें बाहर मैदान में चरने के लिए जाते समय और चर कर लौटते समय बाबाजी के शरीर से शरीर घिसती हुई बिना उनका थोड़ा सा आदर पा लिये किसी प्रकार हटती ही न थीं। बाबाजी यदि बाहर बैठे होते तो कुत्ते आकर उन्हें घेर कर चारो तरफ पड़े रहते। उनके शरीर पर धूल मिट्टी लगी होने के कारण यदि कोई उन्हें बाबाजी के पास से भगाने लगता तो वे मना कर देते थे। एक दिन रात्रि के आखीर में बाबाजी की कोठरी में खट् खट् की आवाज सुन कर दरवाजा खोल कर कोठरी के भीतर जाकर देखा कि बाबाजी अपनी चारपाई के नीचे से रोटी तोड़तोड़ कर चूहों को बांट रहे हैं। मुझे देख कर कुछ लजाते से जाकर चारपाई पर बैठ गये, और मेरे चिन्तन को दूसरी दिशा में लगा देने के लिये तम्बाकू चढ़ाने के लिये कह दिये। बाबा के नेत्रों में कभी किसी ने एक बूँद भी जल नहीं देखा। किन्तु उनकी दृष्टि और व्यवहारों में प्रतिक्षण मुझे इसी बात का साक्ष्य मिला कि उनका अन्तःकरण अत्यन्त कोमल था। बाबा को सूती और ऊनी वस्त्र तो पहनने में कोई आपत्ति न थी। किन्तु उनके शिष्य सेवकगण जब उन्हें रेशमी वस्त्र देते थे तो उसे प्रायः नहीं पहनते थे; यह भी स्पष्ट न कहते थे कि क्यों नहीं पहनते थे। हम लोग जब भी बीच–बीच में रेशमी वस्त्र पहनने के लिये अनुरोध करते थे, जब वे यही कहते थे,–अच्छा अभी रख दो।' एक दिन प्रसंगवश बाबाजी ने कहा कि,– रेशम के सूत के कट जाने के डर से, जो लोग रेशम के कीड़े पालते हैं, वे कीड़ों सहित पिंडियों को गरम पानी में डाल देते हैं; इस प्रकार सैकड़ो हजारों कीड़ो की जान जाती है। तब उनके रेशमी कपड़ा न पहनने का कारण समझ में आया। बाबा के प्रेम से वन के हिंस्र जन्तु भी उनके निकट हिंसा भूल जाते थे। वे सर्प व्याघ्र तक का यत्न और सेवा करते थे।

दण्ड विधान

"बाबाजी दीन दरिद्र सबके ही पिता थे। आज भी जमींदारी के प्रजागण यहाँ (गोरखपुर मन्दिर में) आने पर बाबाजी के समाधि मन्दिर के सामने खड़े होकर वास्परुद्ध कण्ठ से कहते हैं,– 'हे बूढ़े महाराज! आप कहाँ छिपे हैं ? हम लोगों का प्रतिपालन करने वाला कौन है? आप जहाँ भी रहें हम लोगों के ऊपर नजर रक्खें। हमारे दिल की बात सुन कर हमारे अभावों को दूर करने वाला दूसरा कोई नहीं है। महाराज! आप ही हम लोगों के एकमात्र भरोसा और आश्रय थे। धन्य महाराज ! धन्य आपकी महिमा !" इत्यादि।

नितान्त पापी भी बाबा गम्भीरनाथ की अनुग्रह दृष्टि से बंचित न होता था। उनके शिष्यों में से कोई यदि कोई अक्षम्य अपराध करके भी भीत अनुतप्त हृदय से उनके निकट उपस्थित होता, तो वे इस प्रकार स्मितमुख और प्रसन्न नेत्रों से उनकी ओर दृष्टि फेरते, ऐसी स्नेहपूर्ण भाषा में उससे दो एक सान्त्वना उत्साह और अभय की बात कहते, एसे मधुर भाव से उसके साथ व्यवहार करते, कि वह अपने अपराध की बात ही भूल जाता था, उसके चित्त का मालिन्य उसकी स्नेह और करुणा की अमृतधारा से बिधौत हो जाता, उसके हृदय में एक अभूतपूर्व शान्ति और अभय आ जाता, उसकी पापवृत्ति की अग्नि भी उस अमृताभिषेक से चिरकाल के लिये निर्वापित हो जाती थी। यदि आश्रम के किसी कर्मचारी के विरुद्ध कोई बड़ा अपराध प्रमाणित हो जाता, तो वे उसके संशोधन के लिए किसी प्रकार के दण्ड की व्यवस्था अवश्य करते थे, किन्तु उसको एक जगह से बरखास्त करके, फिर उपदेश देकर दूसरी जगह पर नियुक्त कर देते थे; यदि इस पर कोई किसी प्रकार की आपत्ति उठाता तो वे कहते कि, क्या विचारे को खाने बिना मर जाना ठीक होगा, या उसको केवल पाप के मार्ग पर ही छोड़ देना

उचित होगा।

पतित बन्धु

एक बार एक शिष्य उनके पास बैठा था। एक सुसज्जिता अनव–गुण्ठिता नांरी गाड़ी से उतर कर गोरक्षनाथ मन्दिर के भीतर जाकर फल मिठाई आदि का उपहार धर कर प्रणाम किया, एवं बाबाजी के निकट आकर और हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम करके चली गई। उसको देखकर शिष्य के मन में हुआ कि यह एक पतिता नारी, तथापि मन्दिर के भीतर घुस गई, इससे कुछ बिस्मित भी हुआ। बाबाजी शिष्य की तरफ देखकर करुण्मयी भाषाा में बोले,– 'रण्डी है, मगर हिन्दू है।' विश्वव्यापिहृदय, उदारधर्म मतपोषक प्रतितबन्धु महात्मा गम्भीरनाथ अपने शिष्य को हावभाव से तथा वाणी से स्पष्ट रूप से समझा दिये कि, पापकर्मो में लिप्त रहने पर भी जो व्यक्ति देवता के प्रति श्रद्धाभक्ति सम्पन्न होता है, देवता के मन्दिर में प्रवेश करने का उसका अधिकार है, समाज उसका परित्याग भले ही कर दे, देवता उसका परित्याग नहीं करता। शिष्य की संकीर्णता दूर हो गई, पापी के प्रति बाबाजी की करुणा और ध र्मनीति के सम्बन्ध में उसका उदाहरण देखकर वह मुग्ध हो गया।

यदि बाबा गम्भीरनाथ के भक्तवात्सल्य और जीवप्रेम के दृष्टान्तों की घटनावली का वर्णन जारी रक्खा जाय तो ग्रन्थ के समाप्ति की सम्भावना नहीं रहेगी। जो भी कोई व्यक्ति एक घंटे के लिये भी उनके संग का सौभाग्य प्राप्त किया है, वहीं ऐसी छोटी–छोटी घटनाओं में इसका विधि परिचय पाया है। घटनायें अवश्य ही अत्यन्त साधारण हैं, किन्तु वे जो भी दो एक बात कहते थे, जिस प्रकार संसारी मनुष्यों को उपदेश देते थे, जिस प्रकार किसी के प्रति दृष्टिपात करते थे, उस प्रत्येक के भीतर उनके भक्तवात्सल्य और जीव प्रेम का प्रकाश होता था। जीव के प्रति प्रेम ही उनके व्यावहारिक जीवन का नियामक था, जीव प्रेम तो उनको

समाधि की अतल गहराई से खींच कर कुछ हद तक बाहर रखता था। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि उनका व्यावहारिक जीवन प्रेम से ही गठित था।

ऐश्वर्य आनुषंगिक है

यहाँ जिन दो-चार दृष्टान्तों का उल्लेख किया गया है, उनमें एवं इसी प्रकार की और घटनायें जो उन लोगों ने देखी है, उनमें उनकी इच्छा न रहने पर भी जो साधारण एक आध तथाकथित अलौकिकत्व प्रकट हो गया है, कुछ अतीन्द्रिय वस्तुओं के देखने की शक्ति, लोगों के मनोगत भावों कों समझ जाने की शक्ति, दुःसाध्य रोगों से आरोग्य कर देने की शक्ति, इत्यादि का परिचय पाया गया है,- जिनकी दृष्टि इन्हीं सब की ओर विशेष रूप से आकृष्ट होती है, उसी के सम्बन्ध में चिन्तन करके, एवं उसी को इन घटनाओं का प्रधान अंग समझकर जो लोग विस्मयाविष्ट और विमुग्ध हो जाते हैं, वे लोग तो असली तथ्य से वंचित होकर नकली का ही आदर करते हैं; जो योगसिद्ध योगिराज हैं जिसकी शक्ति अपरिसीम है, उनके सम्बन्ध में उक्त प्रकार की शक्तियों को शक्ति मानना ही विचार हीनता का परिचायक है। कोई एक नितान्त साधारण शक्ति वाला व्यक्ति भी सामान्य अभ्यास करके ही उक्त प्रकार की शक्तियों को प्राप्त कर सकता है; योगसाधकगण अपनी साधना के बहुत ही निम्न सोपान पर ही इन सब शक्तियों को प्राप्त कर लेते हैं, एवं तुच्छ समझकर ऐसी शक्तियों और विभूतियों का अतिक्रमण कर जाते हैं। ऐसे भी अनेक सूविदित दृष्टान्त हैं कि, योगसाधना के बिना भी, किसी प्रकार की शक्ति के अभ्यास के बिना केवल प्रेम और तज्जनित इच्छा शक्ति के बल से साधारण लोग भी ऐसा कार्य कर सकते हैं। एक बार किसी अंग्रेजी अखबार में किसी अंग्रेज ने लिखा था कि,-'एक हिन्दू साधु बिना टिकट के रेलगाड़ी के द्वितीय श्रेणी के डिब्बे में भ्रमण कर रहा था, यह देखकर टिकट परिदर्शक

ने उसे बलात् नीचे उतार दिया। साधु स्टेशन पर गाड़ी के इन्जन की तरफ तीक्ष्न दृष्टि से ताकता हुआ खड़ा रहा। जब गाड़ी के छोड़ने का समय हुआ तो ड्राइवर के प्रयत्न करने पर भी गाड़ी न चली। मिस्त्रियों ने कई बार परीक्षा की कि कहीं गाड़ी का कोई कल पुर्जा तो नहीं टूटा है। किन्तु कहीं कुछ भी टूटा फूटा न था। तब लोगों की निगाह साधु की ओर गयी। जब अनुनय विनय करके साधु को गाड़ी में चढ़ा दिया गया, तब गाड़ी सहजं ही स्टेशन से चल पड़ी। इस घटना को लेकर बाबाजी के सामने भी कोई–कोई आलोचना करने लगे। एवं महाशक्तिशाली महापुरुष कह कर इस साधु की प्रशंसा करने लगे उस समय निवृत्तिनाथ भी उपस्थित थे। तब इसी बात के प्रसंग में बाबाजी ने कहा कि ऐसी शक्ति को देखकर ही किसी को महायोगी या सिद्ध पुरुष नहीं मान लिया जाता। योगीपुरुष तो संकल्प मात्र से बड़े–बड़े पर्वतों को उड़ा दे सकता है। किन्तु इस शक्ति को प्राप्त कर लेना कोई बड़ी बात नहीं है, किसी–किसी योगविद्या का कुछ काल तक अभ्यास करने से ही ऐसी शक्तियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। यथार्थ और ज्ञानी महापुरुष इसको कुछ नहीं समझते।

गोरखपुर के गवर्नमेन्ट हाई स्कूल के भूतपूर्व शिक्षक अतुलबिहारी गुप्त एम०ए० बी०टी० ने 'मृत्यु' के परे और पुनर्जन्म बाद, नामक ग्रन्थ में योगिराज के सम्बन्ध में अपने एक प्रत्यक्ष दृष्टि घटना का विवरण दिया है, उन्होंने लिखा है–"मैं उस समय गोरखपुर था। उस शहर के गोरखनाथ महादेव देश प्रसिद्ध हैं। उस समय देवता के मन्दिर से संलग्न एक छोटे से कमरे में बाबा गम्भीरनाथ नामक एक संन्यासी रहते थे। लोगों का विश्वास था कि वे एक सिद्ध पुरुष थे। बहुत दूर–दूर से लोग उनका दर्शन करने आते थे। अघोर बाबू (उक्त स्कूल के तत्कालीन हेडमास्टर राय साहेब अधोरनाथ चट्टोपाध्याय) उनके विशेष भक्त थे। प्रायः अपर ह्नीहा में उनका दर्शन करने जाते थे। मैं कभी–कभी उनके साथ

जाता था। बाबा अत्यन्त अल्पभाषी थे।.................अघोर बाबू प्रायः कहा करते थे कि, बाबा सिद्ध महापुरुष है।, आवश्यकता पड़ने पर ऐसा कार्य कर सकते हैं जिसको लोग असम्भव समझतें हैं। मैं उनकी बात पर विश्वास न करता था।.................

"एक दिन बुद्धवार के रोज अपराह्न में मैं और अघोर बाबू स्कूल के अहाते के भीतर घूम रहे थे। उसी समय अकस्मात् मुझे ख्याल आया कि, बाबाजी से मिला जाय। मैंने अघोर से ज्योंहि कहा, वे विस्मित होकर बोले, बड़े आश्चर्य की बात है ! मुझे भी ठीक यही इच्छा हुई थी। चलो अभी ही चला जाय।.................हम लोगों को देखकर बाबाजी ने मुस्कराते हुये कहा, 'तुम लोगों को यहाँ आने के लिये जो खबर भेजा था, क्या वह तुम्हें मिला था ?' ....ठीक उसी समय दो स्त्रियाँ बाबाजी के पास आ पहुँची। उनमें से एक तो विशेष सभ्रान्त परिवार की स्त्री जान पड़ती थी, अवस्था अनुमान से ६० वर्ष लगभग रही होगी। दूसरी शायद उसकी दासी थी।.................वृद्धा ने जो कहा उसका सारांश यह है,–'उसका एक मात्र पुत्र बैरिस्टरी पढ़ने विलायत गया था। प्रायः चार महीने से पत्र लिखना बन्द कर दिया है। उसके एक मित्र को तार देने से उत्तर आया कि, वह विलायत में नहीं है, वह मित्र नहीं जानता कि कहाँ है।' वह इतनी कहानी कहकर वृद्धा ने सहसा बाबाजी के दोनो चरण पकड़ लिये और कहने लगी, 'बाबा, आज आपको मेरे ऊपर दया करना ही पड़ेगा, केवल इतना मुझको बतला दीजिये कि मेरा पुत्र जीवित है या नहीं।' बाबाजी ने कहा,– मैं तो एक दरिद्र संसार त्यागी मनुष्य हूँ विलायत की बात क्या जानू।' वृद्धा ने कहा,– मैं जानती हूँ यदि आप इच्छा करेंगे, तो मेरे पुत्र की खबर ला सकते हैं। भगवान् गोरखनाथ की दोहाई, मेरे ऊपर दया कीजिये।

"बाबाजी थोड़ा हंस कर बोले,– अच्छा देखूँ क्या कर

सकता हूँ.................... वे अपने कमरे में जाकर दरवाजा बन्द कर लिये।.................... प्रातः ४० मिनट के बाद बाहर आये। वृद्धा से बोले; सामने के सोमवार को तुम्हारा पुत्र सम्भव है गोरखपुर पहुँच जायगा। इस समय वह जहाज पर है। देखा, वृद्धा का बाबाजी के ऊपर असीम विश्वास था। वह बड़े भक्तिभाव के साथ प्रणाम करके चली गई.................... ।

"दूसरे बुद्धवार को अपराह्म में प्रायः ४ बजे के समय अघोर बाबू मुझको बुलावा भेजे। उनके बँगले पर पहुँच कर मैंने देखा कि, एक साहबी पोषाक पहने हुये एक हिन्दुस्तानी युवक उनसे बात चीत कर रहा है। मुझको देख कर अघोर बाबू ने बंगला भाषा में कहा, यह उस वृद्धा के निरुद्दिष्ट पुत्र हैं, बाबा के कथनानुसार परसों (सोमवार) को यहाँ आ गये हैं। बाबाजी के साथ अपनी माता के मिलने की बात ये अभी तक नहीं जानते हैं। मैं इसको और तुमको अभी बाबाजी के पास ले चलूँगा। बाबाजी को मैं महामानव मानता हूँ।.................... आज तुम्हारे एक बहुत पुराने कुसंस्कार का मूलोच्छेद होगा......... ।

"बाबाजी पहले की तरह अकेले ही कुटी के सामने दालान में बैठे थे। वैरिष्टर साहब बाबा को देखकर अत्यन्त बिस्मित होकर बोले,–Hellow Baba, you here." अघोर बाबू ने विरक्त भाव से कहा, 'बाबा अंग्रेजी नहीं जानते हैं। जब हम लोग सब बैठ गये तब साहब हिन्दी में बोले,–'आप यहाँ कब आये ? मैं तो जहाज से उतरते ही Imperial Mail पर सवार हो गया था। किन्तु मेरा ख्याल है, उस गाड़ी में तो आप थे ही नहीं'। अघोर बाबू साहस से बोले,–'तुम्हारी बात से ज़ान पड़ता है कि, तुमने जैसे बाबाजी को किसी दूसरी जगह देखा हो। सच्ची बात क्या है ?' साहब ने कहा,–'बिल्कुल सत्य है। हम लोगो का जहाज रास्ते में बम्बई पहुँचने से एक दिन पहले जहाँ पर था, वहीं बाबाजी को अपनी

केबिन के बाहर मैंने देखा था। एक साधु को प्रथम श्रेणी के निकट टहलते हुये देख कर मैं बाहर आया और बाबा के साथ प्रायः ५ मिनट तक बात चीत करता रहा। उसके बाद बाबाजी दूसरी ओर चले गये।

"मैने पूछा,– क्या आप को याद आता है कि, आपने जहाज पर कब और किस समय बाबाजी से बात चीत की थी ?' साहब ने थोड़ा सोच कर कहा,– विगत बुधवार को अपराह्न ४।।,५ बजे।

"पाठक जानते हैं कि, उस बुधवार के दिन संध्या के पूर्व बाबाजी अपने कमरे में जाकर प्रायः ४० मिनट तक उसके भीतर ही थे। तथापि साहब कहता था कि, उस समय उसने बाबा को जहाज पर देखा था। इस समस्या का सही उत्तर यह है कि, बाबाजी सूक्ष्म शरीर से जहाज के ऊपर पहुँच गये थे।"

अतुल बिहारी गुप्त महाशय ने योगिराजजी के जिस योगेश्वर्य का विवरण दिया है, उसमें उनके साधारण व्यावहारिक नियम का व्यतिक्रम होने पर भी, ऐसी घटनायें नितान्त बिरल नहीं हैं, एक ही समय में विभिन्न स्थानों पर योगिराजजी को भक्तगणों ने देखा है, भक्तों की विपत्काल में आकुल प्रार्थना पर योगिराजजी ने प्रकट होकर अभय प्रदान किया है, ऐसी अनेकों घटनाओं की बात सुनी जाती हैं। उनके दैहिक तिरोधान के बाद भी कितने आकुल कृपा प्रार्थियों के निकट प्रकट होकर उन्होंने दीक्षामन्त्र प्रदान किया है एवं उनके हृदय में शन्ति प्रदान किया है। ऐसे कार्य उनके तिरोधान के इतने दीर्घकाल के बाद भी संघटित होते हैं। भक्तानुकम्पा और दीनवात्सल्य वशतः साधारण लोगों के अजक्षित रूप में उनकी अनेक योगभूतियाँ प्रकट हो जाती हैं। इन विभूतियों को वे कभी कोई महत्व न देते थे। उनकी दृष्टि में ये सब योग विभूतियाँ साधारण विद्या के भीतर ही परिगणित होती थी। वे इन विभूतियों का अतिक्रमण करके बहुत ऊपर समासीन थे।

अहैतुकी करुणा ही प्रधान है

पूर्वोक्त प्रकार की घटनाओं की विशेषता किसी प्रकार की विभूति का परिचय में नहीं है, इन कार्यो के भीतर से प्रेममय योगिराज के सुगंभीर हृदय प्रस्रवण से जो प्रेम की धारा निकल कर अनुगृहीत व्यक्तियों के हृदय और मन को अमृत से प्लावित कर देती थी, इसी में उसकी विशेषता थी। जो थे गुणातीत पुरुष, जो नित्य निरन्तर ब्रह्मभावभावित और ब्रह्मानन्दरस पान में विभोर रहते थे, संसार जिनके निकट स्वप्नवत् मिथ्या भासता थे, अपने देहेन्द्रिय के सम्बन्ध में भी जो पूर्णतया उदासीन थे, अपने सम्पर्क में जिनके लिये कोई प्रिय या अप्रिय न था कुछ इष्ट या अनिष्ट न था, जो बनकोलाहल के भीतर रहते समय भी सर्वदा अन्तर्दृष्टिपरायण, मौनवान् हर्षविषादरहित और स्थिरासन से आसीन हो कर अपने में आप विराजमान रहते थे, वे ही लोकोत्तर महापुरुष भी जो हम लोगों के प्रति कुछ स्नेह और वात्सल्य रखते हैं, वे जो क्षण भर के लिये भी हम लोगों के ऊपर ख्याल करते हैं, हमारे कल्याण के निमित्त और हमारी सुख सुविधा का विधान करने के निमित्त वे जो जरा सी भी चेष्टा करते हैं, वे जो हम लोगों को अपना निज जन मान लिये हैं और हमारे प्रति तदनुरूप व्यवहार करते हैं, उनके ब्रह्मरस रहित अमृतमय हृदय में जो हमारे लिये भी थोड़ा सा स्थान है, वे स्वयं सब प्रकार की आवश्यकताओं के अतीत रहकर भी हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये इतना नीछे अवतरण करते हैं, उसका परिचय मिलने पर, उनके सामान्य व्यवहारों के भीतर भी उसका निदर्शन मिलने पर हमारा हृदय भी क्या आशा, आनन्द और पवित्रता से सिक्त नहीं हो जाता ? हमारा शुष्क हृदय भी प्रेम की महिमा का अनुभव करके क्या सरस नहीं हो जाता ? हमारा चित्त भी क्या उनके प्रेम से आकृष्ट होकर उन्हीं के भाव से भावित होने के लिये तथा उन्हीं के आदर्शानुसार जीवन गठन करने के लिये कुछ हद तक उत्साहित नहीं होता ?

अतल समुद्र के तल देश से उठ कर जो बुद्‌बुद जलराशि के ऊपर दिखाई पड़ता है, उसके सम्बन्ध में थोड़ा चिन्तन करने से ही यह बात सहज ही प्रकट हो जायेगी कि, वह एक छिछले गड्ढे से कितना भिन्न होता हैं आकार में क्षुद्र होने पर भी वह अतल प्रदेश की खबर लेकर आता है, स्मृति को, चिन्तन को और अनुभूति को अतल तल की ओर खींच ले जाता है, एवं अपार समुद्र के साथ हमारा एक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर देता है। मायातीत ब्रह्मभावभावित निर्विकार महापुरुष का स्नेह और वात्सल्य उकने ब्रह्माभिन्न हृदय से निकल कर हम लोगों को उसी निष्कल निष्क्रिय, शान्त, शिव, अद्वैत परम पुरुष के स्नेह ओर वात्सल्य की बात का स्मरण करा देता है, उसी सर्वातीत सर्वमय विश्वगुरु भगवान् के अतल और अपार हृदय के साथ हमारे क्षुद्र हृदय का योग संस्थापित कर देता हैं उनका अहैतुक प्रेम अपने प्रभाव से हमारे बहुधा विभक्त प्रेम को अपने रजस्तमोविमुक्त ज्ञानमय और प्रेममय हृदय की ओर आकृष्ट करके एककेन्द्रीभूत और योगयुक्त कर देता है, एवं हमारे चित्त को तन्मय करके ब्रह्मभाव से भावित कर देता है।

करुणा अप्राकृत है, अतएव नित्य है।

बाबा गम्भीरनाथ के वात्सल्य और प्रेम के निदर्शन स्वरूप एक प्रकार के कुछ सामान्य सामान्य कार्यों का उल्लेख किया गया; इसके अतिरिक्त एक दूसरे प्रकार की घटनाओं का विवरण उनके बहुत से भक्तों और शिष्यों से गुप्त रूप से प्राप्त हुआ है। ऐसी घटनाएँ न केवल बाबाजी के जीवनकाल (दैहिक) में ही अनुभूत हुई हैं, बल्कि उनके तिरोधान के बाद आज भी विभिन्न शिष्यों और भक्तों द्वारा विभिन्न रूपों में प्रत्यक्ष की जा रही है। आज भी उस तरह की घटनाओं का प्रत्यक्ष करके और उनके भीतर उनकी करुणा और वात्सल्य का निदर्शन प्राप्त करके वे लोग निश्चित रूप से विश्वास

करते हैं कि, यद्यपि गुरुदेव लौकिक रूप में स्थूल देह का त्याग कर दिये हैं तथापि उन लोगों का परित्याग नहीं किये हैं, बल्कि अलक्षित रूप से उनके साथ–साथ रहकर उन लोगों के मंगल का विधान कर रहे हैं, विपत्ति जाल से उनकी रक्षा कर रहे हैं, उनके अन्तर में शुभ बुद्धि की प्रेरणा देकर उन्हें परम कल्याण के मार्ग पर खींचते लिये जा रहे हैं। शिष्यों के हृदय की दुर्बलता ओर विश्वास की शिथिलता दूर करके उनके हृदय में उत्साह तेज आस्तिक्य और प्रेम बढ़ाने के उद्देश्य से ही वे बीच–बीच में अपने को उनके समक्ष प्रकट करते रहते हैं, एवं अपनी करुणा और प्रेम का परिचय देते रहते हैं।

इन घटनाओं की सत्यता पर सन्देह करने से उन सब विशुद्ध स्वभाव सत्यपरायण शिष्यों और भक्तों के प्रति नितान्त अविचार होगा उनके सत्यनिष्ठा पर सन्देह करना होगा। यह बात शास्त्र सम्मत है कि महापुरुषगण अलक्ष्य रूप से रहकर जीवों का कल्याण किया करते हैं, एवं विशुद्धचित्त व्यक्तिगण इसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। जिनको गुरु रूप में किसी सिद्ध महापुरुष की प्रप्ति हो गई है, उन सभी लोगों को अनुभव हुआ है और हो रहा है कि, गुरु उनकी विपत्तियों से रक्षा करता है, उनके लिये मंगल ही विधान करता है और उनके जीवन को नियन्त्रित करता है। इस विषय में कोई बात युक्तिविरोधी भी नहीं है। सुतरां अप्राकृत होने के कारण ही इन घटनाओं के यथार्थ के सम्बन्ध में सन्देह करने का कोई कारण नहीं है।

किन्तु तो भी उन घटनाओं का विशेष उल्लेख इस ग्रन्थ में समीचीन नहीं समझा गया, क्योंकि वे सब उनके लौकिक ओर व्यावहारिक जीवन के अंग नहीं हैं। जिसने अप्राकृत रूप से नित्य प्रतिष्ठित रहते हुए भी एक धर्मनिष्ठ सद्गुण विशिष्ट प्राकृत मनुष्य के समान ही लौकिक जीवन में योगैश्वर्य का कोई परिचय नहीं

दिया, जिसने जीव प्रेम से परिपूर्ण होने पर भी प्रकट रूप से किसी अलौकिक शक्ति का विकाश करके जीव के दुःख दूर करने की कोई चेष्टा नहीं की, उसी महापुरुष की जीवनधारा की आलोचना के बीच उन गुप्त घटनाओं की प्रकट रूप से आलोचना न करना ही संगत है और उनके उपदेश के अनुकूल जान पड़ता है। विशेषतः वे सब घटनायें सर्वसाधारण के लिये हैं भी नहीं, वे तो विशेष अधिकार सम्पन्न भक्तों के लिये ही अभिप्रेत हैं। उन सब घटनाओं को साध् ाका के आध्यात्मिक जीवन की विशेष उपलब्धि के रूप माना ही समीचीन होगा।

शरण्य और शरणागत का सम्बन्ध

प्रपन्न शिष्य की आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में गुरु जिस प्रकार आत्मप्रकाश करता है गुरु शिष्य के परस्पर बीच में लोकचक्षु के अन्तराल में जिस प्रकार के गुह्य भावो का आदान–प्रदान होता है, वह सजातीय समभावसम्पन्न, अन्तरंग धर्मबन्धुओं के अतिरिक्त दूसरे किसी के समक्ष प्रकट करने योग्य नहीं होता। कोई धर्मपिपासु व्यक्ति जब अपनी सुप्त आध्यात्मिक शक्ति को उद्‌बुद्ध करने के लिय, विशेष महापुरुष प्रदर्शित साधन मार्ग का अवलम्बन करके आध्यात्मिक जीवन में अग्रसर होने के उद्देश्य से, किसी महापुरुष के शरणापन्न होता है, एवं वह महापुरुष जब दीक्षा प्रदान द्वारा अपनी आध्यात्मिक शक्ति को उस धर्मार्थी के हृदय में संक्रामित करके और उसके मानव–जीवन के चरमकल्याण का पथप्रदर्शन करके परिचालित करने का भार ग्रहण करके उसको शिष्य के रूप में स्वीकार करता है, तभी से उस शिष्य के लिये उक्त महापुरुष अन्य महापुरुषों के समान केवल मात्र एक महापुरुष अथवा ध् र्मोपदेश या लोकशिक्षक ही नहीं रहता, एवं उस महापुरुष के लिये भी उक्त शरणागत शिष्य अन्याय धर्मनिप्सु उपदेश प्रार्थियों में से ही एक नहा होता। इस दीक्षा कर्म के भीतर से गुरु और शिष्य के बीच

जो आध्यात्मिक सम्पर्क प्रतिष्ठित होता है, वह किसी प्रकार बाहर का सम्पर्क नहीं होता, एवं जगत में व्यक्तिगत भाव से किन्हीं दो व्यक्तियों के बीच जितने प्रकार के सम्बन्ध स्थापित हो सकते हैं, उनमें से किसी के भी साथ उस गुरु शिष्य सम्बन्ध की तुलना नहीं हो सकती। यह सम्पर्क पूर्णरूपेण भीतर का सम्पर्क होता है। शिष्य अपनी साधना के साथ–साथ अपने हृदय में गुरु की शक्ति का विशेष विशेष विकास और गुरु की विशेष विशेष लीला का अनुभव करता रहता है; गुरु भी अन्तर्यामी रूप से आत्मप्रकाश पूर्वक शिष्य की आधी शक्ति को कल्याण के पथ पर प्रवृत्त करते करते नये–नये रूपों में और नये–नये भावों में शिष्य के साथ लीला करता रहता हैं शिष्य का चित्त और हृदय गुरु का विशेष लीला क्षेत्र हो जाता है, उसी में प्रेम प्रधान महापुरुष के प्रेममय स्वभाव का असाधारण प्रकाश होता है। शिष्य के लिये गुरु करुणामय मोक्षदाता भगवान् से अभिन्न हो जाता है– अर्थात् स्थूल देह में प्रकट उन्हीं की मूर्ति होता है।

इस प्रकार की लीला महापुरुषों के विशेष कृपा प्राप्त शिष्यों के अतिरिक्त किसी दूसरे व्यक्ति की धारणा में सम्यक् रूपेण नहीं आ सकती। सद्गुरु के शिष्यों में भी एक शिष्य दूसरे शिष्य की असाधारण अभिज्ञता प्रायः नहीं समझ पाता। एकही महापुरुष अनेक समय विभिन्न स्वभावविशिष्ट शिष्यों के निकट भिन्न–भिन्न भावों में गुरुशक्ति का प्रकाश करता है। सुतरां ये सब विशेष विशेष भावों के खेल अर्थात् गुरु शक्ति की विचित्र लीलायें, महापुरुषों के साधारण जीवन धारा के अंग रूप में नहीं ग्रहण किये जाते। महापुरुषों का साधारण जीवन एक वस्तु है, और उनका विशेष गुरुभावमय जीवन सम्पूर्ण रूप से पृथक् वस्तु है। गुरु का विशेष जीवन एकमात्र अधिकारी शिष्य का ही आलोच्य, विचार्य और अनुसरणीय होता है। इसी कारण श्री श्री योगिराज गम्भीरनाथ प्रसंग सद्गुरु गम्भीरनाथ के विशेष गुरुभाव की लीला का यथासम्भव

वर्जन करके साधारण धर्मार्थी और तत्वजिज्ञासु लोकसमाज में एक परिपूर्ण मानव का स्पष्ट आलेख्य उपस्थित करने के लिये ही प्रकट हुआ है। प्रार्थना करता हूँ कि सद्‌गुरु शंकर प्रपन्न भक्तों के हृदय के मालिन्य को विधौत करके महापुरुष जीवन के जीवन्त आदर्श को उनके निकट प्रकट करें।

।। हरिः ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः हरिः ॐ।।

कायने वाचा मनसेन्द्रिययैश्च
सर्वात्मना ते चरणाश्रितेन।
लब्धः प्रसंगो भवतः प्रसादात्
तवत्पादपद्‌मे हि समर्प्यतेऽयम्।।

ॐ स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलःप्रसीदताम्
ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे
आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी।।

———————

दी इउरेका प्रिंटिंग वर्क्स – असुरन चुंगी, मेडिकल कॉलेज रोड, गोरखपुर ☎ : 2280979, 2335310, 2282309 मोबाईल : 3104883